ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—२

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत्सुधर्म-स्वामि-प्रणीत सप्तम अंग

उपासकदशांग सूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा ☐
उपप्रवर्तक शासनसेवी स्व० स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐
स्व० युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक ☐
डॉ. छगनलाल शास्त्री, एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, जैनोलोजी)
पी-एच. डी. काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि

प्रकाशक ☐
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

☐ निर्देशन
साध्वीश्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल

☐ सम्प्रेरक
मुनिश्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
प्रथम संस्करण : वीरनिर्वाण संवत् २५०७, ई. सन् १९८०
द्वितीय संस्करण : वीर निर्वाण सं० २५१५, ई. सन् १९८९

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
बृज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : 50/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled Seventh Anga

UPĀSAKADAŚĀNGA SŪTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotation and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor & Annotator
Dr. Chhaganlal Shastri, M A Ph. D

Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 3

Direction
Sadhvi Umravkunwar 'Archana'

Promotor
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti,
Brij-Madhukar Smriti-Bhawan, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

Printer
Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kaisarganj, Ajmer

Price : [illegible] 50/-

समर्पण

जिनका हृदय अलौकिक माधुर्य से आप्लावित है,

जिनकी वाणी मे अद्‌भुत ओज है, जिनकी कर्तृत्व-क्षमता अनूठी है,

उन्ही

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ के आधारस्तम्भ

श्रमणसूर्य कविवर्य महास्थविर मरुधरकेसरी प्रवर्त्तकवर्य

मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

के कर-कमलों मे

सादर, सविनय और सभक्ति।

☐ मधुकर मुनि

(प्रथम सस्करण से)

प्रकाशकीय

श्रमण भगवान् महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसग पर साहित्य प्रकाशन की एक नई उत्साहपूर्ण लहर उठी। भारत की प्राय: प्रत्येक प्रतिष्ठित प्रकाशन सस्थाओं ने अपने-अपने साधनों और समय के अनुरूप भगवान् महावीर से सम्बन्धित साहित्य प्रकाशित किया। इस प्रकार उस समय जैनधर्म-दर्शन और भगवान् महावीर के लोकोत्तर जीवन और उनकी कल्याणकारी शिक्षाओ से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन व प्रकाशन हुआ।

इसी प्रसग पर स्वर्गीय विद्वद्रत्न युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान् महावीर से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य प्रकाशित हो रहा है। यह तो ठीक किन्तु श्रमण भगवान् महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत-पावन वाणी के माध्यम से है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।

अर्थात जगत् के समस्त प्राणियो की रक्षा और दया के लिये ही भगवान् की धर्म-देशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव इस भगवद्वाणी का प्रचार व प्रसार करना प्राणिमात्र की दया का ही कार्य है। विश्वकल्याण के लिये इससे अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई कार्य नही हो सकता है। इसलिये उनकी मूल एव पवित्र वाणी जिन आगमो मे है, उन आगमो को सर्वसाधारण के लिये सुलभ कराया जाये।

युवाचार्यश्री जी ने कतिपय वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावको तथा विद्वानो के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे युवाचार्य श्री जी की भावना और आगमो के सपादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकडती गई। विवेकशील और साहित्यानुरागी श्रमण व श्रावक वर्ग ने इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना की।

इस प्रकार जब आगमप्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला तब युवाचार्य श्री जी के वि स. २०३५ के ब्यावर चातुर्मास मे समाज के अग्रगण्य श्रावको एव विद्वानों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूपरेखा पर विचार किया गया। योजना के प्रत्येक पहलू के बारे मे सुदीर्घ चिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को जो भगवान् महावीर के केवलज्ञान कल्याणक का शुभ दिन था, आगमबत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा कर दी और कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

कार्य की सफलता के लिये विद्वद्वर्ग का अपेक्षित सहयोग प्राप्त हुआ। विद्वज्जन तो ऐसे कार्यों को करने लिये तत्पर रहते ही हैं और ऐसे कार्यों को करके आत्मपरितोष्प की अनुभूति करते हैं, किन्तु श्रावक वर्ग ने भी तन-मन-धन से सहयोग देने की तत्परता व्यक्त कर व्यवस्थित कार्य

संचालन के लिये ब्यावर में 'श्री आगम प्रकाशन समिति' के नाम से संस्था स्थापित कर आवश्यक धनराशि की व्यवस्था कर दी।

प्रारम्भ में आचारांग आदि नामक्रमानुसार शास्त्रों को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु ऐसा अनुभव हुआ कि भगवती जैसे विशाल आगम का संपादन अनुवाद होने आदि मे बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमो के प्रकाशन को रोक रखने से समय भी अधिक लगेगा और पाठकवर्ग को सैद्धान्तिक बोध कराने के लिये योजना प्रारम्भ की है, वह उद्देश्य भी पूरा होने में विलम्ब होगा तथा यथाशीघ्र शुभ कार्य को सम्पन्न करना चाहिये। अतः यह निर्णय हुआ कि जो-जो शास्त्र तैयार होते जाये, उन्हे ही प्रकाशित कर दिया जाये।

जैसे-जैसे आगम ग्रन्थ प्रकाशित होते गये, वैसे-वैसे पाठकवर्ग भी विस्तृत होता गया एव अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों मे भी इन ग्रन्थों को निर्धारित किया गया। अतः पुनः यह निश्चय किया गया कि प्रथम सस्करण की प्रतियो के अप्राप्य हो जाने पर द्वितीय सस्करण भी प्रकाशित किये जायें, जिससे सभी पाठको को पूरी आगमबत्तीसी सदैव उपलब्ध होती रहे। एतदर्थ इस निर्णय-नुसार अभी आचारारसूत्र और उपासकदशागसूत्र के द्वितीय सस्करण प्रकाशित हो रहे हैं तथा ज्ञाताधर्मकथाग आदि सूत्र भी यथाशीघ्र प्रकाशित होंगे।

द्वितीय सस्करण के प्रकाशन में लागत व्यय की वृद्धि हो जाने पर भी ग्रन्थो के मूल्य में सामान्य वृद्धि की गई है।

अनेक प्रबुद्ध सन्तों, विद्वानो तथा समाज ने प्रस्तुत प्रकाशनों की प्रशंसा करके हमारे उत्साह का सवर्धन किया है और सहयोग दिया है, उसके लिये आभारी है तथा पाठकवर्ग से अपेक्षा है कि आगम साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार मे हमारे सहयोगी बने।

इसी आशा और विश्वास के साथ—

रतनचन्द मोदी	सायरमल चोरडिया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

(प्रथम संस्करण से)

जैनधर्म, दर्शन व सस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ—अर्थात् आत्मद्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते है। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्त्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते है। परमहितकारी निःश्रेयस् का यथार्थ उपदेश कर सकते है।

सर्वज्ञो द्वारा कथित तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम', शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरो की वाणी मुक्त सुमनो की वृष्टि के समान होती है, महान् प्रज्ञावान् गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे। 'गणिपिटक' में समग्र द्वादशागी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल मे इसके अग, उपाग आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नही थी, तब आगमो को स्मृति के आधार पर गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान् महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र ही रह गया था। तब देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रमणो का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया। वल्लभी [सौराष्ट्र] मे आचार्य देवर्द्धिगणी ने तथा मथुरा में आचार्य नागार्जुन ने जिनवाणी को पुस्तकारूढ करके आने वाली पीढी पर अवर्णनीय उपकार किया तथा जैन धर्म, दर्शन एव सस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत कार्य किया। आगमो का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ होने के बाद जैन आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एव प्रमाद आदि कारणो से आगम-ज्ञान की शुद्ध धारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणो से आगम-ज्ञान की धारा सकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवी शताब्दी में लौंकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद पुनः उसमे भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारो का अज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत विघ्न बन गए।

---

१ 'अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमों की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित होकर तथा उनके आधार पर आगमो का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओ में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान् भी आगमो का अनुशीलन करने लगे।

आगमो के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानो तथा मनीषी श्रमणो ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के महान् मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ संकल्पबली मुनि थे, जिन्होने अल्प साधनो के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रो को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक संकल्प

मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज के तत्त्वावधान में आगमो का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह सस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एव अब तक के उपलब्ध सस्करणो में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ मे व उसकी वृत्ति मे कही-कही अन्तर भी है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज स्वय जैन सूत्रों के प्रकाड पण्डित थे। उनकी मेधा बडी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगम-साहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हे बहुत पीडा होती और कई बार उन्होने व्यक्त भी किया कि आगमो का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगो का भला होगा। कुछ परिस्थितियो के कारण उनका सकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इस बीच आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज, पूज्य श्री घासीलालजी महाराज, आदि विद्वान् मुनियो ने आगमो की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर अथवा अपने तत्त्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगो में वर्गीकृत करने का मौलिक एव महत्त्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान् श्रमण स्व. मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तम कोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात् मुनि श्री जम्बूविजयजी के तत्त्वावधान में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम-वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय में चिन्तन प्रारम्भ किया था। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् गतवर्ष[1] दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथो में आगम ग्रन्थ क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्यस्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्यस्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज की प्रेरणाएँ, उनकी आगम-भक्ति तथा आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान मेरा सम्बल बना है। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओ की पुण्यस्मृति मे विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामीजी श्री ब्रजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवा-भावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्रमुनि का साहचर्य-बल, सेवा-सहयोग तथा विदुषी साध्वी श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने मे सहायक रही हैं।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियो, श्रावकों व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने मे गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ—

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

---

१. वि स २०३६, वैशाख शुक्ला १०, महावीर कैवल्यदिवस

प्रथम संस्करण के अर्थसहयोगी

स्व. श्रीमान् सेठ पुखराजजी शीशोदिया

(जीवन-रेखा)

सेठ पुखराजजी सा. शीशोदिया के व्यक्तित्व मे अनूठापन है। उनकी दृष्टि इतनी पैनी और व्यापक है कि वे अपने आसपास के समाज के एक प्रकार से सचालक और परामर्शदाता होकर रहते है। सभवत उन्हे जितनी चिन्ता अपने गार्हस्थिक कार्यों की रहती है उतनी ही दूसरे कार्यों की भी। श्री शीशोदियाजी के जीवन को देखकर सहसा ही प्राचीन काल के उन श्रावकों की सार्वजनिकता का स्मरण हो आता है जिनसे समाज का हर व्यक्ति सलाह व सरक्षण पाता था।

शीशोदियाजी का जन्म स० १९६८ मे मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन ब्यावर मे हुआ। पिताजी का नाम श्री हीरालालजी था। आपके पिताजी की आर्थिक स्थिति साधारण थी। शिक्षा भी वाणिज्य क्षेत्र तक सीमित थी। उन दिनो शिक्षा के आज की तरह प्रचुर साधन भी उप लब्ध नही थे। पिताजी आपके बाल्यकाल में ही स्वर्गवासी हो गये। इन सब कारणो से शीशोदियाजी को उच्चशिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नही हो सका। किन्तु शिक्षा का फल जिस योग्यता को प्राप्त करना है, और जिन शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक शक्तियो का विकास करना है, वह योग्यता और वे शक्तिया उन्हे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हैं। उनमे जन्मजात प्रतिभा है। उनकी प्रतिभा की परिधि बहुत विस्तृत है। व्यापारिक क्षेत्र मे तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो मे आपको जो सफलता प्राप्त हुई है उसमे आपके व्यक्तित्व की अन्यान्य विशिष्टताओ के साथ आपकी प्रतिभा का वैशिष्ट्य भी कारण है।

जिसकी आर्थिक स्थिति सामान्य हो और बाल्यावस्था मे ही जो पिता के सरक्षण से वचित हो जाय, उसकी स्थिति कितनी दयनीय हो सकती है, यह कल्पना करना कठिन नही है। किन्तु ऐसे विरल नरपुगव भी देखे जाते हैं जो बिना किसी के सहारे, बिना किसी के सहयोग और बिना किसी की सहायता के केवल मात्र अपने ही व्यक्तित्व के बल पर अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से और अपने ही बुद्धिकौशल से जीवन-विकास के पथ में आने वाली समस्त बाधाओ को कुचलते हुए आगे से आगे ही बढते जाते है और सफलता के शिखर पर जा पहुँचते है।

आपके पिताजी का स्वर्गवास सवत् १९८० मे हुआ। उस वक्त आपके परिवार मे दादाजी, माताजी व बहिन थी। पिताजी के स्वर्गवास के पश्चात् शीशोदियाजी के लिये सभी दिशाएँ अन्धकार से व्याप्त हो गई। मगर लाचारी, विवशता, दीनता और हीनता की भावना उनके निकट भी नही फटक सकी। यही नही परिस्थितियो की प्रतिकूलता ने आपके साहस, सकल्प और मनोबल को अधिक सुदृढ किया और आप कर्मभूमि के क्षेत्र मे उतर पडे। मात्र बारह वर्ष की उम्र मे आपने २००, दो सौ रुपया ऋण लेकर साधारण व्यवसाय प्रारभ किया। स्वल्प-सी पूजी और वह भी पराई, कितनी लगन और कितनी सावधानी उसे बढाने के लिये बरतनी पडी होगी और कितना श्रम करना पडा होगा, यह अनुमान करना भी कठिन है। मगर प्रबल इच्छाशक्ति और पुरुषार्थ के सामने सारी प्रतिकूलताए समाप्त हो जाती है और सफलता का सिहद्वार खुल जाता है, इस सत्य के प्रत्यक्ष उदाहरण शीशोदियाजी हैं।

आज शीशोदियाजी बडे लक्षाधीश हैं और नगर के गणमान्य व्यक्तियों में है। ब्यावर नगर आपके व्यवसाय का मुख्य केन्द्र है। ब्यावर के अलग-अलग बजारों में तीन दुकाने हैं। एक दुकान अजमेर में है। किशनगढ-मदनगज, विजयनगर और सोजत रोड मे भी आपकी दुकाने रह चुकी हैं। प्रमुख रूप से आप आढत का ही धधा करते हैं। आपका व्यापारिक क्षेत्र अधिकांश भारतवर्ष है।

आपके चार पुत्र हैं—श्री भवरलालजी, श्री जंवरीलालजी, श्री माणकचन्दजी और श्री मोतीलालजी। इन चार पुत्रो में से एक अध्ययन कर रहा है और तीन व्यापार कार्य मे हाथ बटा रहे हैं।

शीशोदियाजी का व्यापारिक कार्य इतना सुव्यवस्थित और सुचारु रहता है कि आपकी दुकान पर काम करने वाले भागीदारो तथा मुनीमो की भी नगर में कीमत बढ जाती है। आपके यहाँ कार्य करना व्यक्ति की एक बडी योग्यता (qualification) समझी जाती है। आपकी फर्मों से जो भी पार्टनर या मुनीम अलग हुए हैं, वे आज बडी शान व योग्यता से अपना अच्छा व्यवसाय चला रहे है। उन्होने भी व्यवसाय मे नाम कमाया है। ऐसी स्थिति में आपके सुपुत्र भी यदि व्यापारनिष्णात हो तो यह स्वाभाविक ही है। उन्होने आपका बहुत-सा उत्तरदायित्व सभाल लिया है। इसी कारण आपको सार्वजनिक, धार्मिक एव सामाजिक कार्यों के लिये अवकाश मिल जाता है।

नगर की अनेक सस्थाओ से आप जुडे हुए है। किसी के अध्यक्ष, किसी के कार्याध्यक्ष, किसी के उपाध्यक्ष, किसी के मत्री, किसी के कोषाध्यक्ष, किसी के सलाहकार व सदस्य आदि पदो पर रह कर सेवा कर रहे हैं तथा अनेको सस्थाओ की सेवा की है। मगर विशेषता यह है कि जिस सस्था का कार्यभार आप सभालते हैं उसे पूरी रुचि और लगन के साथ सम्पन्न करते हैं। श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, आगम प्रकाशन समिति, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन वीर सघ के तो आप प्रमुख आधार है। नगर की अन्य गोशाला, चेम्बर सर्राफान आदि आदि सस्थाओ को भी पूरा योगदान दे रहे है।

इस प्रकार शीशोदियाजी पूर्णरूप से आत्मनिर्मित एव आत्मप्रतिष्ठित सज्जन है। अपनी ही योग्यता और अध्यवसाय के बल पर आपने लाखो की सम्पत्ति उपार्जित की है। मगर सम्पत्ति उपार्जित करके ही आपने सन्तोष नही माना, वरन उसका सामाजिक एव धार्मिक कार्यों में सदुपयोग भी कर रहे है। एक लाख रुपयो से आपने एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त आपके पास से कभी कोई भी खाली हाथ नही जाता। आपने कई सस्थाओ की अच्छी खासी सहायता की है। आगम प्रकाशन समिति के आप महास्तम्भ है और कार्यवाहक अध्यक्ष की हैसियत से आपही उसका सचालन कर रहे है।

प्रस्तुत 'उपासकदशाग' सूत्र के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार समिति के कार्यवाहक अध्यक्ष श्री शीशोदियाजी ने ही वहन करके महत्त्वपूर्ण योग दिया है। समिति इस उदार सहयोग के लिये आपकी ऋणी है। □

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

धर्म का मुख्य आधार

किसी भी धर्म के चिर जीवन का मूल आधार उसका वाङ्मय है। वाङ्मय में वे सिद्धान्त सुरक्षित होते हैं, जिन पर धर्म का प्रासाद अवस्थित रहता है। शाखा-प्रशाखाओं की बात को छोड़ दें, भारतीय धर्मों में वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य है। वैदिकधर्म का मूल साहित्य वेद है, बौद्धधर्म का पिटक है, उसी प्रकार जैनधर्म का मूल साहित्य आगमो के रूप में उपलब्ध है।

आगम

आगम विशिष्ट ज्ञान के सूचक हैं, जो प्रत्यक्ष या तत्सदृश बोध से जुड़ा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—आवरक हेतुओ या कर्मों के अपगम से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध हो गया, अविसवादी हो गया, ऐसे आप्त पुरुषो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का सकलन आगम हैं।[1]

आगमो के रूप में जो प्रमुख साहित्य हमे आज प्राप्त हैं, वह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा भाषित और उनके प्रमुख शिष्यो—गणधरों द्वारा सग्रथित हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—"अर्हत् अर्थ भाषित करते हैं। गणधर धर्मशासन या धर्मसघ के हितार्थ निपुणतापूर्वक सूत्ररूप मे उसका ग्रथन करते हैं। यों सूत्र का प्रवर्तन होता है।"[2]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् महावीर ने जो भाव अपनी देशना मे व्यक्त किये, वे गणधरो द्वारा शब्दबद्ध किये गये।

आगमों की भाषा

वेदों की भाषा प्राचीन सस्कृत है, जिसे छन्दस् या वैदिकी कहा जाता है। बौद्धपिटक पाली में हैं, जो मागधी प्राकृत पर आधृत है। जैन आगमो की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है। अर्हत् इसी में अपनी धर्मदेशना देते हैं।

समवायाग सूत्र मे लिखा है—

"भगवान् अर्द्धमागधी भाषा मे धर्म का आख्यान करते हैं। भगवान् द्वारा भाषित अर्द्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृप—रेंगने वाले जीव आदि सभी की भाषा

---

१. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम: ।
उपचारादाप्तवचन च ॥ —प्रमाणनयतत्त्वालोक ४. १, २।

२. अत्थं भासइ अरहा, सुत्त गथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥—आवश्यकनिर्युक्ति ९२।

में परिणत हो जाती है; उनके लिए हितकर, कल्याणकर तथा सुखकर होती है ।"[1]

आचारांगचूर्णि मे भी इसी आशय का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि स्त्री, बालक वृद्ध, अनपढ़—सभी पर कृपा कर सब प्राणियों के प्रति समदर्शी महापुरुषो ने अर्द्धमागधी भाषा में सिद्धान्तों का उपदेश किया ।

अर्द्धमागधी प्राकृत का एक भेद है। दशवैकालिक वृत्ति में भगवान् के उपदेश का प्राकृत में होने का उल्लेख करते हुए पूर्वोक्त जैसा ही भाव व्यक्त किया गया है—

"चारित्र की कामना करने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध, मूर्ख—अनपढ़—सभी लोगों पर अनुग्रह करने के लिए तत्त्वद्रष्टाओं ने सिद्धान्त की रचना प्राकृत में की ।"[2]

अर्द्धमागधी

भगवान् महावीर का युग एक ऐसा समय था, जब धार्मिक जगत् में अनेक प्रकार के आग्रह बद्धमूल थे। उनमें भाषा का आग्रह भी एक था। संस्कृत धर्म-निरूपण की भाषा मानी जाती थी। सस्कृत का जन-साधारण में प्रचलन नही था। सामान्य जन उसे समझ नही सकते थे। साधारण जनता में उस समय बोलचाल में प्राकृतो का प्रचलन था। देश-भेद से उनके कई प्रकार थे, जिनमें मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची तथा महाराष्ट्री प्रमुख थी। पूर्व भारत में अर्द्धमागधी और मागधी तथा पश्चिम में शौरसेनी का प्रचलन था। उत्तर-पश्चिम पैशाची का क्षेत्र था। मध्य देश में महाराष्ट्री का प्रयोग होता था। शौरसेनी और मागधी के बीच के क्षेत्र में अर्द्धमागधी का प्रचलन था। यो अर्द्धमागधी, मागधी और शौरसेनी के बीच की भाषा सिद्ध होती है। अर्थात् इसका कुछ रूप मागधी जैसा और कुछ शौरसेनी जैसा है, अर्द्धमागधी—आधी मागधी ऐसा नाम पड़ने मे सम्भवत यही कारण रहा हो ।

मागधी के तीन मुख्य लक्षण है। वहाँ श, ष, स—तीनों के लिए केवल तालव्य श का प्रयोग होता है। र के स्थान पर ल आता है। अकारान्त सज्ञाओ में प्रथमा एक वचन में ए विभक्ति का उपयोग होता है। अर्द्धमागधी में इन तीन में लगभग आधे लक्षण मिलते हैं। तालव्य श का वहाँ बिलकुल प्रयोग नही होता। अकारान्त सज्ञाओ मे प्रथमा एक वचन मे ए का प्रयोग अधिकांश होता है। र के स्थान पर ल का प्रयोग कही-कही होता है ।

अर्द्धमागधी की विभक्ति-रचना मे एक विशेषता और है, वहाँ सप्तमी विभक्ति में ए और म्मि के साथ-साथ असि प्रत्यय का भी प्रयोग होता है जैसे-नयरे नयरम्मि, नयरसि ।

नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने औपपातिकसूत्र में जहाँ भगवान् महावीर की देशना के वर्णन के प्रसग मे अर्द्धमागधी भाषा का उल्लेख हुआ है, वहाँ अर्द्धमागधी को ऐसी भाषा

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहयभासत्ताए परिणमइ।
—समवायांगसूत्र ३४. २२. २३।

२. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥
—दशवैकालिक वृत्ति पृष्ठ २२३।

के रूप में व्याख्यात किया है, जिसमें मागधी मे प्रयुक्त होने वाले ल और श का कही-कही प्रयोग तथा प्राकृत का अधिकाशतः प्रयोग था ।[1]

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र की टीका मे भी उन्होने इसी प्रकार उल्लेख किया है कि अर्द्धमागधी में कुछ मागधी के तथा कुछ प्राकृत के लक्षण पाये जाते है ।

आचार्य अभयदेव ने प्राकृत का यहाँ सम्भवत· शौरसेनी के लिए प्रयोग किया है । उनके समय में शौरसेनी प्राकृत का अधिक प्रचलन रहा हो ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण मे अर्द्धमागधी को आर्ष [ऋषियो की भाषा] कहा है । उन्होंने लिखा है कि आर्षभाषा पर व्याकरण के सब नियम लागू नही होते, क्योकि उसमे बहुत से विकल्प हैं ।[2]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्द्धमागधी में दूसरी प्राकृतो का भी मिश्रण है ।

एक दूसरे प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अर्द्धमागधी के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है कि वह शौरसेनी के बहुत निकट है अर्थात् उसमे शौरसेनी के बहुत लक्षण प्राप्त होते है । इसका भी यही आशय है कि बहुत से लक्षण शौरसेनी के तथा कुछ लक्षण मागधी के मिलने से यह अर्द्धमागधी कहलाई ।

क्रमदीश्वर ने ऐसा उल्लेख किया है कि अर्द्धमागधी मे मागधी और महाराष्ट्री का मिश्रण है । इसका भी ऐसा ही फलित निकलता है कि अर्द्धमागधी मे मागधी के अतिरिक्त शौरसेनी का भी मिश्रण रहा है और महाराष्ट्री का भी रहा है । निशीथचूर्णि मे अर्द्धमागधी के सम्बन्ध मे उल्लेख है कि वह मगध के आधे भाग में बोली जाने वाली भाषा थी तथा उसमे अट्ठाईस देशी भाषाओ का मिश्रण था ।

इन वर्णनो से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्द्धमागधी उस समय प्राकृत-क्षेत्र की सम्पर्क-भाषा (Lingua-Franca) के रूप में प्रयुक्त थी, जो बाद में भी कुछ शताब्दियो तक चलती रही । कुछ विद्वानो के अनुसार अशोक के अभिलेखो की मूल भाषा यही थी, जिसको स्थानीय रूपो मे रूपान्तरित किया गया था ।[3]

भगवान् महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम ऐसी ही भाषा को लिया, जिस तक जन-साधारण की सीधी पहुँच हो । अर्द्धमागधी मे यह बात थी । प्राकृतभाषी क्षेत्रो के बच्चे, बूढे, स्त्रियाँ, शिक्षित, अशिक्षित—सभी उसे समझ सकते थे ।

---

१ अर्द्धमागहाए भासाए त्ति रसोर्लशौ मागध्यामित्यादि यन्मागधभाषालक्षण तेनापरिपूर्णा प्राकृतभाषालक्षणबहुला अर्द्धमागधीत्युच्यते । —उववाई सूत्र सटीक पृष्ठ २२४-२५ ।
(श्रीयुक्त राय धनपतिसिंह बहादुर आगम सग्रह जैन बुक सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित)

२. आर्ष—ऋषीणामिदमार्षम् । आर्ष प्राकृत बहुल भवति ।
तदपि यथास्थान दर्शयिष्याम । आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते ॥ —सिद्धहेमशब्दानुशासन ८ १ ३ ।

३ भाषाविज्ञान डॉ भोलानाथ तिवारी पृष्ठ १७८ ।
(प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद १९६१ ई)

अंग-साहित्य

गणधरो द्वारा भगवान् का उपदेश निम्नांकित बारह अगो के रूप में संग्रथित हुआ—

१. आचार, २. सूत्रकृत्, ३ स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७ उपासकदशा, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक, १२. दृष्टिवाद।

प्राचीनकाल मे शास्त्र-ज्ञान को कण्ठस्थ रखने की परम्परा थी। वेद, पिटक और आगम— ये तीनो ही कण्ठस्थ-परम्परा से चलते रहे। उस समय लोगो की स्मरणशक्ति, दैहिक सहनन, बल उत्कृष्ट था।

आगम-संकलन : प्रथम प्रयास

भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ५६० वर्ष पश्चात् तक आगम-ज्ञान की परम्परा यथावत् रूप मे गतिशील रही। उसके बाद एक विघ्न हुआ। मगध मे बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल की घटना है। जैन श्रमण इधर-उधर बिखर गये। अनेक काल-कवलित हो गये। जैन सघ को आगम-ज्ञान की सुरक्षा की चिन्ता हुई। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पाटलिपुत्र में आगमो को व्यवस्थित करने हेतु स्थूलभद्र के नेतृत्व में जैन साधुओ का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमे ग्यारह अगो का सकलन किया गया। बारहवा अग दृष्टिवाद किसी को भी स्मरण नही था। दृष्टिवाद के ज्ञाता केवल भद्रबाहु थे। वे उस समय नेपाल मे महाप्राणध्यान की साधना में लगे हुए थे। उनसे वह ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया गया। दृष्टिवाद के चवदह पूर्वों मे से दस पूर्व तक का अर्थ सहित ज्ञान स्थूलभद्र प्राप्त कर सके। चार पूर्वों का केवल पाठ उन्हे प्राप्त हुआ।

आगमो के सकलन का यह पहला प्रयास था। इसे आगमो की प्रथम वाचना या पाटलिपुत्र-वाचना कहा जाता है।

यो आगमो का सकलन तो कर लिया गया पर उन्हें सुरक्षित बनाये रखने का क्रम वही कण्ठाग्रता का ही रहा। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वेद जहाँ व्याकरणनिष्ठ सस्कृत में निबद्ध थे, जैन आगम लोक-भाषा मे निर्मित थे, जो व्याकरण के कठिन नियमो से नही बन्धी थी, इसलिए आनेवाले समय के साथ-साथ उनमे भाषा की दृष्टि से कुछ-कुछ परिवर्तन भी स्थान पाने लगा। वेदो में ऐसा सम्भव नही हो सका। इसका एक कारण और था, वेदों की शब्द-रचना को यथावत् रूप में बनाये रखने के लिए उनमे पाठ के सहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ—ये पॉच रूप रखे गये, जिनके कारण किसी भी मन्त्र का एक भी शब्द इधर से उधर नही हो सकता। आगमो के साथ ऐसी बात सम्भव नही थी।

द्वितीय प्रयास

भगवान् महावीर के निर्वाण के ८२७-८४० वर्ष के मध्य आगमो को सुव्यवस्थित करने का एक और प्रयत्न हुआ। उस समय भी पहले जैसा एक भयानक दुष्काल पडा था, जिसमें भिक्षा न मिलने के कारण अनेक जैन मुनि परलोकवासी हो गये। आगमो के अभ्यास का क्रम यथावत् रूप में चालू नही रहा। इसलिए वे विस्मृत होने लगे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व

में मथुरा में साधुओ का सम्मेलन हुआ। जिन जिन को जैसा स्मरण था, सकलित कर आगम सुव्यवस्थित किये गये। इसे माथुरी वाचना कहा जाता है। आगम-सकलन का यह दूसरा प्रयास था।

इसी समय के आसपास सौराष्ट्र के अन्तर्गत वलभी मे नागार्जुन सूरि के नेतृत्व मे भी साधुओं का वैसा ही सम्मेलन हुआ, जिसमें आगम-सकलन का प्रयास हुआ। यह उपर्युक्त दूसरे प्रयत्न या वाचना के अन्तर्गत ही आता है। वैसे इसे वलभी की प्रथम वाचना भी कहा जाता है।

तृतीय प्रयास

अब तक वही कण्ठस्थ क्रम ही चलता रहा था। आगे, इसमे कुछ कठिनाई अनुभव होने लगी। लोगो की स्मृति पहले से दुर्बल हो गई, दैहिक सहनन भी वैसा नही रहा। अत. उतने विशाल ज्ञान को स्मृति मे बनाये रखना कठिन प्रतीत होने लगा। आगम विस्मृत होने लगे। अत. पूर्वोक्त दूसरे प्रयत्न के पश्चात् भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के बाद वलभी में देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण के नेतृत्व मे पुन श्रमणो का सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में उपस्थित श्रमणो के समक्ष पिछली दो वाचनाओ का सन्दर्भ विद्यमान था। उस परिपार्श्व में उन्होने अपनी स्मृति के अनुसार आगमो का सकलन किया। मुख्य आधार के रूप मे उन्होने माथुरी वाचना को रखा। विभिन्न श्रमण-सघो मे प्रवृत्त पाठान्तर, वाचना-भेद आदि का समन्वय किया। इस सम्मेलन में आगमो को लिपिबद्ध किया गया, ताकि आगे उनका एक सुनिश्चित रूप सबको प्राप्त रहे। प्रयत्न के बावजूद जिन पाठो का समन्वय सभव नही हुआ, वहाँ वाचनान्तर का सकेत किया गया। बारहवा अग दृष्टिवाद सकलित नही किया जा सका, क्योकि वह श्रमणो को उपस्थित नही था। इसलिए उसका विच्छेद घोषित कर दिया गया। जैन आगमो के सकलन के प्रयास में यह तीसरी या अन्तिम वाचना थी। इसे द्वितीय वलभी वाचना भी कहा जाता है। वर्तमान मे उपलब्ध जैन आगम इसी वाचना मे सकलित आगमो का रूप है।

उपलब्ध आगम जैनो की श्वेताम्बर-परम्परा द्वारा मान्य है। दिगम्बर-परम्परा मे इनकी प्रामाणिकता स्वीकृत नही है। वहाँ ऐसी मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अग-साहित्य का विलोप हो गया। महावीर-भाषित सिद्धान्तो के सीधे शब्द-समवाय के रूप मे वे किसी ग्रन्थ को स्वीकार नही करते। उनकी मान्यतानुसार ईसा प्रारभिक शती में धरसेन नामक आचार्य को दृष्टिवाद अग के पूर्वगत ग्रन्थ का कुछ अश उपस्थित था। वे गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में रहते थे। उन्होने वहाँ दो प्रज्ञाशील मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि को अपना ज्ञान लिपिबद्ध करा दिया। यह षट्खण्डागम के नाम से प्रसिद्ध है। दिगम्बर-परम्परा मे इनका आगमवत् आदर है। दोनो मुनियो ने लिपिबद्ध षट्खण्डागम ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी को सघ के समक्ष प्रस्तुत किये। उस दिन को श्रुत के प्रकाश मे आने का महत्त्वपूर्ण दिन माना गया। उसकी श्रुत-पञ्चमी के नाम से प्रसिद्धि हो गई। श्रुत-पञ्चमी दिगम्बर-सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक पर्व है।

ऊपर जिन आगमो के सन्दर्भ मे विवेचन किया गया है, श्वेताम्बर-परम्परा मे उनकी सख्या के सम्बन्ध में ऐकमत्य नही है। उनकी ८४, ४५ तथा ३२-यो तीन प्रकार की सख्याए मानी जाती हैं। श्वेताम्बर मन्दिर-मार्गी सम्प्रदाय मे ८४ और ४५ की सख्या की भिन्न-भिन्न रूप मे मान्यता है। श्वेताम्बर स्थानकवासी तथा तेरापथी जो अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय हैं, मे ३२ की संख्या स्वीकृत है, जो इस प्रकार है :—

११ अग—आचार, सूत्रकृत्, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक ।

१२ उपांग—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावली, कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा ।

४ छेद—व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध ।

४ मूल—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोगद्वार ।

१ आवश्यक ।

कुल ३२

यों ग्यारह अग तथा इक्कीस अगबाह्य कुल बत्तीस होते है ।

चार अनुयोग

व्याख्याक्रम, विषयगत भेद आदि की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमो को चार भागो में वर्गीकृत किया, जो अनुयोग कहलाते हैं । ये इस प्रकार है—

१. चरणकरणानुयोग—इसमें आत्मविकास के मूलगुण—आचार, व्रत, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्य,तप, कषाय-निग्रह आदि तथा उत्तरगुण—पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्रतिलेखन, गुप्ति तथा अभिग्रह आदि का विवेचन है ।

२ धर्मकथानुयोग—इसमे दया, दान, शील, क्षमा, आर्जव, मार्दव आदि धर्म के अगों का विवेचन है । इसके लिए विशेष रूप से आख्यानो या कथानको का आधार लिया गया है ।

३. गणितानुयोग—इसमे गणितसम्बन्धी या गणित पर आधृत वर्णन की मुख्यता है ।

४ द्रव्यानुयोग—इसमें जीव, अजीव आदि छह द्रव्यो या नौ तत्त्वो का विस्तृत व सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण है ।

पूर्वोक्त ३२ आगमो का इन ४ अनुयोगो में इस प्रकार समावेश किया जा सकता है :—

चरणकरणानुयोग मे आचारांग तथा प्रश्नव्याकरण ये दो अगसूत्र, दशवैकालिक—यह एक मूलसूत्र, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प एव दशाश्रुतस्कध—ये चार छेदसूत्र तथा आवश्यक यो कुल आठ सूत्र आते हैं ।

धर्मकथानुयोग मे ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा तथा विपाक—ये पाच अगसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका व वृष्णिदशा ये सात उपांगसूत्र एव उत्तराध्ययन—यह एक मूलसूत्र यों कुल तेरह सूत्र आते हैं ।

गणितानुयोग में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्यप्रज्ञप्ति—ये तीन उपागसूत्र आते हैं ।

द्रव्यानुयोग में सूत्रकृत्, स्थान, समवाय तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति—ये चार अंगसूत्र, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना—ये दो उपांगसूत्र एवं नन्दी व अनुयोगद्वार, ये दो मूलसूत्र—यों कुल आठ सूत्र आते हैं ।

प्रस्तुत विवेचन के परिपार्श्व मे उपासकदशा धर्मकथानुयोग का भाग है। इसके नामसे प्रकट है, इसमें उपासको या श्रावको के कथानक हैं।

जैनधर्म में साधना की दृष्टि से श्रमण-धर्म तथा श्रमणोपासक-धर्म के रूप में दो प्रकार से विभाजन किया गया है। श्रमण शब्द साधु या सर्वत्यागी सयमी के अर्थ मे प्रयुक्त है। श्रमण के लिए आत्मसाधना ही सर्वस्व है। दैहिक जीवन का निर्वाह होता है, यह एक बात है पर साधना की कीमत पर श्रमण वैसा नही कर सकता। शरीर चला जाए, यह उसे स्वीकार होता है पर साधना में जरा भी आच आए, यह वह किसी भी दशा मे स्वीकार नही करता। यही कारण है कि उसकी व्रताराधना-सयमपालन मे विकल्प का स्थान नही है। जिस दिन वह श्रमण-जीवन में आता है, "सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि" अर्थात् आज से सभी सावद्य-पापसहित योगो—मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्तियो का त्याग करता हूँ, इस सकल्प के साथ आता है। वह मन, वचन, काय—इन तीना योगो तथा कृत, कारित, अनुमोदित—इन तीनो करणो द्वारा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह से सर्वथा विरत हो जाता है। वह न कभी हिंसा करता है, न करवाता है, न अनुमोदन करता है। ऐसा वह मन से सोचता नही, वचन से बोलता नही। सभी व्रतो पर यही क्रम लागू होता है। अपवाद या विकल्पशून्य होने से यहाँ व्रत महाव्रतो की सज्ञा ले लेते है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी उन यमो या व्रतो को जिनमे जाति, देश, काल, समय आदि की सीमा नही होती, जो सार्वभौम—सब अवस्थाओ मे पालन करने-योग्य होते है अर्थात् जहाँ किसी भी प्रकार का अपवाद स्वीकृत नही है, महाव्रत कहा है।[1]

गृही उपासक का साधनाक्रम

महाव्रतो की समग्र, परिपूर्ण या निरपवाद आराधना हर किसी के लिए शक्य नही है। कुछ ही दृढचेता, आत्मबली और सस्कारी पुरुष ऐसे होते है, जो इसे साध सकने में समर्थ हो।

महाव्रतो की साधना की अपेक्षा हलका, सुकर एक और मार्ग है, जिसमें साधक अपनी शक्ति के अनुसार ससीम रूप मे व्रत स्वीकार करता है। ऐसे साधक के लिए जैन शास्त्रो मे श्रमणोपासक शब्द का व्यवहार है। श्रमण और उपासक— ये दो शब्द इसमे हैं। उपासक का शाब्दिक अर्थ उप-समीप बैठने वाला[2] है। जो श्रमण की सन्निधि में बैठता है अर्थात् श्रमण से सद् ज्ञान तथा व्रत स्वीकार करता है, उसके महाव्रतमय जीवन से अनुप्राणित होकर स्वय भी साधना या उपासना के पथ पर आरूढ होता है, वह श्रमणोपासक है। उपासना या आराधना के सधने का मार्ग यही है। केवल कुछ पढ लेने से, सुन लेने से जीवन बदल जाय, यह सभव नही होता। साधनामय, महाव्रतमय—उच्च साधनामय जीवन का सान्निध्य, दर्शन—व्यक्ति के मन मे एक लगन और टीस पैदा करते हैं, उस ओर बढने की। अत गृही साधक के लिए जो श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ, वह वास्तव मे बडा अर्थपूर्ण है।

ऐसे ही सन्दर्भ मे छान्दोग्योपनिषद् मे बडी सुन्दर व्याख्या है। वहाँ लिखा है—

१ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।—पातञ्जलयोगदर्शन साधनपाद ३१

२. उप—समीपे, आस्ते—इत्युपासक।

"साधनोद्यत व्यक्ति मे जब बल जागरित होता है, वह उठता है अर्थात् भीतरी तैयारी करता है। उठकर परिचरण करता है—आत्मबल सजोकर उस ओर गतिमान् होता है। फिर वह गुरु के समीप बैठता है, उनका जीवन देखता है, उनसे [धर्म-तत्त्व का] श्रवण करता है, सुने हुए पर मनन करता है, उद्बुद्ध होता है और जीवन मे तदनुरूप आचरण करता है, ऐसा होने पर ज्ञात को आचरित कर वह विज्ञाता—विशिष्ट ज्ञाता कहा जाता है।"[1]

उपनिषत्कार ने साधना के फलित होने का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। श्रमणोपासक की भी भूमिका लगभग ऐसी ही होती है। केवल श्रमण के पास बैठने से वह श्रमणोपासक नही बन जाता, न वह सुनने मात्र से ही वैसा हो जाता है, श्रमणोपासकत्व का तो यथार्थ क्रियान्वयन तब होता है, जब वह असत् से विरत होता है, सत् में अनुरत होता है। जैन पारिभाषिक शब्दावली मे वह सम्यक् ज्ञानपूर्वक सावद्य का प्रत्याख्यान करता है, व्रत स्वीकार करता है।

श्रमणोपासक के लिए एक दूसरा शब्द श्रावक है। यह शब्द 'श्रु' धातु से बना है। श्रावक का अर्थ सुननेवाला है। यहाँ श्रावक—सुननेवाला लाक्षणिक शब्द है। श्रमण का उपदेश सुन लेने से वह श्रोता तो होता है पर श्रावक नही हो जाता। उसे श्रावक सज्ञा तभी प्राप्त होती है, जब वह व्रत अगीकार करता है।

श्रावक के व्रत : एक मनोवैज्ञानिक क्रम

जैनधर्म में श्रमणोपासक या श्रावक के व्रत-स्वीकार का क्रम भी बडा वैज्ञानिक है। वह अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का स्वीकार तो करता है पर सीमित रूप मे। अर्थात् अपने मे जितना आत्मबल और सामर्थ्य सजो पाता है, तदनुरूप कुछ अपवादो के साथ वह इन व्रतो को ग्रहण करता है। यो श्रावक द्वारा स्वीकार किये जाने वाले व्रत श्रमण के व्रतो से परिपालन की दृष्टि से न्यून या छोटे होते है, इसलिए उन्हे अणुव्रत कहा जाता है। व्रत अपने आपमे महत् या अणु नही होता। महत् या अणु विशेषण व्रत के साथ पालक की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते है। जैसा ऊपर कहा गया है, जहाँ साधक अपने आत्मबल मे कमी या न्यूनता नही देखता, वह सम्पूर्ण रूप में, सर्वथा व्रत-पालन मे उद्यत रहता है। यह महान् कार्य है। इसीलिए उसके व्रत महाव्रत की सज्ञा पा लेते है। सीमा और अपवादो के साथ जहाँ साधक व्रत का पालन करता है, वहाँ उस द्वारा व्रत का पालन—अनुसरण न्यून या छोटा है, उस कारण व्रत के साथ अणु जुड़ जाता है।

एक बहुत बडी विशेषता जैनधर्म की यह है कि श्रावको के व्रतो मे अपवादो का कोई इत्थभूत एक रूप नही है। एक ही अहिसाव्रत अनेक आराधको द्वारा अनेक प्रकार के अपवादो के साथ स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न व्यक्तियो की क्षमताए, सामर्थ्य विविध प्रकार का होता है। उत्साह, आत्मबल, पराक्रम एक जैसा नही होता। अनगिनत व्यक्तियो मे वह अपने-अपने क्षयोपशम के अनुरूप अनगिनत प्रकार का हो सकता है। अतएव अपवाद स्वीकार करने में व्यक्ति

---

१. स यदा बली भवति, अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति।

—छान्दोग्योपनिषद् ७.८.१

का अपना स्वातन्त्र्य है। उस पर अपवाद बलात् आरोपित नही किये जा सकते। इससे कम, अधिक-सभी तरह की शक्ति वाले साधनोत्सुक व्यक्तियों को साधना मे आने का अवसर मिल जाता है। फिर धीरे-धीरे साधक अपनी शक्ति को बढाता हुआ आगे बढता जाता है। अपवादो को कम करता जाता है। वैसा करते-करते वह श्रमणोपासक की भूमिका मे श्रमणभूत—श्रमणसदृश तक बन सकता है। यह गहरा मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आगे बढ़ना, प्रगति करना जैसा अप्रतिबद्ध और निर्द्वन्द्व मानस से सधता है, वैसा प्रतिबद्ध और निगृहीत मानस से नही सध सकता। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि गृही की साधना में जैन धर्म की यह पद्धति नि सन्देह बेजोड है। अतिचार-वर्जन आदि द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिकता और गहरी हो जाती है, जिससे व्रती जीवन का एक सार्वजनीन पवित्र रूप निखार पाता है।

उपासकदशा : प्रेरक विषयवस्तु

उपासकदशा अगसूत्रो मे एकमात्र ऐसा सूत्र है, जिसमें सम्पूर्णतया श्रमणोपासक या श्रावक-जीवन की चर्चा है। भगवान् महावीर के समसामयिक आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कु डकौलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिता—इन दस श्रमणोपासको के जीवन का इसमें चित्रण है। भगवान् महावीर के ये प्रमुख श्रावक थे।

समृद्ध जीवन: ऐहिक भी : पारलौकिक भी

उपासकदशा के पहले अध्ययन मे आनन्द नामक श्रावक के उपासनामय जीवन का लेखा-जोखा है। विविध प्रसगों में आये वर्णन से स्पष्ट है कि तब भारत की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। आनन्द तथा प्रस्तुत सूत्र मे वर्णित अन्य श्रावको के वैभव के जो आँकडे दिये है, वे सहसा कपोलकल्पित-से लगते हैं पर वस्तुस्थिति वैसी नही है। वास्तव मे विशालभूमि, बृहत् पशुधन, अपेक्षाकृत कम जनसख्या आदि के कारण 'कुछ एक' वैसे विशिष्ट धनी भी होते थे। धन की मूल्यवत्ता अक्सर स्वर्णमुद्राओं मे आकी जाती थी।

ऐसा लगता है, उस समय के समृद्धिशाली जनो का मानस उत्तरोत्तर सम्पत्ति बढाते रहने की लालसा मे अपनी निश्चिन्तता खोना नही चाहता था। ऐसी वृद्धि मे उनका विश्वास नही था, जो कभी सब कुछ ही विलुप्त कर दे। इसलिए यहाँ वर्णित दसो श्रमणोपासकों के सुरक्षित निधि (Reserve fund) के रूप मे उनकी पू जी का तृतीयाश पृथक् रखा रहता था। घर के परिवार के उपयोग हेतु दैनन्दिन सामान, साधन, सामग्री आदि में भी अपनी सम्पत्ति का तृतीयाश वे लगाये रहते थे। वहाँ उपयोगिता, सुविधा तथा शान या प्रतिष्ठा का भाव भी था। दान, भोग और नाश—धन की इन तीनो गतियो से वे अभिज्ञ थे, इसलिए समुचित भोग में भी उनकी रुचि थी। तृतीयाश व्यापार में लगा रहता था। व्यापार मे कदाचित् हानि भी हो जाए, सारी पू जी चली जाए तो भी उनका प्रशस्त एव प्रतिष्ठापन्न व्यवस्थाक्रम टूटता नही था। इसलिए उनके जीवन में एक निश्चिन्तता और अनाकुलता का भाव था। तभी यह सम्भव हो सका कि उन्होने श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन और सान्निध्य का लाभ प्राप्त कर अपना जीवन भोग से त्याग की ओर मोड़ दिया।

आत्मप्रेरणा से अनुप्राणित होकर व्यक्ति जब त्यागमय जीवन स्वीकार करता है तो उसे जैसे भोग में आनन्द आता था, त्याग में आनन्द आने लगता है और विशेषता यह है कि यह आनन्द

पवित्र, स्वस्थ एवं श्रेयस्कर होता है। सहसा आश्चर्य होता है, आनन्द तथा दूसरे श्रमणोपासकों के अत्यन्त समृद्धि और सुखसुविधामय जीवन को एक ओर देखते हैं, दूसरी ओर यह देखते हैं, जब वे त्याग के पथ पर आगे बढते हैं तो उधर इतने तन्मय हो जाते हैं कि भोग स्वय छूटते जाते हैं। देह अस्थि-कंकाल बन जाता है, पर वे परम परितुष्ट और प्रहृष्ट रहते हैं। त्याग के रस की अनुभूति के बिना यह कभी सम्भव नही हो पाता।

एक अद्भुत घटना : सत्य की गरिमा

आनन्द के जीवन की एक घटना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। तपश्चरण एवं साधना के फलस्वरूप अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आनन्द अवधिज्ञानी हो जाता है। भगवान् महावीर के प्रमुख अन्तेवासी गौतम से अवधिज्ञान की सीमा के सम्बन्ध में हुए वार्तालाप में एक विवादास्पद प्रसग बन जाता है। भगवान् महावीर आनन्द के मन्तव्य को ठीक बतलाते हैं। गौतम आनन्द के पास आकर क्षमा-याचना करते हैं। बडा उद्बोधक प्रसग यह है। आनन्द एक गृही साधक था। गौतम भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो मे सबसे मुख्य थे। पर, कितनी ऋजुता और अहकार-शून्यता का भाव उनमें था। वे प्रसन्नतापूर्वक अपने अनुयायी—अपने उपासक से क्षमा मागते हैं। जैनदर्शन का कितना ऊँचा आदर्श यह है, व्यक्ति बडा नही, सत्य बडा है। सत्य के प्रति हर किसी को अभिनत होना ही चाहिए। इससे फलित और निकलता है, साधना के मार्ग में एक गृही भी बहुत आगे बढ सकता है क्योंकि साधना के उत्कर्ष का आधार आत्मपरिणामो की विशुद्धता है। उसे जो जितना साध ले, वह उतना ही ऊर्ध्वगमन कर सकता है।

साधना की कसौटी

श्रेयासि बहुविघ्नानि—श्रेयस्कर कार्यों मे अनेक विघ्न आते ही है, अक्सर यह देखते हैं, पढते है।

प्रस्तुत आगम के दस उपासको मे से छह के जीवन मे उपसर्ग या विघ्न आये। उनमे से चार अन्तत विघ्नो से विचलित हुए पर तत्काल सम्हल गये। दो सर्वथा अविचल और अडोल रहे। उपसर्ग अनुकूल-प्रतिकूल या मोहक-ध्वसक—दोनो प्रकार के ही होते हैं।

दूसरे अध्ययन का प्रसग है, श्रमणोपासक कामदेव पोषधशाला मे साधनारत था। एक देव ने उसे विचलित करने के लिए उसके शरीर के टुकडे-टुकडे कर डाले। उसके पुत्रो की नृशस हत्या कर डाली पर वह दृढचेता उपासक तिलमात्र भी विचलित नही हुआ। यद्यपि यह देव की विक्रियाजन्य माया थी पर कामदेव को तो यथार्थ भासित हो रही थी। मनुष्य किसी भी कार्य में तब तक सुदृढ रह सकता है, जब तक उसके सामने मौत का भय न आए। पर, कामदेव ने दैहिक विध्वस की परवाह नही की। तब देव ने उसके हृदय के कोमलतम अश का सस्पर्श किया। पिता को पुत्रों से बहुत प्यार होता है। जिनके पुत्र नही होता, वे उसके लिए तड़फते रहते हैं। कामदेव के सामने उसके देखते-देखते तीनों पुत्रो की हत्या कर दी गई पर वह आत्मबली साधक निष्प्रकम्प रहा। तभी तो भगवान् महावीर ने साधु-साध्वियों के समक्ष एक उदाहरण के रूप में उसे प्रस्तुत किया। जो भीषण विघ्न-बाधाओ के बावजूद धर्म में सुदृढ बना रहता है, वह निश्चय ही औरो के लिए आदर्श है।

तीसरे अध्ययन में चुलनीपिता का प्रसग है। चुलनीपिता को भी ऐसे ही विघ्न का सामना करना पड़ा। पुत्रो की हत्या से तो वह अविचल रहा पर देव ने जब उसकी पूजनीया माँ की हत्या की धमकी दी तो वह विचलित हो गया। माँ के प्रति रही अपनी ममता वह जीत नही सका। वह तो अध्यात्म की ऊँची साधना में था, जहाँ ऐसी ममता बाधा नही बननी चाहिए, पर बनी। चुलनीपिता भूल का प्रायश्चित्त कर शुद्ध हुआ।

चौथे अध्ययन मे श्रमणोपासक सुरादेव का कथानक है। उसकी साधना में भी विघ्न आया। पुत्रों की हत्या से उपसर्गकारी देव ने जब उसे अप्रभावित देखा तो उसने उसके शरीर में भीषण सोलह रोग उत्पन्न कर देने की धमकी दी। मनुष्य मौत को स्वीकार कर सकता है, पर अत्यन्त भयानक रोगो से जर्जर देह उसके लिए मौत से कही अधिक भयावह बन जाती है, सुरादेव के साथ भी यही घटित हुआ। उसका व्रत भग्न हो गया। उसने आत्म-परिष्कार किया।

पाचवें अध्ययन में चुल्लशतक सम्पत्ति-नाश की धमकी से व्रत-च्युत हुआ। कुछ लोगो के लिए धन पुत्र, माता, प्राण—इन सबसे प्यारा होता है। वे और सब सह लेते हैं पर धन के विनाश की आशका उन्हे अत्यन्त आतुर तथा आकुल बना देती है। चुल्लशतक तीनो पुत्रो की हत्या तक चुप रहा पर आलभिका [नगरी] की गली-गली मे उसकी सम्पत्ति बिखेर देने की बात से वह काप गया।

सातवें अध्ययन में सकडालपुत्र का कथानक है। वह भी पुत्रो की हत्या तक तो अविचल रहा पर उसकी पत्नी अग्निमित्रा जो न केवल गृहस्वामिनी थी, उसके धार्मिक जीवन मे अनन्य सहयोगिनी भी थी, की हत्या की धमकी जब सामने आई तो वह हिम्मत छोड बैठा।

यहाँ एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने मन मे रही किसी दुर्बलता के कारण एक बार स्थानच्युत होकर पुन· आत्मपरिष्कार कर, प्रायश्चित कर, शुद्ध होकर ध्येयनिष्ठ बन जाय तो वह भूल फिर नही रहती। भूल होना असभव नही है पर भूल हो जाने पर उसे समझ लेना, उसके लिए अन्तर्-खेद अनुभव करना, फिर अपने स्वीकृत साधना-पथ पर गतिमान् हो जाना---यह व्यक्तित्व की उच्चता का चिह्न है। छओ उपासको के भूल के प्रसग इसी प्रकार के हैं। जीवन मे अवशिष्ट रही ममता, आसक्ति आदि के कारण उनमें विचलन तो आया पर वह टिक नही पाया।

आठवें अध्ययन मे श्रमणोपासक महाशतक के सामने एक विचित्र अनुकूल विघ्न आता है। उसकी प्रमुख पत्नी रेवती, जो घोर मद्य-मास-लोलुप-और कामुक थी, पोषधशाला मे पोषध और ध्यान में स्थित पति को विचलित करना चाहती है। एक ओर त्याग का तीव्र ज्योतिर्मय सूर्य था, दूसरी ओर पाप की कालिमामयी तमिस्रा। त्याग की ज्योति को ग्रसने के लिए कालिमा खूब झपटी पर वह सर्वथा अकृतकार्य रही। रेवती महाशतक को नही डिगा सकी। पर, एक छोटी-सी भूल महाशतक से तब बनी। रेवती की दुश्चेष्टाओ से उसके मन मे क्रोध का भाव पैदा हुआ। उसे अवधिज्ञान प्राप्त था। रेवती की सात दिन के भीतर भीषण रोग, पीडा एव वेदना के साथ होने वाली मृत्यु की भविष्यवाणी उसने अपने अवधिज्ञान के सहारे कर दी। मृत्यु के भय से रेवती अत्यन्त मर्माहत और भयभीत हो गई। भविष्यवाणी यद्यपि सर्वथा सत्य थी पर सत्य भी सब स्थितियो में व्यक्त किया जाए, यह वाछनीय नही है। जो सत्य दूसरो के मन मे भय और आतक उत्पन्न कर दे, वक्ता को वह बोलने में विशेष विचार तथा सकोच करना होता है। इसलिए भगवान् महावीर ने

अपने प्रमुख अन्तेवासी गौतम को भेजकर महाशतक को सावधान किया। महाशतक पुनः आत्मस्थ हुआ।

छठे अध्ययन का चरितनायक कुण्डकौलिक एक तत्त्वनिष्णात श्रावक के रूप में चित्रित किया गया है। एक देव और कुण्डकौलिक के बीच नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद पर चर्चा होती है। कुण्डकौलिक के न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त प्रतिपादन से देव निरुत्तर हो जाता है। भगवान् महावीर विज्ञ कुण्डकौलिक का नाम श्रमण-श्रमणियो के समक्ष एक उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। कुण्डकौलिक का जीवन श्रावक-श्राविकाओं के लिए तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने हेतु एक प्रेरणा-स्पद उदाहरण है।

यथार्थ की ओर रुझान

उपासकदशा के दसो अध्ययनों के चरितनायको का लौकिक जीवन अत्यन्त सुखमय था। उन्हे सभी भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रचुर और पर्याप्त रूप मे प्राप्त थी। यदि यही जीवन का प्राप्य होता तो उनके लिए और कुछ करणीय रह ही नहीं जाता। क्यो वे अपने प्राप्त सुखों को घटाते-घटाते बिलकुल मिटा देते? पर वे विवेकशील थे। भौतिक सुखो की नश्वरता को जानते थे। अतः जीवन का यथार्थ प्राप्य, जिसे पाए बिना और सब कुछ पा लेना अन्तर्विडम्बना के अतिरिक्त और कुछ होना नही, को प्राप्त करने की मानव में जो एक अव्यक्त उत्कण्ठा होती है, वह उन सबमे तत्क्षण जाग उठती है, ज्यो ही उन्हे भगवान् महावीर का सान्निध्य प्राप्त होता है। जागरित उत्कण्ठा जब क्रियान्विति के मार्ग पर आगे बढी तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और उन साधकों के जीवन में एक ऐसा समय आया, जब वे देहसुख को मानो सर्वथा भूल गये। त्याग में, आत्मस्वरूप के अधिगम में अपने आपको उन्होने इतना खो दिया कि अत्यन्त कृश और क्षीण होते जाते अपने शरीर की भी उन्हें चिन्ता नही रही। भोग का त्याग मे यह सुखद पर्यवसान था। साधारणतया जीवन मे ऐसा सध पाना बहुत कठिन लगता है। सुख-सुविधा और अनुकूलता के वातावरण में पला मानव उन्हे छोडने की बात सुनते ही घबरा उठता है। पर, यह दुर्बलचेता पुरुषो की बात है। उपनिषद् के ऋषि ने 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य.' यह जो कहा है, बडा मार्मिक है। बलहीन—अन्तर्बलरहित व्यक्ति आत्मा को उपलब्ध नही कर सकता। पर, बलशील—अन्त.पराक्रमशाली पुरुष वह सब सहज ही कर डालता है,जिससे दुर्बल जन कॉप उठते है।

सामाजिक दायित्व से मुक्ति : अवकाश

मनुष्य जीवन भर अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा लौकिक दायित्वो के निर्वाह में ही लगा रहे, भारतीय चिन्तनधारा में यह स्वीकृत नही है। वहाँ यह वाञ्छनीय है कि जब पुत्र घर का, परिवार का, सामाजिक सम्बन्धो का दायित्व निभाने योग्य हो जाएँ, व्यक्ति अपने जीवन का अन्तिम भाग आत्मा के चिन्तन, मनन, अनुशीलन आदि में लगाए। वैदिकधर्म में इसके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास—यो चार आश्रमों का क्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन और योग्यता-सपादन का काल है। गृहस्थाश्रम सासारिक उत्तरदायित्व-निर्वाह का समय है। वानप्रस्थाश्रम गृहस्थ और सन्यास के बीच का काल है, जहाँ व्यक्ति लौकिक आसक्ति से क्रमशः दूर होता हुआ संन्यास के निकट पहुँचने का प्रयास करता है। 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' ऐसा वैदिकधर्म

में जो शास्त्र-वचन है, उसका आशय ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा ऋषिऋण, गृहस्थाश्रम द्वारा पितृऋण तथा वानप्रस्थाश्रम द्वारा देवऋण अपाकृत कर चुकाकर मनुष्य अपना मन मोक्ष में लगाए। अर्थात् सांसारिक वाञ्छाओं से सर्वथा पृथक् होकर अपना जीवन मोक्ष की आराधना मे लगा दे। जैनधर्म में ऐसी आश्रम-व्यवस्था तो नही है पर श्रावक-जीवन में क्रमश. मोक्ष की ओर आगे बढ़ने का सुव्यवस्थित मार्ग है। श्रावक-प्रतिमाएँ इसका एक रूप है, जहाँ गृही साधक उत्तरोत्तर मोक्षोन्मुखता, तितिक्षा और संयत जीवन-चर्या में गतिमान् रहता है।

भगवान् महावीर के ये दसो श्रावक विवेकशील थे। भगवान् से उन्होंने जो पाया, उसे सुनने तक ही सीमित नही रखा, जो उन सब द्वारा तत्काल श्रावक-व्रत स्वीकार कर लेने से प्रकट है। उन्होंने मन ही मन यह भाव भी संजोए रखा कि यथासमय लौकिक दायित्वो, सम्बन्धो और आसक्तियों से मुक्त होकर वे अधिकाशत. धर्म की आराधना में अपने को जोड दे। आनन्द के वर्णन में उल्लेख है कि भगवान् महावीर से व्रत ग्रहण कर वह १४ वर्ष तक उस ओर उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। १५वे वर्ष में एक रात उसके मन में विचार आया कि अब उसके पुत्र योग्य हो गये हैं। अब उसे पारिवारिक और सामाजिक दायित्वो से अवकाश ले लेना चाहिए।

उस समय के लोग बड़े दृढनिश्चयी थे। सद् विचार को क्रियान्वित करने में वे विलम्ब नही करते थे। आनन्द ने भी विलम्ब नहीं किया। दूसरे दिन उसने अपने पारिवारिको, मित्रो तथा नागरिको को दावत दी, अपने विचार से सब को अवगत कराया और उन सब के साक्ष्य में अपने बड़े पुत्र को पारिवारिक एव सामाजिक दायित्व सौपा। बहुत से लोगो को दावत देने मे प्रदर्शन की बात नही थी। उसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। समाज के मान्य तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियो के बीच उत्तरदायित्व सौंपने का एक महत्त्व था। उन सबकी उपस्थिति में पुत्र द्वारा दायित्व स्वीकार करना भी महत्त्वपूर्ण था। यों विधिवत् दायित्व स्वीकार करने वाला उससे मुकरता नही। बहुत लोगो का लिहाज, उनके प्रति रही श्रद्धा, उनके साथ के सुखद सम्बन्ध उसे दायित्व-निर्वाह की प्रेरणा देते रहते हैं।

जैसा आनन्द ने किया, वैसा ही अन्य नौ श्रमणोपासको ने किया। अर्थात् उन्होने भी सामूहिक भोज के साथ अनेक सम्भ्रान्त जनो की उपस्थिति मे अपने-अपने पुत्रो को सामाजिक व पारिवारिक कार्यों के सवहन में अपने-अपने स्थान पर नियुक्त किया। बहुत सुन्दर चिन्तन तथा तदनुरूप आचरण उनका था। इस दृष्टि से भारत का प्राचीन काल बहुत ही उत्तम और स्पृहणीय था। महाकवि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य रघुवश में भगवान् राम के पूर्वज सूर्यवशी राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

'सूर्यवंशी राजा बचपन मे विद्याध्ययन करते थे, यौवन में सासारिक सुख भोगते थे, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति—मोक्षमार्ग का अवलम्बन करते थे और अन्त मे योग या समाधिपूर्वक देहत्याग करते थे।'[1]

---

१. शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—रघुवश सर्ग १

विवेक का तकाजा है, व्यक्ति एक पशु या साधारण जन की मौत क्यों मरे। उसे योग या समाधिपूर्वक मरना चाहिए। वह पशु नही है, मननशील मानव है। इन दसों उपासकों ने ऐसा ही किया। इन दसों की मृत्यु—समाधिमय मृत्यु पवित्र और उत्तम मृत्यु थी। वहाँ मरण शोक नही, महोत्सव बन जाता है। समाधिपूर्वक देह-त्याग निश्चय ही मरण-महोत्सव है। पर, इसके अधिकारी आत्मबली पुरुष ही होते हैं, जिनका जीवन विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ जाता है।

सामाजिक स्थिति

दसो श्रमणोपासको के पास गोधनों का प्राचुर्य था। इससे प्रकट है कि गोपालन का उन दिनों भारत में काफी प्रचलन था। इतनी गाये रखने वाले के पास कृषिभूमि भी उसी अनुपात में होनी चाहिए। आनन्द की कृषिभूमि ५०० हल परिमाण बतलाई गई है। गाय दूध, दही तथा घृत के उपयोग का पशु तो था ही, उसके बछड़े बैलों के रूप मे खेती के, सामान ढोने के तथा रथ आदि सवारियों के वाहन खींचने के उपयोग में आते थे। उस समय के जन-जीवन में वास्तव में गाय और बैल का बड़ा महत्त्व था।

उन दिनो लोगो का जीवन बड़ा व्यवस्थित था। हर कार्य का अपना विधिक्रम और व्यवस्थाक्रम था। भगवान् महावीर के दर्शन हेतु शिवानन्दा आदि के जाने का जब प्रसग आता है, वहाँ धार्मिक उत्तम यान का उल्लेख है, जो बैलो द्वारा खींचा जाता था। वह एक विशेष रथ था, जिसका धार्मिक कार्यों हेतु जाने में सवारी के लिए उपयोग होता था।

आनन्द ने श्रावक-व्रत ग्रहण करते समय खाद्य, पेय, परिधेय, भोग, उपभोग आदि का जो परिमाण किया, उससे उस समय के रहन-सहन पर काफी प्रकाश पड़ता है। अभ्यगन-विधि के परिमाण मे शतपाक एव सहस्रपाक तैलों का उल्लेख है। इससे यह प्रकट होता है कि तब आयुर्वेद काफी विकसित था। औषधियो से बहुत प्रकार के गुणकारी, बहुमूल्य तैल तैयार किये जाते थे।

खानपान, रहन-सहन आदि बहुत परिमार्जित थे। आनन्द दतौन के लिए हरी मुलैठी का परिमाण करता है, मस्तक, केश आदि धोने के लिए दूधिया आवले का और उबटनों में गेहूं आदि के आटे के साथ सौगन्धित पदार्थ मिलाकर तैयार की गई पीठी का परिमाण करता है। विशिष्ट लोग देह पर चन्दन, कुंकुम आदि का लेप भी करते थे।

लोगो मे आभूषण धारण करने की भी रुचि थी। बड़े लोग सख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषण पहनते थे। पुरुषो में अंगूठी पहनने का विशेष रिवाज था। आनन्द ने अपनी नामाङ्कित अगूठी के रूप में आभूषण-परिमाण किया था। रथ में जुतने वाले बैलो को भी बडे लोग सोने, चादी के गहने पहनाते थे। चादी की घण्टिया गले में बांधते थे। उन्हे सुन्दर रूप में सजाते थे। सातवें अध्ययन में अग्निमित्रा के धार्मिक यान का जहाँ वर्णन आया है, उससे यह प्रकट होता है।

भोजन के बाद सुपारी, पान, पान के मसाले आदि सेवन करने की भी लोगों मे प्रवृत्ति थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित दस श्रावकों में से नौ के एक-एक पत्नी थी। महाशतक के तेरह पत्नियां थी। उससे यह प्रकट होता है कि उस समय बहुपत्नीप्रथा का भी कहीं कही प्रचलन था। पितृगृह से कन्याओं को विवाह के अवसर पर सम्पन्न घरानों में उपहार के रूप में चल, अचल

सम्पत्ति देने का रिवाज था, जिस पर उन्ही [पुत्रियो] का अधिकार रहता। महाशतक की सभी पत्नियों को वैसी सम्पत्ति प्राप्त थी। जहाँ अनेक पत्नियाँ होती, वहाँ सौतिया डाह भी होता, जो महाशतक की प्रमुख पत्नी रेवती के चरित्र से प्रकट है। उसने अपनी सभी सौतों की हत्या करवा डाली और उनके हिस्से की सम्पत्ति हड़प ली।

प्रायः प्रत्येक नगर के बाहर उद्यान होता जहाँ सन्त-महात्मा ठहरते। ऐसे उद्यान लोगो के सार्वजनिक उपयोग के लिए होते।

छठे और सातवें अध्ययन मे सहस्राम्रवन-उद्यान का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है, ऐसे उद्यान भी उन दिनों रहे हों, जहाँ आम के हजार पेड़ लगे हो। यह सम्भव भी है क्योकि जिन प्रदेशों का प्रसंग है, वहाँ आम की बहुतायत से पैदावार होती थी, आज भी होती है।

ध्यान, चिन्तन, मनन तथा आराधना के लिए शान्त स्थान चाहिए। अत. श्रमणोपासक विशेष उपासना हेतु पोषधशालाओ का उपयोग करते। इसके अतिरिक्त ध्यान एव उपासना के लिए वे वाटिकाओं के रूप में अपने व्यक्तिगत शान्त वातावरणमय स्थान भी रखते। छठे और सातवे अध्ययन मे कुण्डकौलिक और सकडालपुत्र द्वारा अपनी अशोक वाटिकाओ मे जाकर धर्मोपासना करने का उल्लेख है।

श्रमणोपासक आनन्द के व्रतग्रहण के सन्दर्भ में उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचारों के अन्तर्गत १५ कर्मादानो का वर्णन है, जो श्रावक के लिए अनाचरणीय हैं। वहाँ जिन कामो का निषेध है, उनसे उस समय प्रचलित व्यवसाय, व्यापार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। कर्मादानों में पाँचवाँ स्फोटन-कर्म है। इसमे खाने खोदना, पत्थर फोड़ना आदि का समावेश है। इससे प्रकट होता है कि खनिज व्यवसाय उन दिनो प्रचलित था। समृद्ध व्यापारी ऐसे कार्यों के ठेके लेते रहे हों, उन्हें करवाने की व्यवस्था करते रहे हो।

हाथी-दाँत, हड्डी, चमड़े आदि का व्यापार भी तब चलता था, जो दन्त-वाणिज्यसज्ञक छठे कर्मादान से व्यक्त है।

दास-प्रथा का तब भारत मे प्रचलन था। दसवाँ कर्मादान केश-वाणिज्य इसका सूचक है। केश-वाणिज्य में गाय, भैंस, बकरी, भेड, ऊँट, घोडे आदि जीवित प्राणियो की खरीद-बिक्री के साथ-साथ दास-दासियो की खरीद-बिक्री का धन्धा भी शामिल था। सम्पत्ति मे चतुष्पद प्राणियो के साथ-साथ द्विपद प्राणियो की भी गिनती होती थी। द्विपदो मे मुख्यत दास-दासी आते थे। इस काम को कर्मादान के रूप में स्वीकार करने का यह आशय है कि एक श्रावक दास-प्रथा के कुत्सित काम से बचे, मनुष्यो का क्रय-विक्रय न करे। इससे यह भी ध्वनित होता है, जैन परम्परा दास-प्रथा के विरुद्ध थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन आगम न केवल जैनधर्म के सिद्धान्त, आचार, रीतिनीति आदि के ज्ञान हेतु ही पढने आवश्यक हैं वरन् अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय समाज के व्यापक अध्ययन की दृष्टि से भी उनका अनुशीलन आवश्यक और उपयोगी है। वास्तव में प्राकृत जैन आगम तथा पालि त्रिपिटक ही उस काल से सम्बद्ध ऐसा साहित्य है, जिसमें जन-जीवन के सभी अगों का वर्णन, विवेचन हुआ। यह ऐसा साहित्य नही है, जिसमें केवल राजन्यवर्ग या

आभिजात्यवर्ग का स्तवन या गुणकीर्तन हुआ हो। इसमे किसान, मजदूर, चरवाहे, व्यापारी, स्वामी, सेवक, राजा, मन्त्री, अधिकारी आदि समाज के सभी छोटे-बड़े वर्गों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

भाषा, शैली

जैसा ऊपर सूचित किया गया है, जैन आगम अर्द्धमागधी प्राकृत में हैं, जिस पर महाराष्ट्री का काफी प्रभाव है। इसलिए डॉ. हर्मन जैकोबी ने तो जैन आगमों की भाषा को जैन महाराष्ट्री की सज्ञा भी दे दी थी पर उसे मान्यता प्राप्त नही हुई। उपासकदशा मे व्यवहृत अर्द्धमागधी में महाराष्ट्री की 'य' श्रुति का काफी प्रयोग देखा जाता है। जैसे उदाहरणार्थ इसमें 'सावग' और 'सावय' ये दोनों प्रकार के रूप आये हैं। भाषा सरल, प्राञ्जल और प्रवाहमय है। वर्णन में सजीवता है। कई वर्णन तो बड़े ही मार्मिक और अन्त स्पर्शी हैं। उदाहरणार्थ दूसरे अध्ययन में श्रमणोपासक कामदेव को विचलित करने के लिए उपसर्गकारी देव का वर्णन है। देव के पिशाच-रूप का जो वर्णन वहाँ हुआ है, वह आश्चर्य, भय और जुगुप्सा—तीनो का सजीव चित्र उपस्थित करता है। वहाँ उल्लेख है, उसके कानो में कुण्डलो के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, वह गिरगिटों और चूहो की माला पहने था, उसने अपनी देह पर दुपट्टे की तरह सापों को लपेट रखा था, उसका शरीर पाँच रगो के बहुविध केशों से ढंका था। कितनी विचित्र कल्पना यह है। और भी विस्मयकर अनेक विशेषण वहाँ हैं।

जैसी कि आगमो की शैली है, एक ही बात कई बार पुनरावृत्त होती रहती है। जैसे किसी ने किसी से कुछ सुना, यदि उसे अन्यत्र इसे कहना हो तो वह सारी की सारी बात दुहरायेगा। प्रस्तुत आगम में अनेक स्थानो पर ऐसा हुआ है।

अनावश्यक अति विस्तार से बचने के लिए आगमों में सर्वसामान्य वर्णनों के लिए 'जाव' और 'वण्णओ' द्वारा सकेत कर दिया जाता है, जिसके अनुसार अन्य आगमो से वह वर्णन ले लिया जाता है। शताब्दियो तक कण्ठाग्र-विधि से आगमो को सुरक्षित रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। सामान्यत राजा, श्रेष्ठी, सार्थवाह, नगर, उद्यान, चैत्य, सरोवर आदि का वर्णन प्राय एक जैसा होता है। अत इनके लिए वर्णन का एक विशेष स्वरूप (Standard) मान लिया गया, जिसे साधारणतया सभी राजाओ, श्रेष्ठियो, सार्थवाहो, नगरो, उद्यानो, चैत्यो, सरोवरो आदि के लिए उपयोग मे लिया जाता रहा। प्रस्तुत आगम मे भी ऐसा ही हुआ है।

हिन्दी अनुवाद सहित आगमप्रकाशन

भारत में कतिपय जैन आगमो का मूल तथा सटीक रूप में समय-समय पर प्रकाशन होता रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद के साथ बत्तीसो आगमों का सबसे पहला प्रकाशन अब से लगभग छह दशक पूर्व दक्षिण हैदराबाद में हुआ। इनका सपादन तथा अनुवाद लब्धप्रतिष्ठ आगम-विद्वान् समादरणीय मुनि श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने किया। तब के समय और स्थिति को देखते हुए निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। तबसे पूर्व हिन्दी भाषी जनों को आगम पढने का अवसर ही प्राप्त नही था। इन आगमो का सभी जैन सम्प्रदायों के मुनियो और श्रावको ने उपयोग किया। श्रुत-सेवा का वास्तव में यह एक श्लाघनीय कार्य था। आज वे आगम अप्राप्य (Out of Print) है।

बत्तीसों आगमों के संपादन, अनुवाद एवं प्रकाशन का दूसरा प्रयास लगभग, उसके दो दशक बाद जैन शास्त्राचार्य पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज द्वारा कराची से चालू हुआ। वर्षों के परिश्रम से वह अहमदाबाद में सम्पन्न हुआ। उन्होंने स्वरचित सस्कृत टीका तथा हिन्दी एव गुजराती अनुवाद के साथ सम्पादन किया। वे भी आज सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नही हैं। फुटकर रूप में आगम-प्रकाशन कार्य सामान्यत: गतिशील रहा। वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम आचार्य आगम-वाङ्मय के महान् अध्येता, प्रबुद्ध मनीषी पूज्य आत्माराम जी महाराज द्वारा कतिपय आगमों का सस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या के साथ सम्पादन किया गया, जो वास्तव में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। आज वे सब आगम भी प्राप्त नहीं हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापथ की ओर से भी आगमप्रकाशन का कार्य चल रहा है। विस्तृत विवेचन, टिप्पणी आदि के साथ कतिपय आगम प्रकाश में आये हैं। सभी प्रयास जो हुए हैं, हो रहे हैं, अभिनन्दनीय हैं।

आज की आवश्यकता

हिन्दी जगत् में वर्षों से आज की प्राजल भाषा तथा अधुनातन शैली में हिन्दी अनुवाद के साथ आगमप्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। देश का हिन्दी-भाषी क्षेत्र बहुत विशाल है। हिन्दीभाषा मे कोई साहित्य देने का अर्थ है कोटि कोटि मानवो तक उसे पहुँचाना।

जैन आगम केवल विद्वद्भोग्य नही हैं, जन-जन के लिए उनकी महनीय उपयोगिता है। आज के समस्यासकुल युग मे, जब मानव को शान्ति का मार्ग चाहिए, वे और भी उपयोगी है।

जन-जन के लिए वे उपयोगी हो सकें, इस हेतु मूलग्राही भावबोधक अनुवाद और जहाँ अपेक्षित हो, सरल रूप में सक्षिप्त विवेचन के साथ आगमो का प्रकाशन हिन्दी-जगत् के लिए आज की अनुपेक्षणीय आवश्यकता है। जैन जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् एव लेखक, पण्डितरत्न, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ के युवाचार्य पूज्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज के मन में बहुत समय से यह बात थी। उन्ही की आध्यात्मिक प्रेरणा की यह फल-निष्पत्ति है कि ब्यावर [राजस्थान] में आगम प्रकाशन समिति का परिगठन हुआ, जिसने यह स्तुत्य कार्य सहर्ष, सोत्साह स्वीकार कर लिया। आगम-सपादन, अनुवाद त्वरापूर्वक गतिशील है।

सहभागित्व

पिछले कुछ वर्षों से श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज से मेरा श्रद्धा एव सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध है। उनके निश्छल, निर्मल, सरल व्यक्तित्व की मेरे मन पर एक छाप है। वे वरिष्ठ विद्वान् तो हैं ही, साथ ही साथ विद्वानों एव गुणियों का बडा आदर करते हैं। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे उनका हार्दिक अनुग्रह एव सात्त्विक स्नेह प्राप्त है। आगमों के संपादन एव अनुवादकार्य मे पूज्य युवाचार्य श्री ने मुझे भी स्मरण किया। पिछले तीस वर्षों से भारतीय विद्या (Indology) और विशेषत: प्राकृत तथा जैन विधा (Jainology) के क्षेत्र में अध्ययन, अनुसन्धान, लेखन, अध्यापन आदि के सन्दर्भ में कार्यरत रहा हूँ। यह मेरी आन्तरिक अभिरुचि का विषय है, व्यवसाय नही। अत: मुझे प्रसन्नता का अनुभव हुआ। मेड़ता निवासी मेरे अनन्य मित्र युवा साधक एवं साहित्यसेवी श्रीमान् जतनराजजी मेहता, जो आगम प्रकाशन समिति के महामन्त्री मनोनीत

हुए, ने भी मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। श्रुत की सेवा का सुन्दर अवसर जान, मैंने उधर उत्साह दिखाया। सातवें अंग उपासकदशा का कार्य मेरे जिम्मे आया। मैंने उपासकदशा का कार्य हाथ में लिया।

सम्पादन, अनुवाद, विवेचन

पहला कार्य पाठ-सम्पादन का था। मैंने उपासकदशा के निम्नांकित संस्करण हस्तगत किये—

१. उपासकदशासूत्रम्—सम्पादक, डॉ० एम० ए० रुडोल्फ हार्नले। प्रकाशक—बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता। प्रथम संस्करण : १८९० ई०।

२. श्रीमद् अभयदेवाचार्यविहितविवरणयुतं श्रीमद् उपासकदशांगम्। प्रकाशक—आगमोदय समिति, महेसाणा, प्रथम संस्करण १९२० ई०।

३. उपासकदशांगसूत्रम्—वृत्तिरचयिता—जैनशास्त्राचार्य पूज्य श्री घासीलालजी महाराज। प्रकाशक—श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची। प्रथम संस्करण: १९३६ ई०।

४. श्री उपासकदशांगसूत्र—अनुवादक—जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज। प्रकाशक—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना। प्रथम संस्करण १९६४ ई०।

५. उपासकदशांगसूत्रम्—अनुवादक—वी० घीसूलाल पितलिया। प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना [मध्यप्रदेश]। प्रथम संस्करण : १९७७ ई०।

६. उवासगदसाओ—श्रीमद् अभयदेव सूरि विरचित मूल अने टीकाना अनुवाद सहित [लिपि—देवनागरी, भाषा—गुजराती] अनुवादक अने प्रकाशक—पं० भगवानदास हर्षचन्द्र। प्रथम संस्करण · वि० सं० १९९२ ई०, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत।

७. अंगसुत्ताणि—३. सम्पादक—मुनि नथमलजी। प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं। प्रथम संस्करण सं० २०३१।

८. उपासकदशांग—अनुवादक, सम्पादक—डॉ० जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद [देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा]।

९. उपासकदशासूत्र—सम्पादक, अनुवादक—बाल-ब्रह्मचारी पं० मुनि श्री अमोलक-ऋषिजी महाराज। प्रकाशक—हैदराबाद—सिकंदराबाद जैन संघ, हैदराबाद [दक्षिण]। वीराब्द २४४२-२४४६ ई०।

इन सब प्रतियों का मिलान कर, भिन्न-भिन्न प्रतियों की उपयोगी पूरकता का उपयोग कर

त्रुटिरहित एव प्रामाणिक पाठ ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। सख्याक्रम, पैरेग्राफ, विरामचिह्न आदि के रूप में विभाजन, सुव्यवस्थित उपस्थापन का पूरा ध्यान रखा गया है।

प्राकृत अपने युग की जीवित भाषा थी। जीवित भाषा में विविध स्थानीय उच्चारण-भेद से एक ही शब्द के एकाधिक उच्चारण बोलचाल में रहने सभावित है, जैसे नगर के लिए नयर, णयर—दोनो ही रूप सम्भव हैं। प्राचीन प्रतियो में भी दोनो ही प्रकार के रूप मिलते हैं। यों जिन-जिन शब्दों के एकाधिक रूप हैं, उनको उपलब्ध प्रतियों की प्रामाणिकता के आधार पर उसी रूप में रखा गया है।

'जाव' से सूचित पाठों के सम्बन्ध में ऐसा क्रम रखा गया है—

'जाव' से सकेतित पाठ को पहली बार तो सम्बद्ध पूरक आगम से लेकर यथावत् रूप में कोष्ठक में दे दिया गया है, आगे उसी पाठ का सूचक 'जाव' जहाँ-जहाँ आया है, वहाँ पाद-टिप्पण में उस पिछले सूत्र का सकेत कर दिया गया है, जहाँ वह पाठ उद्धृत है।

प्राय प्रकाशित सस्करणो में 'जाव' से सूचित पाठ को कोष्ठक आदि में उद्धृत करने का क्रम नही रहा है। विस्तार से बचने के लिए सभवत ऐसा किया गया हो। अधिक विस्तार न हो, यह तो वाञ्छित है पर यह भी आवश्यक है कि 'जाव' द्वारा अमुक विषय का जो वर्णन अभीप्सित हे, उससे पाठक अवगत हो। उसे उपस्थित किये बिना पाठको को पठनीय विषय का पूरा ज्ञान नही हो पाता। अत' 'जाव' से सूचित पाठ की सर्वथा उपेक्षा नही की जानी चाहिए। हाँ, इतना अवश्य है, एक ही 'जाव' के पाठ को जितने स्थानों पर वह आया हो, सर्वत्र देना वाञ्छित नही है। इससे ग्रन्थ का अनावश्यक कलेवर बढ जाता है। 'जाव' से सूचित पाठ इतना अधिक हो जाता है कि पढते समय पाठकों को मूल पाठ स्वायत्त करने में भी कठिनाई होती है।

हिन्दी अनुवाद मे भाषा का क्रम ऐसा रखा गया है, जिससे पाठक मूल पाठ के बिना भी उसको स्वतन्त्र रूप से पढे तो एक जैसा प्रवाह बना रहे।

प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ मे उसका सार-सक्षेप मे दिया गया है, जिसमें अध्ययनगत विषय का सक्षिप्त विवरण है।

जिन सूत्रो में वर्णित विषयो की विशेष व्याख्या अपेक्षित हुई, उसे विवेचन मे दिया गया है। यह ध्यान रखा गया है, विवेचन में अनावश्यक विस्तार न हो, आवश्यक बात छूटे नही।

प्रस्तुत आगम के सम्पादन, अनुवाद एव विवेचन मे अहर्निश आठ मास तक किये गये श्रम की यह फलनिष्पत्ति है।इस बीच परम श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज तथा वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध मनीषी विद्वद्वर प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की ओर से मुझे सतत स्फूर्तिप्रद प्रेरणाए प्राप्त होती रहीं, जिससे मेरा उत्साह सर्वथा वृद्धिगत होता रहा। मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस कार्य मे प्रारम्भ से ही मेरे साहित्यिक सहकर्मी प्रबुद्ध साहित्यसेवी श्री शकरलालजी पारीक, लाडनूं कार्य के समापन पर्यन्त सहयोगी रहे हैं। प्रेस के लिए पाण्डुलिपियाँ तैयार करने में उनका पूरा साथ रहा।

आगम-वाङ्मय के अनुरागी, अध्यात्म व सयम में अभिरुचिशील, सहस्राब्दियों पूर्व के भारतीय जीवन के जिज्ञासु सुधी जन यदि प्रस्तुत ग्रन्थ से कुछ भी लाभान्वित हुए तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूंगा।

कैवल्यधाम,
सरदारशहर [राजस्थान]
दिनाक ९-४-८०

—डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम० ए० [हिन्दी संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी] पी-एच० डी०,
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि भू० पू० प्रवक्ता—इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत,
जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली [बिहार]

अनुक्रमणिका

पहला अध्ययन

दूसरा अध्ययन

तीसरा अध्ययन

चौथा अध्ययन

पांचवां अध्ययन

छठा अध्ययन

सातवां अध्ययन

आठवां अध्ययन

नौवां अध्ययन

दसवां अध्ययन

□□

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं सत्तमं अंगं

उवासगदसाओ

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्म-स्वामि-विरचितं सप्तमम् अङ्गम्

उपासकदशा

उपासकदशांगसूत्र

प्रथम अध्ययन

सार-संक्षेप

घटना तब की है, जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, अपनी धर्म-देशना से जन-मानस में अध्यात्म का सचार कर रहे थे। उत्तर बिहार के एक भाग में, जहाँ लिच्छवियो का गणराज्य था, वाणिज्यग्राम नामक नगर था। वह लिच्छवियो की राजधानी वैशाली के पास ही था। बनिया—गाँव नामक आज भी एक गाँव उस भूमि मे है। सम्भवत: वाणिज्यग्राम का ही वह अवशेष हो।

वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक एक सद्गृहस्थ निवास करता था। वह बहुत सम्पन्न, समृद्ध और वैभवशाली था। ऐसे जनों के लिए जैन आगम-साहित्य में गाथापति शब्द का प्रयोग हुआ है। करोडो सुवर्ण-मुद्राओ में सम्पत्ति, धन, धान्य, भूमि, गोधन इत्यादि की जो प्रचुरता आनन्द के यहाँ थी, उसके आधार पर आज के मूल्याकन में वह अरबपति की स्थिति में पहुँचता था। कृषि उसका मुख्य व्यवसाय था। उसके यहाँ दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे।

गाथापति आनन्द समृद्धिशाली होने के साथ-साथ समाज में बहुत प्रतिष्ठित था, सभी वर्ग के लोगो द्वारा सम्मानित था। बहुत बुद्धिमान् था, व्यवहार-कुशल था, मिलनसार था, इसलिए सभी लोग अपने कार्यों में उससे परामर्श लेते थे। सभी का उसमे अत्यधिक विश्वास था, इसलिए अपनी गोपनीय बात भी उसके सामने प्रकट करने में किसी को सकोच नहीं होता था। यों वह सुख, समृद्धि, सम्पन्नता और प्रतिष्ठा का जीवन जी रहा था।

उसकी धर्मपत्नी का नाम शिवनन्दा था। वह रूपवती, गुणवती एवं पति-परायण थी। अपने पति के प्रति उसमे असीम अनुराग, श्रद्धा और समर्पण था। आनन्द के पारिवारिक जन भी सम्पन्न और सुखी थे। सब आनन्द को आदर और सम्मान देते थे।

आनन्द के जीवन मे एक नया मोड आया। संयोगवश श्रमण भगवान् महावीर अपने पाद-विहार के बीच वाणिज्यग्राम पधारे। वहाँ का राजा जितशत्रु अपने सामन्तों, अधिकारियों और पारिवारिको के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया। अन्यान्य सम्भ्रान्त नागरिक और धर्मानुरागी जन भी पहुँचे। आनन्द को भी विदित हुआ। उसके मन में भी भगवान् के दर्शन की उत्सुकता जागी। वह कोल्लाक सन्निवेश-स्थित दूतीपलाश चैत्य में पहुँचा, जहाँ भगवान् विराजित थे। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम का उपनगर था। आनन्द ने भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन-नमन किया।

भगवान् ने धर्म-देशना दी। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का बोध प्रदान किया, अनगार—श्रमण-धर्म तथा अगार—गृहि-धर्म या श्रावक-धर्म की व्याख्या की।

आनन्द प्रभावित हुआ। उसने भगवान् से पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत—यो श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किए। अब तक जीवन हिंसा, भोग एवं परिग्रह आदि की दृष्टि से अमर्यादित था, उसने उसे मर्यादित एवं सीमित बनाया। असीम लालसा और तृष्णा को नियमित, नियन्त्रित

किया। फलतः उसका खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र, भोगोपभोग सभी पहले की अपेक्षा बहुत सीमित, सादे हो गए। आनन्द एक विवेकशील और अध्यवसायी पुरुष था। वैसे सादे, सरल और संयमोन्मुख जीवन में वह सहज भाव से रम गया।

आनन्द ने सोचा, मैंने जीवन में जो उद्बोध प्राप्त किया है, अपने आचार को तदनुरूप ढाला है, अच्छा हो, मेरी सहधर्मिणी शिवनन्दा भी वैसा करे। उसने घर आकर अपनी पत्नी से कहा— देवानुप्रिये! तुम भी भगवान् के दर्शन करो, वन्दन करो, बहुत अच्छा हो, गृहि-धर्म स्वीकार करो।

आनन्द व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य समझता था, इसलिए उसने अपनी पत्नी पर कोई दबाव नही डाला, अनुरोधमात्र किया।

शिवनन्दा को अपने पति का अनुरोध अच्छा लगा। वह भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुई, धर्म सुना। उसने भी बडी श्रद्धा और उत्साह के साथ श्रावक-व्रत स्वीकार किए। भगवान् महावीर कुछ समय बाद वहाँ से विहार कर गए।

आनन्द का जीवन अब और भी सुखी था। वह धर्माराधनापूर्वक अपने कार्य मे लगा रहा। चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। एक बार की बात है, आनन्द सोया था, रात के अन्तिम पहर में उसकी नीद टूटी। धर्म-चिन्तन करते हुए वह सोचने लगा—जिस सामाजिक स्थिति में मैं हूँ, अनेक विशिष्ट जनो से सम्बन्धित होने के कारण धर्माराधना मे यथेष्ट समय दे नही पाता। अच्छा हो, अब मै सामाजिक और लौकिक दायित्वों से मुक्ति ले लू और अपना जीवन धर्म की आराधना मे अधिक से अधिक लगाऊ। उसका विचार निश्चय में बदल गया। दूसरे दिन उसने एक भोज आयोजित किया। सभी पारिवारिक जनो को आमन्त्रित किया, भोजन कराया, सत्कार किया। अपना निश्चय सबके सामने प्रकट किया। अपने बड़े पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा, सामाजिक दायित्व एवं सम्बन्धो को भली भाँति निभाने की शिक्षा दी। उसने विशेष रूप से उस समय उपस्थित जनों से कहा कि अब वे उसे गृहस्थ-सम्बन्धी किसी भी काम मे कुछ भी न पूछें। यो आनन्द ने सहर्ष कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन से अपने को पृथक् कर लिया। वह साधु जैसा जीवन बिताने को उद्यत हो गया।

आनन्द कोल्लाक सन्निवेश मे स्थित पोषधशाला मे धर्मोपासना करने लगा। उसने क्रमश श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की उत्तम एव पवित्र भावपूर्वक आराधना की। उग्र तपोमय जीवन व्यतीत करने से उसका शरीर सूख गया, यहाँ तक कि शरीर की नाडियाँ दिखाई देने लगी।

एक बार की बात है, रात्रि के अन्तिम पहर में धर्म-चिन्तन करते हुए आनन्द के मन में विचार आया—यद्यपि अब भी मुझ में आत्म-बल, पराक्रम, श्रद्धा और सवेग की कोई कमी नही, पर शारीरिक दृष्टि से मैं कृश एव निर्बल हो गया हूँ। मेरे लिए श्रेयस्कर है, मैं अभी भगवान् महावीर की विद्यमानता में अन्तिम मारणान्तिक सलेखना स्वीकार कर लूँ। जीवन भर के लिए अन्न-जल का त्याग कर दूँ, मृत्यु की कामना न करते हुए शान्त चित्त से अपना अन्तिम समय व्यतीत करू।

आनन्द एक दृढचेता पुरुष था। जो भी सोचता, उसमें विवेक होता, आत्मा की पुकार होती। फिर उसे कार्य-रूप में परिणत करने में वह विलम्ब नही करता। उसने जैसा सोचा, तदनुसार सबेरा होते ही आमरण अनशन स्वीकार कर लिया। ऐहिक जीवन की सब प्रकार की इच्छाओं और

आकर्षणों से वह सर्वथा ऊँचा उठ गया। जीवन और मरण दोनों की आकाक्षा से अतीत बन वह आत्म-चिन्तन में लीन हो गया।

धर्म के निगूढ चिन्तन और आराधन में संलग्न आनन्द के शुभ एवं उज्ज्वल परिणामों के कारण अवधिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम हुआ, उसको अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान् महावीर विहार करते हुए पधारे, वाणिज्यग्राम के बाहर दूतीपलाश चैत्य में ठहरे। लोग धर्म-लाभ लेने लगे। भगवान् के प्रमुख शिष्य गौतम तब निरन्तर बेले-बेले का तप कर रहे थे। वे एक दिन भिक्षा के लिए वाणिज्यग्राम में गए। जब वे कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुँचे, उन्होंने आनन्द के आमरण अनशन के सम्बन्ध मे सुना। उन्होंने सोचा, अच्छा हो मैं भी उधर हो आऊँ। वे पोषधशाला में आनन्द के पास आए। आनन्द का शरीर बहुत क्षीण हो चुका था। अपने स्थान से इधर-उधर होना उसके लिए शक्य नही था। उसने आर्य गौतम से अपने निकट पधारने की प्रार्थना की, जिससे वह यथाविधि उन्हे वन्दन कर सके। गौतम निकट आए। आनन्द ने सभक्ति वन्दन किया और एक प्रश्न भी किया—भन्ते ! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने कहा—आनन्द ! हो सकता है। तब आनन्द बोला—भगवन् ! मैं एक गृहि—श्रावक की भूमिका में हूं, मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है। मैं उसके द्वारा पूर्व की ओर लवणसमुद्र में पांच सौ योजन तक तथा अधोलोक में लोलुपाच्युत नरक तक जानता हूँ, देखता हूँ। इस पर गौतम बोले—आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है, पर इतना विशाल नही। इसलिए तुम से जो यह असत्य भाषण हो गया है, उसकी आलोचना करो, प्रायश्चित्त करो।

आनन्द बोला—भगवन् ! क्या जिन-प्रवचन में सत्य और यथार्थ भावो के लिए भी आलोचना की जाती है ? गौतम ने कहा—आनन्द ! ऐसा नही होता। तब आनन्द बोला—भगवन् ! जिन-प्रवचन में यदि सत्य और यथार्थ भावो की आलोचना नही होती तो आप ही इस सम्बन्ध में आलोचना कीजिए। अर्थात् मैंने जो कहा है, वह असत्य नही है। गौतम विचार में पड़ गए। इस सम्बन्ध में भगवान् से पूछने का निश्चय किया। वे भगवान् के पास आए। उन्हे सारा वृत्तान्त सुनाया और पूछा कि आलोचना और प्रायश्चित्त का भागी कौन है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! तुम ही आलोचना करो और आनन्द से क्षमा-याचना भी। आनन्द ने ठीक कहा है।

गौतम पवित्र एव सरलचेता साधक थे। उन्होने भगवान् महावीर का कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया और सरल भाव से अपने दोष की आलोचना की, आनन्द से क्षमा-याचना की।

आनन्द अपने उज्ज्वल आत्म-परिणामो में उत्तरोत्तर दृढ और दृढतर होता गया। एक मास की सलेखना के उपरान्त उसने समाधि-मरण प्राप्त किया। देह त्याग कर वह सौधर्म देवलोक के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशानकोण में स्थित अरुण विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

प्रथम अध्ययन का यह संक्षिप्त सारांश है। □

प्रथम अध्ययन

गाथापति आनन्द

जम्बू की जिज्ञासा : सुधर्मा का उत्तर

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं
चंपा नामं नयरी होत्था । वण्णओ ।
पुण्णभद्दे चेइए । वण्णओ ।

उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी, पूर्णभद्र नामक चैत्य था । दोनों का वर्णन औपपातिकसूत्र से जान लेना चाहिए ।

विवेचन

यहाँ काल और समय—ये दो शब्द आये हैं । साधारणतया ये पर्यायवाची है । जैन पारिभाषिक दृष्टि से इनमें अन्तर भी है । काल वर्तना-लक्षण सामान्य समय का वाचक है और समय काल के सूक्ष्मतम—सबसे छोटे भाग का सूचक है । पर, यहाँ इन दोनो का इस भेद-मूलक अर्थ के साथ प्रयोग नही हुआ है । जैन आगमों की वर्णन-शैली की यह विशेषता है, वहाँ एक ही बात प्रायः अनेक पर्यायवाची, समानार्थक या मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दो द्वारा कही जाती है । भाव को स्पष्ट रूप में प्रकट करने में इससे सहायता मिलती है । पाठको के सामने किसी घटना, वृत्त या स्थिति का एक बहुत साफ शब्द-चित्र उपस्थित हो जाता है । यहाँ काल का अभिप्राय वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त से है तथा समय उस युग या काल का सूचक है, जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे ।

यहाँ चम्पा नगरी तथा पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख हुआ है । दोनो के आगे 'वण्णओ' शब्द आया है । जैन आगमो मे नगर, गाव, उद्यान आदि सामान्य विषयो के वर्णन का एक स्वीकृत रूप है । उदाहरणार्थ, नगरी के वर्णन का जो सामान्य क्रम है, वह सभी नगरियो के लिए काम मे आ जाता है । औरों के साथ भी ऐसा ही है ।

लिखे जाने से पूर्व जैन आगम मौखिक परम्परा से याद रखे जाते थे । याद रखने में सुविधा की दृष्टि मे सभवतः यह शैली अपनाई गई हो । वैसे नगर, उद्यान आदि साधारणतया लगभग सदृश होते ही हैं ।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज-सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्ज-सुहम्मे नामं थेरे जाति-संपण्णे, कुल-संपण्णे, बल-संपण्णे, रूव-संपण्णे, विणय-संपण्णे, नाण-संपण्णे, दंसण-संपण्णे, चरित्त-संपण्णे, लज्जा-संपण्णे, लाघव-संपण्णे, ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जसंसी, जिय-कोहे, जिय-माणे, जिय-माए, जिय-लोहे, जिय-णिद्दे, जिइंदिए, जिय-परीसहे, जीवियास-मरण-भय-विप्पमुक्के, तव-प्पहाणे, गुण-प्पहाणे, करण-प्पहाणे, चरण-प्पहाणे, निग्गह-प्पहाणे, निच्छय-प्पहाणे, अज्जव-प्पहाणे, मद्दव-प्पहाणे, लाघव-प्पहाणे, खंति-प्पहाणे, गुत्ति-प्पहाणे, मुत्ति-प्पहाणे, विज्जा-प्पहाणे, मंत-प्पहाणे, बंभ-प्पहाणे, वेय-प्पहाणे, नय-प्पहाणे, नियम-प्पहाणे, सच्च-प्पहाणे, सोय-प्पहाणे, नाण-प्पहाणे, दंसण-प्पहाणे, चरित्त-प्पहाणे, ओराले, घोरे, घोर-गुणे, घोर-तवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढ-सरीरे संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से, चउद्दस-पुव्वी,

चउनाणोवगए, पंचहिं अणगार-सएहिं सद्धिं संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव चंपा नयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ। चंपानयरीए बहिया पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज-सुहम्मस्स थेरस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्ज-जंबू नामं अणगारे कासव-गोत्तेणं सत्तुस्सेहे, सम-चउरंस-संठाण-संठिए, वइर-रिसह-णाराय-संघयणे, कणग-पुलग-निघस-पम्ह-गोरे, उग्ग-तवे, दित्त-तवे, तत्त-तवे, महा-तवे, ओराले, घोरे, घोर-गुणे, घोर-तवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढ-सरीरे, संखित्त-विउ-तेउल-लेस्से, अज्ज-सुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढं-जाणू, अहोसिरे, झाण-कोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तए णं से अज्ज-जंबू नामं अणगारे जाय-सड्ढे, जाय-संसए, जाय-कोऊहल्ले, उप्पण्ण-सड्ढे, उप्पण्ण-संसए, उप्पण्ण-कोऊहल्ले संजाय-सड्ढे, संजाय-संसए, संजाय-कोऊहल्ले, समुप्पण्ण-सड्ढे, समुप्पण्ण-संसए, समुप्पण्ण-कोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता जेणेव अज्ज-सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्ज-सुहम्मं थेरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे।)

पज्जुवासमाणे एवं वयासी—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव (आइगरेणं, तित्थगरेणं, सयंसंबुद्धेणं, पुरिसुत्तमेणं, पुरिससीहेणं, पुरिसवरपुंडरीएणं, पुरिसवरगंधहत्थिएणं, लोगुत्तमेणं लोगनाहेणं, लोग-पईवेणं, लोग-पज्जोयगरेणं, अभयदएणं, सरणदएणं चक्खुदएणं, मग्गदएणं, जीवदएणं, बोहिदएणं धम्मदएणं, धम्म-देसएणं धम्म-नायगेणं, धम्मसारहिणा, धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टिणा,* अप्पडिहय-वर-नाण-दंसणधरेणं वियट्टछउमेणं जिणेणं, जाणएणं, बुद्धेणं, बोहएणं, मुत्तेणं, मोयगेणं, तिण्णेणं, तारएणं, सिव-मयल-मरुय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाहमपुणरावत्तयं सासयं ठाणमुवगएणं, सिद्धि-गइ-नामधेज्जं ठाणं) संपत्तेणं।

छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते सत्तमस्स णं भंते ! अंगस्स उवासगदसाणं समणेणं जाव[1] संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[2] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासग-दसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—

आणंदे कामदेवे य, गाहावइ-चुलणीपिया।
सुरादेवे चुल्लसयए, गाहावइ-कुंडकोलिए।
सद्दालपुत्ते महासयए, नंदिणीपिया सालिहीपिया॥

जइ णं भंते ! समणेणं जाव[3] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! समणेणं जाव[4] संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

१-२-३-४ इसी सूत्र मे पूर्व वर्णित के अनुरूप।

* इससे आगे किसी-किसी प्रति मे 'दीवो ताण सरणगई पइट्ठा' यह पाठ अधिक उपलब्ध होता है।

उस समय आर्य सुधर्मा [श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी, जाति-सम्पन्न—उत्तम निर्मल मातृपक्षयुक्त, कुल-सम्पन्न—उत्तम निर्मल पितृपक्षयुक्त, बल-सम्पन्न—उत्तम दैहिक शक्तियुक्त, रूप-सम्पन्न—रूपवान्—सर्वांग सुन्दर, विनय-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न, लाघव-सम्पन्न—हलके—भौतिक पदार्थ और कषाय आदि के भार से रहित, ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी—प्रशस्त भाषी अथवा वर्चस्वी-वर्चस् या प्रभाव युक्त, यशस्वी, क्रोधजयी, मानजयी, मायाजयी, लोभजयी, निद्राजयी, इन्द्रियजयी, परिषहजयी—कष्टविजेता, जीवन की इच्छा और मृत्यु के भय से रहित, तप-प्रधान, गुण-प्रधान—संयम आदि गुणो की विशेषता से युक्त, करण-प्रधान—आहार-विशुद्धि आदि विशेषता सहित, चारित्र-प्रधान—उत्तम चारित्र-सम्पन्न—दशविध यति-धर्मयुक्त, निग्रह-प्रधान—राग आदि शत्रुओं के निरोधक, निश्चय-प्रधान—सत्य तत्त्व के निश्चित विश्वासी या कर्म-फल की निश्चितता मे आश्वस्त, आर्जव-प्रधान—सरलतायुक्त, मार्दव-प्रधान—मृदुतायुक्त, लाघव-प्रधान—आत्मलीनता के कारण किसी भी प्रकार के भार से रहित या स्फूर्ति-शील, शान्ति-प्रधान—क्षमाशील, गुप्ति-प्रधान—मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियो के गोपक—विवेकपूर्वक उनका उपयोग करनेवाले, मुक्ति-प्रधान—कामनाओं से छूटे हुए या मुक्तता की ओर अग्रसर, विद्या-प्रधान—ज्ञान की विविध शाखाओ के पारगामी, मन्त्र-प्रधान—सत् मन्त्र, चिन्तना या विचारणायुक्त, ब्रह्मचर्य-प्रधान, वेद-प्रधान—वेद आदि लौकिक, लोकोत्तर शास्त्रों के ज्ञाता, नय-प्रधान—नैगम आदि नयो के ज्ञाता, नियम-प्रधान—नियमो के पालक, सत्य-प्रधान, शौच-प्रधान—आत्मिक शुचिता या पवित्रतायुक्त, ज्ञान-प्रधान—ज्ञान के अनुशीलक, दर्शन-प्रधान—क्षायिक सम्यक्त्वरूप विशेषता से युक्त, चारित्र-प्रधान—चारित्र की परिपालना में निरत, उराल—प्रबल—साधना में सशक्त, घोर—अद्‌भुत शक्ति-सम्पन्न, घोरगुण—परम उत्तम, जिन्हे धारण करने में अद्‌भुत शक्ति चाहिए, ऐसे गुणों के धारक, घोर-तपस्वी—उग्र तप करने वाले, घोरब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्त-शरीर—दैहिक सार-संभाल या सजावट आदि से रहित, विशाल तेजोलेश्या अपने भीतर समेटे हुए, चतुर्दश पूर्वधर—चौदह पूर्व-ज्ञान के धारक, चार—मति, श्रुत, अवधि तथा मन:पर्याय ज्ञान से युक्त स्थविर आर्य सुधर्मा, पाच सौ श्रमणों से सपरिवृत—घिरे हुए पूर्वानुपूर्व—अनुक्रम से आगे बढते हुए, एक गाव से दूसरे गाव होते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए, जहाँ चम्पा नगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, पधारे। पूर्णभद्र चैत्य चम्पा नगरी के बाहर था, वहाँ भगवान् यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर ठहरे, सयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए रहे।

उसी समय की बात है, आर्य सुधर्मा के ज्येष्ठ अन्तेवासी आर्य जम्बू नामक अनगार, जो काश्यप गोत्र में उत्पन्न थे, जिनकी देह की ऊंचाई सात हाथ थी, जो समचतुरस्रसस्थान-सस्थित—देह के चारों अशों की सुसगत, अगो के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचना-युक्त शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—सुदृढ अस्थिबधयुक्त विशिष्ट देह-रचनायुक्त थे, कसोटी पर अकित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौरवर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मों को भस्मसात् करने मे अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्त तपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक थी, जो महातपस्वी, प्रबल, घोर, घोर-गुण, घोर-तपस्वी, घोर-ब्रह्मचारी, उत्क्षिप्त-शरीर एवं संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्य थे, स्थविर आर्य सुधर्मा के न अधिक दूर,

न अधिक निकट संस्थित हो, घुटने ऊंचे किये, मस्तक नीचे किए, ध्यान की मुद्रा में, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित थे।

तब आर्य जम्बू अनगार के मन में श्रद्धापूर्वक इच्छा पैदा हुई, संशय—अनिर्धारित अर्थ में शंका-जिज्ञासा एवं कुतूहल पैदा हुआ। पुनः उनके मन में श्रद्धा का भाव उमड़ा, संशय उभरा, कुतूहल समुत्पन्न हुआ। वे उठे, उठकर जहाँ स्थविर आर्य सुधर्मा थे, आए। आकर स्थविर आर्य सुधर्मा को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वंदन-नमस्कार किया। वैसा कर भगवान् के न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए, उनकी पर्युपासना-अभ्यर्थना करते हुए बोले—भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने [जो आदिकर—सर्वज्ञता प्राप्त होने पर पहले पहल श्रुत-धर्म का शुभारम्भ करने वाले, तीर्थंकर—श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ के संस्थापक, स्वयंसंबुद्ध—किसी बाह्य निमित्त या सहायता के बिना स्वयं बोध प्राप्त, विशिष्ट अतिशयों से सम्पन्न होने के कारण पुरुषोत्तम, शूरता की अधिकता के कारण पुरुषसिंह, सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने से पुरुषवर-पुंडरीक—पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान, पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, लोकोत्तम, लोक-नाथ—जगत् के प्रभु, लोक-प्रतीप—लोक-प्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्म-पथ पर गतिशील, अथवा लोकप्रदीप अर्थात् जनसमूह को प्रकाश देने वाले, लोक-प्रद्योतकर—लोक में धर्म का उद्योत फैलाने-वाले, अभयप्रद, शरणप्रद, चक्षुःप्रद—अन्तर्-चक्षु खोलने वाले, मार्गप्रद, संयम-जीवन तथा बोधि प्रदान करने वाले, धर्मप्रद, धर्मोपदेशक, धर्मनायक, धर्म-सारथि, तीन ओर महासमुद्र तथा एक ओर हिमवान् की सीमा लिये विशाल भूमण्डल के स्वामी चक्रवर्ती की तरह उत्तम धर्म-साम्राज्य के सम्राट्, प्रतिघात विसंवाद या अवरोध रहित उत्तम ज्ञान व दर्शन के धारक, घातिकर्मों से रहित, जिन—राग-द्वेष-विजेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, बुद्ध—बोधयुक्त, बोधक—बोधप्रद, मुक्त—बाहरी तथा भीतरी ग्रन्थियों से छूटे हुए, मोचक—मुक्तता के प्रेरक, तीर्ण—संसार-सागर को तैर जाने वाले, तारक—संसार-सागर को तैर जाने की प्रेरणा देने वाले, शिव-मंगलमय, अचल—स्थिर, अरुज्—रोग या विघ्न रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध—बाधा रहित, पुनरावर्तन रहित सिद्धि-गति नामक शाश्वत स्थान के समीप पहुंचे हुए हैं, उसे संप्राप्त करने वाले हैं,] छठे अंग नायाधम्मकहाओ का जो अर्थ बतलाया, वह मैं सुन चुका हूँ। भगवान् ने सातवें अंग उपासकदशा का क्या अर्थ व्याख्यात किया ?

आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रज्ञप्त किये—बतलाए, जो इस प्रकार हैं—

१. आनन्द, २. कामदेव, ३. गाथापति चुलनीपिता, ४. सुरादेव, ५. चुल्लशतक, ६. गाथापति कुंडकौलिक, ७. सद्दालपुत्र, ८. महाशतक, ९. नन्दिनीपिता, १०. शालिहीपिता।

जम्बू ने फिर पूछा—भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के जो दस अध्ययन व्याख्यात किए, उनमें उन्होंने पहले अध्ययन का क्या अर्थ—तात्पर्य कहा ?

विवेचन

सामान्य वर्णन के लिए जैन-आगमों में 'वण्णओ' द्वारा सूचन किया जाता है, जिससे अन्यत्र

वर्णित अपेक्षित प्रसंग को प्रस्तुत स्थान पर ले लिया जाता है। उसी प्रकार विशेषणात्मक वर्णन, विस्तार आदि के लिए 'जाव' शब्द द्वारा संकेत करने का भी जैन आगमों में प्रचलन है। संबंधित वर्णन को दूसरे आगमों से, जहा वह आया हो, गृहीत कर लिया जाता है। यहां भगवान् महावीर और सुधर्मा और जंबू के विशेषणात्मक वर्णन 'जाव' शब्द से सूचित हुए हैं। ज्ञातृधर्मकथा, औपपातिक तथा राजप्रश्नीय सूत्र से ये विशेषणमूलक वर्णन यहां आकलित किए गए हैं। जैसा पहले सूचित किया गया है, संभवत: जैन आगमों की कंठस्थ परम्परा की सुविधा के लिए यह शैली स्वीकार की गई हो।

आनन्द गाथापति

३. एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स वाणियगामस्स बहिया उत्तर-पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नामं चेइए। तत्थ णं वाणियगामे नयरे जियसत्तू राया होत्था। वण्णओ। तत्थ णं वाणियगामे आणंदे नामं गाहावई परिवसइ—अड्ढे जाव (दित्ते, वित्ते विच्छिण्ण-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणे, बहु-धण-जायरूव-रयए, आओग-पओग-संपउत्ते, विच्छड्डिय-पउर-भत्त-पाणे, बहु-दासी-दास-गो-महिस-गवेलगपप्पभूए बहु-जणस्स) अपरिभूए।

आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त मे, उस समय—जब भगवान् महावीर विद्यमान थे, वाणिज्यग्राम नामक नगर था। उस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में—ईशान कोण में दूतीपलाश नामक चैत्य था। जितशत्रु नामक वहा का राजा था। वहा वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक गाथापति—सम्पन्न गृहस्थ रहता था। आनन्द धनाढय, [दीप्त—दीप्तिमान्-प्रभावशाली, सम्पन्न, भवन, शयन—ओढ़ने-बिछौने के वस्त्र, आसन—बैठने के उपकरण, यान-माल-असबाब ढोने की गाड़िया एव वाहन—सवारिया आदि विपुल साधन-सामग्री तथा सोना, चादी, सिक्के आदि प्रचुर धन का स्वामी था। आयोग-प्रयोग-सप्रवृत्त—व्यावसायिक दृष्टि से धन के सम्यक् विनियोग और प्रयोग में निरत—नीतिपूर्वक द्रव्य के उपार्जन में सलग्न था। उसके यहा भोजन कर चुकने के बाद भी खाने पीने के बहुत पदार्थ बचते थे। उसके घर में बहुत से नौकर, नौकरानियां, गायें, भैंसें, बैल, पाड़े, भेड़े, बकरिया आदि थी।] लोगों द्वारा अपरिभूत—अतिरस्कृत था—इतना रौबीला था कि कोई उसका तिरस्कार या अपमान करने का साहस नही कर पाता था।

विवेचन

इस प्रसग मे गाहावई [गाथापति] शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यह विशेषत: जैन साहित्य में ही प्रयुक्त है। गाहा+वई इन दो शब्दों के मेल से यह बना है। प्राकृत मे 'गाहा' आर्या छन्द के लिए भी आता है और घर के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसका एक अर्थ प्रशस्ति भी है। धन, धान्य, समृद्धि, वैभव आदि के कारण बड़ी प्रशस्ति का अधिकारी होने से भी एक सम्पन्न, समृद्ध गृहस्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने माना है। पर, गाहा का अधिक संगत अर्थ घर ही प्रतीत होता है।

इस प्रसंग से ऐसा प्रकट होता है कि खेती तथा गो-पालन का कार्य तब बहुत उत्तम माना जाता था। समृद्ध गृहस्थ इसे रुचिपूर्वक अपनाते थे।

वैभव

४. तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढि-पउत्ताओ; चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दसगोसाहस्सिएणं वएणं होत्था।

आनन्द गाथापति का चार करोड स्वर्ण खजाने मे रक्खा था, चार करोड़ स्वर्ण व्यापार में लगा था, चार करोड स्वर्ण घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री में लगा था। उसके चार व्रज—गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस हजार गायें थी।

विवेचन

यहां प्रयुक्त हिरण्ण [हिरण्य]—स्वर्ण का अभिप्राय उन सोने के सिक्कों से है, जो उस समय प्रचलित रहे हों। सोने के सिक्कों का प्रचलन इस देश में बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। भगवान् महावीर के समय के पश्चात् भी भारत में सोने के सिक्के चलते रहे। विदेशी शासकों ने भारत में जो सोने का सिक्का चलाया उसे दीनार कहा जाता था। संस्कृत भाषा में 'दीनार' शब्द ज्यो का त्यों स्वीकार कर लिया गया। मुसलमान बादशाहों के शासन-काल में जो सोने का सिक्का चला, वह मोहर या अशरफी कहा जाता था। उसके बाद भारत में सोने के सिक्को का प्रचलन बन्द हो गया।

सामाजिक प्रतिष्ठा

५. से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर-जाव (तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ) सत्थवाहाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं, चक्खू, मेढीभूए जाव (पमाणभूए, आहारभूए, आलंबणभूए, चक्खुभूए) सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था।

आनन्द गाथापति बहुत से राजा—माडलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली एव प्रभावशील पुरुष [तलवर—राज-सम्मानित विशिष्ट नागरिक, माडविक या माडबिक—जागीरदार भूस्वामी कौटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, इभ्य—वैभवशाली, श्रेष्ठी—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठा-प्राप्त सेठ, सेनापति] तथा सार्थवाह—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिए देशान्तर में व्यवसाय करने वाले समर्थ व्यापारी—इन सबके अनेक कार्यों में, कारणों में, मंत्रणाओं में, पारिवारिक समस्याओं में, गोपनीय बातों में, एकान्त में विचारणीय—सार्वजनिक रूप में अप्रकटनीय विषयों में, किए गए निर्णयों में तथा परस्पर के व्यवहारों में पूछने योग्य एवं सलाह लेने योग्य व्यक्ति था। वह सारे परिवार का मेढि—मुख्य-केन्द्र, प्रमाण—स्थिति-स्थापक—प्रतीक, आधार, आलंबन, चक्षु—मार्ग-दर्शक, मेढिभूत [प्रमाणभूत, आधारभूत, आलंबनभूत चक्षुभूत] तथा सर्व-कार्य-वर्धापक—सब प्रकार के कार्यों को आगे बढ़ाने वाला था।

विवेचन

यहा प्रयुक्त 'तलवर' आदि शब्द उस समय के विशिष्ट जनों के रूप को प्रकट करते हैं। यह विशेषता विभिन्न क्षेत्रो से सम्बन्धित थी। आर्थिक, व्यापारिक, शासनिक, व्यावहारिक तथा लोक-संपर्कपरक उन सभी विशेषताओं का सकेत इन शब्दो में प्राप्त होता है, जिनका उस समय के समाज में महत्त्व और आदर था। आनन्द के व्यापक, प्रभावशाली और आदरणीय व्यक्तित्व का इस प्रसंग से स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। वह इतना उदार, गभीर और ऊंचे विचारों का व्यक्ति था कि सभी प्रकार के विशिष्ट जन अपने कार्यों में उसे पूछना, उससे सलाह लेना उपयागी मानते थे।

इस प्रसग मे एक दूसरी महत्त्व की बात यह है, जो आनन्द के पारिवारिक जीवन की एकता, पारस्परिक निष्ठा और मेल पर प्रकाश डालती है। आनन्द सारे परिवार का केन्द्र-बिन्दु था तथा परिवार के विकास और सवर्धन में तत्पर रहता था। आनन्द के लिए मेढि की उपमा यहा काफी महत्त्वपूर्ण है। मेढि उस काष्ठ-दड को कहा जाता है, जिसे खलिहान के बीचोबीच गाड कर, जिससे बाधकर बैलों को अनाज निकालने के लिए चारो ओर घुमाया जाता है। उसके सहारे बैल गतिशील रहते हैं। परिवार मे यही स्थिति आनन्द की थी।

शिवनन्दा

६. तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स सिवानंदा नामं भारिया होत्था, अहीण-जाव (पडिपुण्ण-पंचिंदिय-सरीरा, लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माणप्पमाण-पडिपुण्ण-सुजाय-सव्वंग-सुंदरंगी, ससि-सोमाकार-कंत-पिय-दंसणा) सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता, अविरत्ता, इट्ठे जाव (सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे) पंचविहे माणुस्सए काम-भोए पच्चणुभवमाणी विहरइ।

आनन्द गाथापति की शिवनन्दा नामक पत्नी थी, [उसके शरीर की पाचो इन्द्रिया अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखडित, सम्पूर्ण, अपने-अपने विषयों में सक्षम थी, वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाए आदि, व्यजन—उत्कर्षसूचक तिल, मसा आदि चिह्न तथा गुण—शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी। दैहिक फैलाव, वजन, ऊंचाई, आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दरी थी। उसका आकार—स्वरूप चन्द्र के समान सौम्य तथा दर्शन कमनीय था]। ऐसी वह रूपवती थी। आनन्द गाथापति की वह इष्ट—प्रिय थी। वह आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त—अनुरागयुक्त—अत्यन्त स्नेहशील थी। पति के प्रतिकूल होने पर भी वह कभी विरक्त—अनुरागशून्य—रुष्ट नही होती थी। वह अपने पति के साथ इष्ट—प्रिय [शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गन्धमूलक] पाच प्रकार के सासारिक काम-भोग भोगती हुई रहती थी।

विवेचन

प्रस्तुत प्रसग में नारी के उस प्रशस्त स्वरूप का सक्षेप में बडा सुन्दर चित्रण है, जिसमें सौन्दर्य और शील दोनो का समावेश है। इसी मे नारी की परिपूर्णता है।

यहा प्रयुक्त 'अविरक्त' विशेषण पति के प्रति पत्नी के समर्पण-भाव तथा नारी के उदात्त व्यक्तित्व का सूचक है।

कोल्लाक सन्निवेश—

७. तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसी-भाए एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था । रिद्ध-त्थिमिय जाव (समिद्धे, पमुइय-जण-जाणवये, आइण्ण-जण-मणुस्से, हल-सय-सहस्स-संकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-पण्णत्त-सेउसीमे, कुक्कुड-संडेय-गाम-पउरे, उच्छु-जव-सालि-कलिये, गो-महिस-गवेलग-प्पभूये, आयारवन्त-चेइय-जुवइ-विविह-सण्णिविट्ठ-बहुले, उक्कोडिय-गाय-गंठि-भेय-भड-तक्कर-खंडरक्खरहिये, खेमे, णिरुवद्दवे, सुभिक्खे, वीसत्थसुहावासे, अणेग-कोडि-कुडुंबियाइण्ण-णिव्वुय-सुहे, नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबय-कहग-पवग--लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-अणेग-तालायराणुचरिये, आरामुज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वप्पिणि-गुणोववेये, नंदणवण-सन्निभ-प्पगासे, उव्विद्ध-विउल-गंभीर-खाय-फलिहे, चक्क-गय-भुसुंढि-ओरोह-सयग्घि-जमल-कवाड-घण-दुप्पवेसे, धणु-कुडिल-वंक-पागार-परिक्खित्ते, कविसीसय-वट्ट-रइय-संठिय-विरायमाणे, अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-उण्णय-सुविभत्त-रायमग्गे, छेयायरिय-रइय-दढ-फलिह-इंदकीले, विवणि-वणिच्छेत्त-सिप्पियाइण्ण-निव्वुयसुहे, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-पणियावण-विविह-वत्थु-परिमंडिये, सुरम्मे, नरवइ-पविइण्ण-महिवइ-पहे, अणेगवर-तुरग-मत्तकुंजर-रह-पहकर-सीय-संदमाणीयाइण्ण-जाण-जुग्गे, विमउल-णवणलिणिसोभियजले, पंडुरवरभवण-सण्णिमहिये उत्ताणणयणपेच्छणिज्जे,) पासादीए, दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ।

वाणिज्यग्राम के बाहर उत्तर-पूर्व दिशाभाग—ईशान कोण में कोल्लाकनामक सन्निवेश—उपनगर था । वह वैभवशाली, सुरक्षित एव समृद्ध था । वहा के नागरिक और जनपद के अन्य भागो से आए व्यक्ति वहा आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होने से प्रमुदित रहते थे, लोगो की वहा घनी आबादी थी, सैकड़ो, हज़ारो हलो से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सहजतया सुन्दर मार्ग-सीमा सी लगती थी, वहा मुर्गों और युवा साडो के बहुत से समूह थे, उसके आसपास की भूमि ईख, जौ और धान के पौधों से लहलहाती थी, वहा गायो, भैसो और भेड़ो की प्रचुरता थी, वहा सुन्दर शिल्पकला युक्त चैत्यों और युवतियों के विविध सन्निवेशो—पण्य तरुणियो के पाड़ो—टोलों का बाहुल्य था, वह रिश्वतखोरो, गिरहकटो, बटमारों, चोरो, खड-रक्षको—चुगी वसूल करनेवालो से रहित, सुख-शान्तिमय एव उपद्रवशून्य था, वहा भिक्षुकों को भिक्षा सुखपूर्वक प्राप्त होती थी, इसलिए वहा निवास करने में सब सुख मानते थे, आश्वस्त थे । अनेक श्रेणी के कौटुम्बिक—पारिवारिक लोगों की घनी बस्ती होते हुए भी वह शान्तिमय था, नट—नाटक दिखाने वाले, नर्त्तक—नाचने वाले, जल्ल—कलाबाज—रस्सी आदि पर चढ़कर कला दिखाने वाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्के-बाज, विडबक—विदूषक—मसखरे, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने या नदी आदि में तैरने का प्रदर्शन करने वाले, लासक—वीर रस की गाथाए या रास गाने वाले, आख्यायक—शुभ-अशुभ बताने वाले, लख—बांस के सिरे पर खेल दिखाने वाले, मख—चित्रपट दिखा कर आजीविका चलाने वाले, तूणइल्ल-तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका करने वाले, तुंब-वीणिक—तुंब-वीणा या पूगी बजाने वाले, तालाचर—ताली बजाकर मनोविनोद करने वाले आदि अनेक जनो से वह सेवित था । आराम—क्रीडा-वाटिका, उद्यान—बगीचे, कुए, तालाब, बावड़ी, जल के छोटे-छोटे बांध—इनसे युक्त था, नन्दनवन सा लगता था, वह ऊंची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त था, चक्र, गदा भुसुंडि—पत्थर फेंकने का एक विशेष शस्त्र—गोफिया, अवरोध—अन्तर्-प्राकार—

शत्रु-सेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा भीतरी सुदृढ आवरक साधन, शतघ्नी—महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराए जाने पर सैकड़ों व्यक्ति दब-कुचलकर मर जाएं, और द्वार के छिद्र रहित कपाटयुगल के कारण जहा प्रवेश कर पाना दुष्कर था, धनुष जैसे टेढे परकोटे से वह घिरा हुआ था, उस परकोटे पर गोल आकार के बने हुए कपिशीर्षकों से वह सुशोभित था, उसके राजमार्ग, अट्टालक—परकोटे के ऊपर निर्मित आश्रय-स्थानों—गुमटियों, चरिक—परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौड़े मार्गों, परकोटे में बने हुए छोटे द्वारों—बारियों, गोपुरों—नगर-द्वारों, तोरण—द्वारों से सुशोभित और सुविभक्त थे, उसकी अर्गला और इन्द्रकील—गोपुर के किवाड़ों के आगे जड़े हुए नुकीले भाले जैसी कीलें, सुयोग्य शिल्पाचार्यों—निपुण शिल्पियो द्वारा निर्मित थी, विपणि—हाट-मार्ग, वणिक्-क्षेत्र—व्यापार-क्षेत्र, बाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिल्पियों, कारीगरों के आवासित होने के कारण वह सुख-सुविधापूर्ण था, तिकोने स्थानों, तिराहों, चौराहों चत्वरों—जहां चार से अधिक रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थानों, बर्तन आदि की दूकानों तथा अनेक प्रकार की वस्तुओ से परिमंडित—सुशोभित और रमणीय था। राजा की सवारी निकलते रहने के कारण उसके राजमार्गों पर भीड़ लगी रहती थी, वहा अनेक उत्तम घोडे, मदोन्मत्त हाथी, रथ—समूह, शिविका—पर्देदार पालखियां, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखिया, यान—गाडियां तथा युग्य—पुरातन कालीन गोल्ल देश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे—चौडे डोली जैसे यान—इनका जमघट लगा रहता था। वहां खिले हुए कमलों से शोभित जल वाले—जलाशय थे, सफेदी किए हुए उत्तम भवनो से वह सुशोभित, अत्यधिक सुन्दरता के कारण निर्निमेष नेत्रों से प्रेक्षणीय,] चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेनेवाला तथा प्रतिरूप—मन मे बस जाने वाला था।

८. तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव[1] अपरिभूए।

वहा कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गाथापति के अनेक मित्र, ज्ञातिजन—समान आचार-विचार के स्वजातीय लोग, निजक—माता, पिता, पुत्र, पुत्री आदि, स्वजन-बन्धु-बान्धव आदि, सम्बन्धी—श्वशुर, मातुल आदि, परिजन—दास, दासी आदि निवास करते थे, जो समृद्ध एव सुखी थे।

भगवान् महावीर का समवसरण

९. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव (आइगरे, तित्थगरे, सयंसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे, पुरिस-सीहे, पुरिस-वर-पुंडरीए, पुरिस-वर-गंधहत्थीए, अभयदए, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए, जीवदए, दीवोत्ताणं, सरण-गई-पइट्ठा, धम्म—वर—चाउरंत—चक्कवट्टी अप्पडिहय—वर—नाण—दंसणधरे, विअट्ट-छउमे, जिणे, जाणए, तिण्णे, तारए, मुत्ते, मोयए, बुद्धे, बोहए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं, सिद्धि—गइ—नामधेयं ठाणं संपावि-उकामे, अरहा, जिणे, केवली, सत्तहत्थुस्सेहे, सम—चउरंस—संठाण—संठिए, वज्ज—रिसह—नाराय—संघयणे, अणुलोमवाउवेगे, कंक—ग्गहणे, कवोय—परिणामे, सउणि—पोस—पिट्ठंतरोरु—परिणए, पउमुप्पल—गंध—सरिस—निस्सास—सुरभि—वयणे, छवी, निरायंक—उत्तम—पसत्थ—

---

[1] देखें सूत्र-संख्या ३

अइसेय-निरुवम-पले, जल्ल—मल्ल—कलंक—सेय-रय-दोस-वज्जिय-सरीरे, निरुवलेवे, छाया-उज्जोइयं-गमंगे, घण—निचिय—सुबद्ध—लक्खणुन्नय—कूडागार—निभ—पिंडियग्गसिरए, सामलि—बोंड—घण—निचिय—फोडिय—मिउ—विसय—पसत्थ—सुहुम—लक्खण—सुगंध—सुंदर—भुयमोयग—भिंग-नील—कज्जल—पहिट्ठ—भमर—गण—निद्ध—निकुरंब—निचिय—कुंचिय—पयाहिणावत्त—मुद्ध—सिरए, दाडिम—पुप्फ—पकास—तवणिज्ज—सरिस—निम्मल—सुणिद्ध—केसंत—केसभूमी, घण-निचिय-छत्तागारुत्तमंगदेसे, णिव्वण—सम—लट्ठ—मट्ठ—चंदद्ध—सम—णिडाले, उडुवइ—पडिपुण्ण—सोम-वयणे, अल्लीण—पमाणजुत्त—सवणे, सुस्सवणे, पीण—मंसल—कवोल—देसभाए, आणामिय—चाव—रुइल—किण्हब्भ-राइ—तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे, अवदालिय—पुंडरीय—नयणे, कोयासिय—धवल—पत्तलच्छे, गरुलायत-उज्जु—तुंग—णासे, उवचिय-सिलप्पवाल—बिंबफल—सण्णिभाधरोट्ठे, पंडुर—ससि-सयल—विमल—निम्मल-संख-गोक्खीर—फेण—कुंद—दग—रय-मुणालिया-धवल—दंत—सेढी, अखंड—दंते, अप्फुडिय-दंते, अविरल—दंते, सुणिद्ध—दंते, सुजाय—दंते, एग-दंत—सेढीविव-अणेग—दंते, हुयवह-णिद्धंत—धोय—तत्त—तवणिज्ज—रत्ततल-तालु-जीहे, अवट्ठिय-सुविभत्त-चित्त-मंसू, मंसल-संठिय-पसत्थ—सद्दूल—विउल—हणुए, चउरंगुल—सुप्पमाण—कंबु—वर—सरिस-गीवे, वर—महिस—वराह—सीह—सद्दूल—उसभ—नाग—वर—पडिपुण्ण—विउल—क्खंधे, जुग—सन्निभ—पीण—रइय-पीवर—पउट्ठ—संठिय—सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-घण—थिर—सुबद्ध—संधि—पुर—वर-फलिह-वट्टिय—भुए, भुय-ईसर-विउल—भोग—आदाण—फलिह-उच्छूढ-दीह—बाहू, रत्त—तलोवइय—मउय-मंसल-सुजाय- लक्खण—पसत्थ—अच्छिद्द-जाल-पाणी, पीवर-कोमल-वरंगुली, आयंबतंब-तलिण-सुइ-रुइल-णिद्ध-णक्खे, चंद-पाणि—लेहे, सूर—पाणि-लेहे, संख—पाणि—लेहे, चक्क—पाणि-लेहे, दिसा—सोत्थिय—पाणि—लेहे, चंद—सूर-संख—चक्क-दिसा—सोत्थिय-पाणि—लेहे, कणग—सिला—तलुज्जल—पसत्थ—समतल-उवचिय—विच्छिण्ण—पिहुल-वच्छे, सिरिवच्छं—कियवच्छे, अकरंडुय—कणग-रुइय—निम्मल—सुजाय—निरुवहय—देहधारी, अट्ठसहस्स—पडिपुण्ण—वरपुरिस—लक्खणधरे, सण्णय-पासे, संगय-पासे, सुंदर-पासे, सुजाय-पासे, मिय—माइय—पीण—रइय—पासे, उज्जुय-सम-सहिय-जच्च—तणु—कसिण-णिद्ध—आइज्ज-लडह—रमणिज्ज—रोम—राई, झसविहग—सुजाय—पीण—कुच्छी, झसोयरे, सुइ—करणे, पउम—वियड—णाभे, गंगावत्तक-पयाहिणावत्त—तरंग-भंगुर—रवि-किरण-तरुण—बोहिय—अकोसायंत—पउम—गंभीर—वियड-णाभे, साहय—सोणंद—मुसल—दप्पण-णिकरिय-वर-कणग-च्छरु-सरिस-वर-वइर-वलिय—मज्झे पमुइय—वर—तुरय-सीह-वर-वट्टिय-कडी, वरतुरग-सुजाय-गुज्झ-देसे, आइण्णहउव्व—णिरुवलेवे, वर-वारण-तुल्ल—विक्कम—विलसिय-गई, गय-ससण-सुजाय-सन्निभोरू, समुग्ग-णिमग्ग-गूढ-जाणू, एणी—कुरुविंदावत्त—वट्टाणुपुव्व—जंघे, संठिय—सुसिलिट्ठ-गूढ-गुप्फे, सुपइट्ठिय—कुम्म—चारु—चलणे, अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए, उण्णय—तणु—तंब-णिद्ध-णक्खे, रत्तुप्पल-पत्त—मउअ—सुकुमाल कोमल-तले, अट्ठ-सहस्स-वर-पुरिस-लक्खणधरे, नग-नगर-मगर-सागर-चक्कंक—वरंक-मंगलंकिय—चलणे, विसिट्ठ—रूवे, हुयवह—निद्धूम—जलिय—तडि-तडिय-तरुण-रवि-किरण-सरिस-तेए, अणासवे, अममे, अकिंचणे, छिन्न—सोए, निरुवलेवे, ववगय-पेम-राग-दोस-मोहे, निग्गंथस्स पवयणस्स देसए, सत्थ-नायगे, पइट्ठावए, समणग—पई, समण-विंद-परिअट्टए चउत्तीस—बुद्ध—वयणातिसेसपत्ते, पणतीस-सच्च-वयणातिसे-सपत्ते, आगास-गएणं चक्केणं, आगास-गएणं छत्तेणं, आगास-गयाहिं सेय-चामराहिं, आगास-फलिहा-मएणं, सपायपीढेणं, सीहासणेणं, धम्मज्झएणं पुरओ पकढिज्जमाणेणं, चउद्दसहिं समण—सहस्सीहिं,

छत्तीसाए अज्जिया-सहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे) समोसरिए।

परिसा निग्गया। कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जाव (जेणेव दूइपलासए चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयरातिसेसे पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थि-रयणं ठवेइ, ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थि-रयणाओ पच्चोरुहइ, आभिसेक्काओ हत्थि-रयणाओ पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पंच-राय-ककुहाइं, तं जहा—खग्गं, छत्तं उप्फेसं, वाहणाओ, बालवीयणं, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव, उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तं जहा—सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडियं उत्तरासंगं करणेणं, चक्खुफासे अंजलि-पग्गहेणं, मणसो एगत्त-भाव-करणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ, तं जहा—काइआए, वाइआए, माणसिआए। काइआए ताव संकुइयग्गहत्थ-पाए, सुस्सू-समाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ, वाइआए—जं जं भगवं वागरेइ, तं तं एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेयं भंते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते! से जहेयं तुब्भे वदह, अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ, माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्व-धम्माणुराग-रत्ते) पज्जुवासइ।

उस समय श्रमण—घोर तप या साधना रूप श्रम में निरत, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न, महावीर—उपद्रवों तथा विघ्नो के बीच साधना-पथ पर वीरतापूर्वक अविचल भाव से गतिमान् [आदिकर—अपने युग मे धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ-धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वय सबुद्ध—स्वय-बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुष सिंह-आत्मशौर्य मे पुरुषों मे सिंह-सदृश, पुरुषवर-पुंडरीक-मनुष्यो में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप—आसक्तिशून्य, पुरुषवर-गधहस्ती—पुरुषो में उत्तम गन्धहस्ती के सदृश-जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुंचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र मे जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, अभयप्रदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद-सपूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नही करने वाले, चक्षु-प्रदायक-आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्ग-प्रदायक सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणप्रद—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनप्रद—आध्यात्मिक जीवन के सबल, दीपक सदृश समस्त वस्तुओ के प्रकाशक अथवा ससार-सागर मे भटकते जनों के लिए द्वीप के समान आश्रयस्थान, प्राणियो के लिए आध्यात्मिक उद्बोधन के नाते शरण, गति एवं आधारभूत, चार अन्त-सीमा युक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, प्रतिघात—बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक-राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—ससार-सागर को पार कर जानेवाले, तारक—ससार-सागर से पार उतारने वाले, मुक्त—बाहरी और भीतरी ग्रंथियों से

छूटे हुए, मोचक—दूसरों को छुड़ाने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति पाने के लिए संप्रवृत्त, अर्हत्—पूजनीय, रागादिविजेता, जिन, केवली—केवलज्ञान युक्त, सात हाथ की दैहिक ऊंचाई से युक्त, समचौरस-संस्थान-संस्थित, वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—अस्थिबन्ध युक्त, देह के अन्तवर्ती पवन के उचित वेग-गतिशीलता से युक्त, कंक पक्षी की तरह निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर की तरह पाचनशक्ति युक्त, उनका अपान-स्थान उसी तरह निर्लेप था जैसे पक्षी का, पीठ और पेट के बीच के दोनों पार्श्व तथा जंघाएं सुपरिणत-सुन्दर-सुगठित थीं, उनका मुख पद्म-कमल अथवा पद्म नामक सुगन्धित द्रव्य तथा उत्पल—नील कमल या उत्पलकुष्ट नामक सुगन्धित द्रव्य जैसी सुरभिमय निःश्वास से युक्त था, छवि-उत्तम छविमान्-उत्तम त्वचा युक्त, नीरोग, उत्तम, प्रशस्त, अत्यन्त श्वेत मांस युक्त, जल्ल—कठिनाई से छूटने वाला मैल, मल्ल—आसानी से छूटनेवाला मैल, कलंक—दाग, धब्बे, स्वेद—पसीना तथा रज-दोष—मिट्टी लगने से विकृति-वर्जित शरीर युक्त, अतएव निरुपलेप—अत्यन्त स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अंगयुक्त, अत्यधिक सघन, सुबद्ध स्नायुबंध सहित, उत्तम लक्षणमय पर्वत के शिखर के समान उन्नत उनका मस्तक था, बारीक रेशों से भरे सेमल के फल के फटने से निकलते हुए रेशों जैसी कोमल, विशद, प्रशस्त, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण—मुलायम, सुरभित, सुन्दर, भुजमोचक, नीलम, भिंग नील, कज्जल प्रहृष्ट—सुपुष्ट भ्रमरवृन्द जैसे चमकीले काले, घने, घुंघराले, छल्लेदार केश उनके मस्तक पर थे, जिस त्वचा पर उनके बाल उगे हुए थे, वह अनार के फूल तथा सोने के समान दीप्तिमय, लाल, निर्मल और चिकनी थी, उनका उत्तमांग—मस्तक का ऊपरी भाग सघन, भरा हुआ और छत्राकार था, उनका ललाट निर्व्रण-फोड़े-फुन्सी आदि के घाव—चिह्न से रहित, समतल तथा सुन्दर एव शुद्ध अर्द्ध चन्द्र के सदृश भव्य था, उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य था, उनके कान मुख के साथ सुन्दर रूप में संयुक्त और प्रमाणोपेत—समुचित आकृति के थे, इसलिए वे बड़े सुन्दर लगते थे, उनके कपोल मांसल और परिपुष्ट थे, उनकी भौहें कुछ खींचे हुए धनुष के समान सुन्दर-टेढ़ी, काले बादल की रेखा के समान कृश—पतली, काली एवं स्निग्ध थीं, उनके नयन खिले हुए पुंडरीक-सफेद कमल के समान थे, उनकी आंखें पद्म—कमल की तरह विकसित धवल तथा पत्रल—बरौनी युक्त थी, उनकी नासिका गरुड़ की तरह—गरुड़ की चोंच की तरह लम्बी, सीधी और उन्नत थी, संस्कारित या सुघटित मूंगे की पट्टी-जैसे या बिम्ब फल के सदृश उनके होठ थे, उनके दांतों की श्रेणी निष्कलंक चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल से भी निर्मल शंख, गाय के दूध, फेन, कुंद के फूल, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी, दांत अखंड, परिपूर्ण, अस्फुटित—सुदृढ़, टूट-फूट रहित, अविरल—परस्पर सटे हुए, सुस्निग्ध—चिकने—आभामय सुजात—सुन्दराकार थे, अनेक दांत एक दन्त-श्रेणी की तरह प्रतीत होते थे, जिह्वा और तालु अग्नि में तपाये हुए और जल से धोये हुए स्वर्ण के समान लाल थे, उनकी दाढ़ी-मूंछ अवस्थित-कभी नहीं बढ़ने वाली, सुविभक्त बहुत हलकी-सी तथा अद्भुत सुन्दरता लिए हुए थी, ठुड्डी मांसल—सुगठित, सुपुष्ट, प्रशस्त तथा चीते की तरह विपुल—विस्तीर्ण थी, ग्रीवा—गर्दन चार अंगुल प्रमाण—चार अंगुल चौड़ी तथा उत्तम शंख के समान त्रिबलियुक्त एवं उन्नत थी, उनके कन्धे प्रबल भैंसे, सूअर, सिंह, चीते, सांड के तथा उत्तम हाथी के कन्धों जैसे परिपूर्ण एवं विस्तीर्ण थे, उनकी भुजाएं युग-गाड़ी के जुए अथवा यूप—यज्ञ

स्तम्भ—खूंटे की तरह गोल और लम्बे, सुदृढ़, देखने में आनन्दप्रद, सुपुष्ट कलाइयों से युक्त, सुश्लिष्ट—सुसगत, विशिष्ट, घन—ठोस, स्थिर, स्नायुओं से यथावत् रूप में सुबद्ध तथा नगर की अर्गला—आगल के समान गोलाई लिए हुई थी, इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए नागराज के फैले हुए विशाल शरीर की तरह उनके दीर्घ बाहु थे, उनके पाणि—कलाई से नीचे के हाथ के भाग उन्नत, कोमल, मासल तथा सुगठित थे, शुभ लक्षणो से युक्त थे, अगुलियाँ मिलाने पर उनमें छिद्र दिखाई नही देते थे, उनके तल—हथेलियाँ ललाई लिए हुए थी, हाथो की अगुलियाँ पुष्ट और सुकोमल थीं, उनके नख तांबे की तरह कुछ-कुछ ललाई लिए हुए, पतले, उजले, रुचिर—देखने में रुचिकर, स्निग्ध, सुकोमल थे, उनकी हथेली में चन्द्र, सूर्य, शख, चक्र, दक्षिणावर्त स्वस्तिक की शुभ रेखाएं थी, उनका वक्षस्थल—सौना स्वर्ण-शिला के तल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, उपचित—मासल, विस्तीर्ण—चौडा, पृथुल—[विशाल] था, उस पर श्रीवत्स—स्वस्तिक का चिह्न था, देह की मासलता या परिपुष्टता के कारण रीढ की हड्डी नही दिखाई देती थी, उनका शरीर स्वर्ण के समान कान्तिमान्, निर्मल, सुन्दर, निरुपहत—रोग-दोष-वर्जित था, उसमे उत्तम पुरुष के १००८ लक्षण पूर्णतया विद्यमान थे, उनकी देह के पार्श्व भाग—पसवाडे नीचे की ओर क्रमश. सकडे, देह के प्रमाण के अनुरूप, सुन्दर, सुनिष्पन्न, अत्यन्त समुचित परिमाण मे मासलता लिए हुए मनोहर थे, उनके वक्ष और उदर पर सीधे, समान, संहित—एक दूसरे से मिले हुए, उत्कृष्ट कोटि के, सूक्ष्म—हलके, काले, चिकने, उपादेय—उत्तम, लावण्यमय, रमणीय बालो की पक्ति थी, उनके कुक्षि-प्रदेश—उदर के नीचे के दोनो पार्श्व मत्स्य और पक्षी के समान सुजात—सुनिष्पन्न—सुन्दर रूप मे रचित तथा पीन—परिपुष्ट थे, उनका उदर मत्स्य के जैसा था, उनके उदर का करण—आन्त्र-समूह शुचि-स्वच्छ-निर्मल था, उनकी नाभि कमल की तरह विकट—गूढ, गगा के भवर की तरह गोल, दाहिनी ओर चक्कर काटती हुई तरगो की तरह घुमावदार, सुन्दर, चमकते हुए सूर्य की किरणो से विकसित होते कमल के समान खिली हुई थी तथा उनकी देह का मध्यभाग त्रिकाष्ठिका, मूसल व दर्पण के हत्थे के मध्य-भाग के समान, तलवार की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र के समान गोल और पतला था, प्रमुदित—रोग, शोकादि रहित—स्वस्थ, उत्तम घोडे तथा उत्तम सिंह की कमर के समान उनकी कमर गोल घेराव लिए थी, उत्तम घोडे के सुनिष्पन्न गुप्ताग की तरह उनका गुह्य भाग था, उत्तम जाति के अश्व की तरह उनका शरीर 'मलमूत्र' विसर्जन की अपेक्षा से निर्लेप था, श्रेष्ठ हाथी के तुल्य पराक्रम और गम्भीरता लिए उनकी चाल थी, हाथी की सूंड की तरह उनकी दोनो जंघाए सुगठित थीं, उनके घुटने डिब्बे के ढक्कन की तरह निगूढ थे—मासलता के कारण अनुन्नत—बाहर नही निकले हुए थे, उनकी पिण्डलियाँ हरिणी की पिण्डलियो, कुरुविन्द घास तथा कते हुए सूत की गेढी की तरह क्रमश: उतार सहित गोल थी, उनके टखने सुन्दर, सुगठित और निगूढ थे, उनके चरण—पैर सुप्रतिष्ठित—सुन्दर रचनायुक्त तथा कछुवे की तरह उठे हुए होने से मनोज्ञ प्रतीत होते थे, उनके पैरों की अंगुलियाँ क्रमश: आनुपातिक रूप में छोटी-बड़ी एवं सुसहत—सुन्दर रूप में एक दूसरे से सटी हुई थी, पैरों के नख उन्नत, पतले, तांबे की तरह लाल, स्निग्ध—चिकने थे, उनकी पगथलियाँ लाल कमल के पत्ते के समान मृदुल, सुकुमार तथा कोमल थी, उनके शरीर में उत्तम पुरुषों के १००८ लक्षण प्रकट थे, उनके चरण पर्वत, नगर, मगर, सागर तथा चक्र रूप उत्तम चिह्नों और स्वस्तिक आदि मगल—चिह्नो से अकित थे, उनका रूप विशिष्ट—असाधारण था, उनका तेज अग्नि की निर्धूम ज्वाला, विस्तीर्ण विद्युत तथा अभिनव सूर्य की किरणो के समान था, वे प्राणातिपात आदि आस्रव-रहित, ममता-

रहित थे, अकिंचन थे, भव-प्रवाह को उच्छिन्न कर चुके थे—जन्म-मरण से अतीत हो चुके थे, निरुपलेप—द्रव्य-दृष्टि से निर्मल देहधारी तथा भाव-दृष्टि से कर्मबन्ध के हेतु रूप उपलेप से रहित थे, प्रेम, राग, द्वेष और मोह का नाश कर चुके थे, निर्ग्रन्थ—प्रवचन के उपदेष्टा, धर्म-शासन के नायक—शास्ता, प्रतिष्ठापक तथा श्रमण-पति थे, श्रमणवृन्द से घिरे हुए थे, जिनेश्वरों के चौंतीस बुद्ध-अतिशयों से तथा पेंतीस सत्य-वचनातिशयों से युक्त थे, आकाशगत चक्र, छत्र [तीन], आकाशगत चवर, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक से बने पादपीठ सहित सिहासन, धर्मध्वज—ये उनके आगे चल रहे थे, चौदह हजार साधु तथा छत्तीस हजार साध्वियो से संपरिवृत—घिरे हुए थे, आगे से आगे चलते हुए, एक गाव से दूसरे गाव होते हुए सुखपूर्वक विहार करते हुए, भगवान् वाणिज्यग्राम नगर में दूतीपलाश चैत्य में पधारे। ठहरने के लिए यथोचित स्थान ग्रहण किया, संयम व तप से आत्मा को अनुभावित करते हुए विराजमान हुए-टिके, परिषद् जुड़ी, राजा जितशत्रु राजा कूणिक की तरह भगवान् के दर्शन, वन्दन के लिए निकला, [दूतीपलाश चैत्य में आया।] आकर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट—समुचित स्थान पर रुका। तीर्थंकरो के छत्र आदि अतिशयों को देख कर अपनी सवारी के प्रमुख उत्तम हाथी को ठहराया, हाथी से नीचे उतरा, उतर कर तलवार, छत्र, मुकुट, चवर—इन राज-चिह्नो को अलग किया, जूते उतारे। भगवान् महावीर जहा थे वहा आया। आकर, सचित्त—पदार्थों का व्युत्सर्जन—अलग करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन—अलग न करना अखण्ड—अनसिले वस्त्र—का उत्तरासग—उत्तरीय की तरह कन्धे पर डाल कर धारण करना, धर्म-नायक पर दृष्टि पडते ही हाथ जोडना, मन को एकाग्र करना—इन पांच नियमों के अनुपालनपूर्वक राजा जितशत्रु भगवान् के सम्मुख गया। भगवान् को तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा कर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना, नमस्कार कर कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना के रूप में हाथ—पैरो को सकुचित किए हुए—सिकोडे हुए, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा करते हुए, नमन करते हुए भगवान् की ओर मुंह किये, विनय से हाथ जोड़े हुए स्थित रहा। वाचिक पर्युपासना के रूप मे—जो-जो भगवान् बोलते थे, उसके लिए यह ऐसा ही है भन्ते! यही तथ्य है भगवन्! यही सत्य है प्रभो! यही सन्देह-रहित है स्वामी! यही इच्छित है भन्ते! यही प्रतीच्छित—स्वीकृत है, प्रभो! यही इच्छित—प्रतीच्छित है भन्ते! जैसा आप कह रहे हैं! इस प्रकार अनुकूल वचन बोलता रहा। मानसिक पर्युपासना के रूप में अपने में अत्यन्त सवेग—मुमुक्षु भाव उत्पन्न करता हुआ तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त रहा।

आनन्द द्वारा वन्दन

१०. तए णं से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु समणे जाव (भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसढे, इहेव वाणियगामस्स नयरस्स बहिया दूइपलासए चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ, तं महप्फलं जाव (खलु भो ! देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णाम-गोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासण-याए ! एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? तं गच्छामि णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि)—

एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर-परिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता सकोरेण्ट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स-वग्गुरा-परिक्खित्ते पाय-विहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ जाव[1] पज्जुवासइ ।

तब आनन्द गाथापति को इस वार्ता से-प्रसंग से नगर के प्रमुख जनों को भगवान् की वन्दना के लिए जाते देखकर ज्ञात हुआ, श्रमण भगवान् महावीर [यथाक्रम आगे से आगे विहार करते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए—एक गाव से दूसरे गांव का स्पर्श करते हुए यहा आए हैं, सप्राप्त हुए हैं, समवसृत हुए हैं—पधारे हैं । यही वाणिज्यग्राम नगर के बाहर दूतीपलाश चैत्य में यथोचित स्थान में टिके हैं,] संयम और तपपूर्वक आत्म-रमण में लीन हैं । इसलिए मैं उनके दर्शन का महान् फल प्राप्त करूं । [ऐसे अर्हत् भगवान् के नाम, गोत्र का सुनना भी बहुत बडी बात है, फिर अभिगमन—सम्मुख जाना, वन्दना, नमन, प्रतिपृच्छा—जिज्ञासा करना—उनसे पूछना, पर्युपासना करना—इनका तो कहना ही क्या ? सद्गुण-निष्पन्न, सद्धर्ममय एक सुवचन का श्रवण भी बहुत वड़ी बात है; फिर विपुल—विस्तृत अर्थ के ग्रहण की तो बात ही क्या ? इसलिए अच्छा हो, मैं जाऊ और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करूं, नमन करू, सत्कार करूं तथा सम्मान करूं । भगवान् कल्याण हैं, मंगल हैं, देव हैं, तीर्थ-स्वरूप हैं, इनकी पर्युपासना करू ।]

आनन्द के मन मे यों विचार आया । उसने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा-योग्य मागलिक वस्त्र अच्छी तरह पहने । थोड़े से किन्तु बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलकृत किया, अपने घर से निकला, निकल कर कुरंट-पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण किये हुए, पुरुषों से घिरा हुआ, पैदल चलता हुआ, वाणिज्यग्राम नगर के बीच में से गुजरा, जहा दूतीपलाश चैत्य था, भगवान् महावीर थे, वहा पहुंचा । पहुंचकर तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा की, वन्दन किया नमस्कार किया, पर्युपासना की ।

धर्म-देशना

११. तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्म-कहा (इसि-परिसाए, मुणि-परिसाए, जइ-परिसाए, देव-परिसाए, अणेग-सयाए, अणेग-सय-वंदाए, अणेय-सय-वंद-परिवाराए, ओहबले, अइबले, महब्बले, अपरिमिय-बल—वीरिय—तेय—माहप्प—कंतिजुत्ते, सारय-नवत्थणिय-महुर-गंभीर-कोंच-णिग्घोस-दुंदुभिस्सरे, उरे वित्थडाए, कंठेऽवट्ठियाए, सिरे समाइण्णाए, अगरलाए, अमम्मणाए, सव्वक्खर सन्निवाइयाए, पुण्णरत्ताए, सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए, जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ । सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमइ । तं जहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोया, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे,

१. देखें सूत्र-संख्या २

मेहुणे परिग्गहे । अत्थि कोहे, माणे, माया, लोभे जाव (पेज्जे, दोसे, कलहे, अब्भक्खाणे, पेसुण्णे, परपरिवाए अरइरई, मायामोसे,) मिच्छा-दंसण-सल्ले, अत्थि पाणाइवाय-वेरमणे, मुसावाय-वेरमणे, अदिण्णादाण-वेरमणे, मेहुण-वेरमणे, परिग्गह-वेरमणे जाव मिच्छा-दंसण-सल्ल-विवेगे । सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वयति, सव्वं णत्थि-भावं णत्थित्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण-फला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्ण-पावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाण-पावए ।

धम्ममाइक्खइ—इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलिए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेयाउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे णिज्जाणमग्गे, णिव्वाणमग्गे, अवितहमविसंधि सव्वदुक्ख-प्पहीण-मग्गे । इहट्ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति । एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्व-कम्मावसेसेण अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महिड्ढिएसु जाव महासुक्खेसु दूरंगइएसु चिरट्ठिइएसु । तेणं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया जाव चिरट्ठिइया हार-विराइयवच्छा जाव पभासेमाणा, कप्पोवगा गतिकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसि भद्दा जाव पडिरूवा तमाइक्खइ ।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तं जहा—महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं । एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्ख-जोणिएसु माइल्लयाए, णियडिल्लयाए, अलिय-वयणेणं, उक्कंचणाए, वंचणयाए । मणुस्सेसु पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए । देवेसु सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, अकामणिज्जराए, बालतवो-कम्मेणं । तमाइक्खइ—

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जाय-वेयणा णरए ।
सारीर-माणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ।।
माणुस्सं च अणिच्चं, वाहि-जरा-मरण-वेयणा-पउरं ।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देव-सोक्खाइं ।।
णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे य सिद्ध-वसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ।।
जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति ।
जह दुक्खाणं अंतं, करेंति केई य अपडिबद्धा ।।
अट्ट-दुहट्टिय-चित्ता, जह जीवा दुक्ख-सागरमुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्म-समुग्गं विहाडेंति ।।
जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावओ फल-विवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ।।

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा—अगार-धम्मं अणगार-धम्मं च । अणगार-धम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ, सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसा-वायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइ-भोयणाओ वेरमणं । अयमाउसो ! अणगार-सामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ ।

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं तं जहा—अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं तं जहा—सामाइयं देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहि-संविभागे, अपच्छिमा-मारणंतिया-संलेहणा-झूसणाराहणा, अयमाउसो! अगार-सामाइए धम्मे पण्णत्ते एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।

तए णं सा महइमहालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-तुट्ठा चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवस-विसप्पमाण-हियया उट्ठाए, उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा। अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए ते भंते! निग्गंथे पावयणे, एवं सुपण्णत्ते, सुभासिए, सुविणीए, सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते! णिग्गंथे पावयणे। धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह। उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह। विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह। वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह। णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए। किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं! एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया) राया य गओ

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने आनन्द गाथापति तथा महती परिषद् को धर्मोपदेश किया। [भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुनने को उपस्थित परिषद् में ऋषि—द्रष्टा—अतिशय ज्ञानी साधु, मुनि—मौनी या वाक्‌संयमी साधु, यति—चारित्र के प्रति अति यत्नशील श्रमण, देवगण तथा सैकड़ों-सैकड़ो श्रोताओं के समूह उपस्थित थे।]

ओघ बली [अव्यवच्छिन्न या एक समान रहने वाले बल के धारक, अतिबली—अत्यधिक बल—सम्पन्न, महाबली,—प्रशस्त बलयुक्त, अपरिमित—असीम वीर्य—आत्मशक्तिजनित बल, तेज, महत्ता तथा कांतियुक्त, शरत्काल के नूतन मेघ के गर्जन, क्रौंच पक्षी के निर्घोष तथा नगाडे की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर स्वर युक्त भगवान् महावीर ने हृदय में विस्तृत होती हुई, कंठ में अवस्थित होती हुई तथा मूर्धा में परिव्याप्त होती सुविभक्त अक्षरो को लिए हुए—पृथक्-पृथक् स्व-स्व स्थानीय उच्चारणयुक्त अक्षरो सहित, अस्पष्ट उच्चारण वर्जित या हकलाहट से रहित, सुव्यक्त अक्षर-सन्निपात—वर्ण-संयोग—वर्णों की व्यवस्थित शृंखला लिए हुए, पूर्णता तथा स्वर—माधुरीयुक्त, श्रोताओ की सभी भाषाओ में परिणत होने वाली वाणी द्वारा एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर में, अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का परिकथन किया। उपस्थित सभी आर्य-अनार्य जनों को अग्लान भाव से—बिना परिश्रान्त हुए धर्म का आख्यान किया। भगवान् द्वारा उद्‌गीर्ण अर्द्धमागधी भाषा उन सभी आर्यों और अनार्यों की भाषाओं में परिणत हो गई।

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, वह इस प्रकार है—

लोक का अस्तित्व है, अलोक का अस्तित्व है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अर्हंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नैरयिक, तिर्यंचयोनि, तिर्यंचयोनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण—कर्मजनित आवरण के क्षीण होने से आत्मिक स्वस्थता—परम शान्ति, परिनिर्वृत्त—परिनिर्वाण युक्त व्यक्ति—इनका अस्तित्व है। प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, [प्रेम—अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान व क्रोध जनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-झगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य—चुगली अथवा पीठ पीछे किसी के होते-अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, पर-परिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना,] यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है।

प्राणातिपात-विरमण—हिंसा से विरत होना, मृषावादविरमण—असत्य से विरत होना, अदत्तादानविरमण—चोरी से विरत होना, मैथुनविरमण—मैथुन से विरत होना, परिग्रहविरमण—परिग्रह से विरत होना, यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक—मिथ्या विश्वास रूप कांटे का यथार्थ ज्ञान होना और त्यागना यह सब है—

सभी अस्तिभाव—अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से अस्तित्व का अस्ति रूप से और सभी नास्तिभाव—पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तित्व का नास्ति रूप से प्रतिपादन करते है। सुचीर्ण—सुन्दर रूप में—प्रशस्त रूप में सपादित दान, शील तप आदि कर्म सुचीर्ण—उत्तम फल देने वाले हैं तथा दुश्चीर्ण—अप्रशस्त—पापमय कर्म अशुभ—दुःखमय फल देने वाले हैं। जीव पुण्य तथा पाप का स्पर्श करता है, बन्ध करता है। जीव उत्पन्न होते हैं—संसारी जीवो का जन्म-मरण है। कल्याण—शुभ कर्म, पाप—अशुभ कर्म फलयुक्त हैं, निष्फल नही होते।

प्रकारान्तर से भगवान् धर्म का आख्यान—प्रतिपादन करते हैं—यह निर्ग्रन्थप्रवचन, जिनशासन अथवा प्राणी की अन्तर्वर्ती ग्रन्थियों को छुडाने वाला आत्मानुशासनमय उपदेश सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, केवल—अद्वितीय है अथवा केवली—सर्वज्ञ द्वारा भाषित है, संशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण—प्रवचन-गुणों में सर्वथा परिपूर्ण है, नैयायिक—न्याय-संगत है—प्रमाण से अबाधित है तथा शल्य-कर्तन—माया आदि शल्य—कांटो का निवारक है, यह सिद्धि-कृतार्थता या सिद्धावस्था प्राप्त करने का मार्ग—उपाय है, मुक्ति—कर्म रहित अवस्था या निर्लोभता का मार्ग—हेतु है, निर्याण—पुनः नही लौटाने वाले जन्म-मरण के चक्र में नही गिराने वाले गमन का मार्ग है, निर्वाण—सकल सताप-रहित अवस्था प्राप्त करने का पथ है, अवितथ—सद्भूतार्थ—वास्तविक, अविसन्धि—विच्छेदरहित तथा सब दुःखों को प्रहीण—सर्वथा क्षीण करने का मार्ग है। इसमें स्थित जीव सिद्धि—सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं अथवा अणिमा आदि महती सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, बुद्ध—ज्ञानी केवल-ज्ञानी होते हैं, मुक्त—भवोपग्राही—जन्म-मरण में लाने वाले कर्मांश में रहित हो जाते हैं, परिनिर्वृत होते हैं—कर्मकृत संताप से रहित—परम शान्तिमय हो जाते हैं तथा सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं। एकार्च्चा—जिनके एक ही मनुष्य-भव धारण करना बाकी रहा है, ऐसे भवन्त—कल्याणान्वित अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के भक्त पूर्व कर्मों के बाकी रहने से किन्हीं देवलोकों में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे देवलोक महर्द्धिक—

विपुल ऋद्धियों से परिपूर्ण, अत्यन्त सुखमय दूरगतिक—दूर गति से युक्त एवं चिरस्थितिक—लम्बी स्थिति वाले होते हैं। वहाँ देव रूप में उत्पन्न वे जीव अत्यन्त ऋद्धि-सम्पन्न तथा चिर स्थिति—दीर्घ आयुष्य युक्त होते हैं। उनके वक्षस्थल हारों से सुशोभित होते हैं, वे अपनी दिव्य प्रभा से दसों दिशाओं को प्रभासित—उद्योतित करते हैं। वे कल्पोपग देवलोक में देव-शय्या से युवा के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे वर्तमान में उत्तम देवगति के धारक तथा भविष्य में भद्र—कल्याण—निर्वाण रूप अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं, असाधारण रूपवान् होते हैं।

भगवान् ने आगे कहा—जीव चार स्थानों—कारणों से—नैरयिक—नरकयोनि का आयुष्य बन्ध करते हैं, फलतः वे विभिन्न नरको में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार है—१. महाआरम्भ—घोर हिंसा के भाव व कर्म, २. महापरिग्रह—अत्यधिक सग्रह के भाव व वैसा आचरण, ३. पचेन्द्रिय-वध—मनुष्य, तिर्यंच—पशु पक्षी आदि पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों का हनन तथा ४. मास-भक्षण।

इन कारणों से जीव तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होते है—१. मायापूर्ण निकृति—छलपूर्ण जालसाजी, २. अलीक वचन—असत्य भाषण, ३. उत्कचनता—झूठी प्रशसा या खुशामद अथवा किसी मूर्ख व्यक्ति को ठगने वाले धूर्त का समीपवर्ती विचक्षण पुरुष के संकोच से कुछ देर के लिए निश्चेष्ट रहना या अपनी धूर्तता को छिपाए रखना, ४. वचनता—प्रतारणा या ठगी।

इन कारणो से जीव मनुष्ययोनि में उत्पन्न होते हैं—

१. प्रकृति-भद्रता—स्वाभाविक भद्रता—भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशंका न हो, २. प्रकृति-विनीतता—स्वाभाविक विनम्रता, ३. सानुक्रोशता—सदयता, करुणाशीलता तथा ४. अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणों से जीव देवयोनि में उत्पन्न होते हैं—

१. सरागसंयम—राग या आसक्तियुक्त चारित्र अथवा राग के क्षय से पूर्व का चारित्र, २. सयमासंयम—देशविरति—श्रावकधर्म, ३. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की अभिलाषा के बिना या विवशतावश कष्ट सहना, ४. बाल-तप—मिथ्यात्वी या अज्ञानयुक्त अवस्था मे तपस्या।

तत्पश्चात्—जैसे नरक मे जाते है, जो नरक हैं और वहाँ नैरयिक जैसी वेदना पाते हैं तथा तिर्यंचयोनि में गये हुए जीव जैसा शारीरिक और मानसिक दुःख प्राप्त करते हैं उसे भगवान् बताते हैं। मनुष्य जीवन अनित्य है, उसमें व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु और वेदना के प्रचुर कष्ट हैं। देवलोक में देव दैवी ऋद्धि और दैवी सुख प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने नरक, नरकावास, तिर्यञ्च, तिर्यञ्च के आवास, मनुष्य, मनुष्य लोक, देव, देवलोक, सिद्ध, सिद्धालय, एवं छह जीवनिकाय का विवेचन किया। जिस प्रकार जीव बधते हैं—कर्म-बन्ध करते हैं, मुक्त होते हैं, परिक्लेश पाते हैं, कई अप्रतिबद्ध—अनासक्त व्यक्ति दुःखो का अन्त करते हैं, पीडा, वेदना व आकुलतापूर्ण चित्तयुक्त जीव दुःख-सागर को प्राप्त करते हैं, वैराग्य-प्राप्त जीव कर्म-दल को ध्वस्त करते हैं, रागपूर्वक किये गए कर्मों का फलविपाक पापपूर्ण होता है, कर्मों से सर्वथा रहित होकर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं—यह सब [भगवान् ने] आख्यात किया।

आगे भगवान् ने बतलाया—धर्म दो प्रकार का है—आगार-धर्म और अनगार-धर्म। अनगार-धर्म में साधक सर्वतः सर्वात्मना—सम्पूर्ण रूप में, सर्वात्मभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग

करता हुआ मुंडित होकर, गृहवास से अनगार दशा—मुनि-अवस्था में प्रव्रजित होता है। वह सम्पूर्णतः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है ।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! यह अनगारों के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है। इस धर्म की शिक्षा—अभ्यास या आचरण में उपस्थित—प्रयत्नशील रहते हुए निर्ग्रन्थ—साधु या निर्ग्रन्थी —साध्वी आज्ञा [अर्हत्-देशना] के आराधक होते हैं ।

भगवान् ने अगारधर्म १२ प्रकार का बतलाया—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत। ५ अणुव्रत इस प्रकार हैं—१. स्थूल—मोटे तौर पर, अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना, २. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, ३. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना ४. स्वदारसंतोष—अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा, ५. इच्छा—परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण ।

३ गुणव्रत इस प्रकार हैं—१.अनर्थदंड-विरमण—आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, २. दिग्व्रत—विभिन्न दिशाओं में जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या सीमाकरण, ३. उपभोग-परिभोग-परिमाण—उपभोग—जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुएं—जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग जिन्हें एक ही बार भोगा जा सके—जैसे भोजन आदि—इनका परिमाण—सीमाकरण । ४ शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—१. सामायिक—समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय [न्यूनतम एक मुहूर्त—४८ मिनट] में किया जाने वाला अभ्यास, २. देशावकासिक—नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की वृद्धि का अभ्यास ३. पोषधोप-वास—अध्यात्म-साधना में अग्रसर होने के हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा ४. अतिथि-सविभाग—जिनके आने की कोई तिथि नही, ऐसे अनिमन्त्रित संयमी साधक या साधर्मिक बन्धुओ को सयमोपयोगी एव जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाग आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप सलेखना-तपश्चरण, आमरण अनशन की आराधनापूर्वक देहत्याग श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! यह गृही साधकों का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनु-सरण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक—श्रावक या श्रमणोपासिका—श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

तब वह विशाल मनुष्य-परिषद् श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर, हृदय में धारण कर, हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुई, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव किया, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय होकर उठी, उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा, वन्दन-नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार कर उसमें से कई गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुंडित होकर, अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित—दीक्षित हुए। कइयों ने पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहि-धर्म—श्रावक-धर्म स्वीकार किया। शेष परिषद् ने श्रमण भगवान् महावीर को वदन किया, नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर कहा—भगवन् ! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित

—अन्तेवासियों द्वारा सहज रूप में अंगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावों से युक्त निर्ग्रन्थ-प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम-क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियों के त्याग का स्वरूप समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहां? यों कहकर वह परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी ओर वापस लौट गई।] राजा भी लौट गया।

आनन्द की प्रतिक्रिया

१२. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव (चित्तमाणंदिए पीइ-मणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता) एवं वयासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं, भंते! तहमेयं, भंते! अवितहमेयं, भंते! इच्छियमेयं, भंते! पडिच्छियमेयं, भंते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते! से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-सेट्ठि-सेणावई-सत्थवाहप्पभिइआ मुण्डा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव (भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

तब आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हर्षित व परितुष्ट होता हुआ यावत् [चित्त में आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसितहृदय होकर उठा, उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर] यों बोला—भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धा है, विश्वास है। निर्ग्रन्थ-प्रवचन मुझे रुचिकर हैं। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है, इच्छित है, प्रतीच्छित [स्वीकृत] है, इच्छित-प्रतीच्छित है। यह वैसा ही है, जैसा आपने कहा। देवानुप्रिय! जिस प्रकार आपके पास अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सेनापति एवं सार्थवाह आदि मुंडित होकर, गृह-वास का परित्याग कर अनगार के रूप में प्रव्रजित हुए, मैं उस प्रकार मुंडित होकर [गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर अनगारधर्म में] प्रव्रजित होने में असमर्थ हूं, इसलिए आपके पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत मूलक बारह प्रकार का गृहीधर्म—श्रावक-धर्म ग्रहण करना चाहता हूं।

आनन्द के यों कहने पर भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिससे तुमको सुख हो, वैसा ही करो, पर विलम्ब मत करो।

व्रत-ग्रहण

अहिंसा व्रत

१३. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं

पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ।

तब आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रथम या मुख्य स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा का प्रत्याख्यान—परित्याग किया, इन शब्दों में—

मैं जीवन पर्यन्त दो करण—कृत व कारित अर्थात् करना, कराना तथा तीन योग—मन, वचन एवं काया से स्थूल हिंसा का परित्याग करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन से तथा शरीर से स्थूल हिंसा न करूंगा और न कराऊंगा ।

सत्य व्रत

१४. तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ।

तदनन्तर उसने स्थूल मृषावाद—असत्य का परित्याग किया, इन शब्दों में—

मैं जीवन भर के लिए दो करण और तीन योग से स्थूल मृषावाद का परित्याग करता हूँ अर्थात् मैं मन से, वचन से तथा शरीर से न स्थूल असत्य का प्रयोग करूंगा और न कराऊंगा ।

अस्तेय व्रत

१५. तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ।

उसके बाद उसने स्थूल अदत्तादान—चोरी का परित्याग किया । इन शब्दों में—

मैं जीवन भर के लिए दो करण और तीन योग से स्थूल चोरी का परित्याग करता हूं अर्थात् मैं मन से, वचन से तथा शरीर से न स्थूल चोरी करूंगा न कराऊंगा ।

स्वदार-सन्तोष

१६. तयाणंतरं च णं सदार-संतोसिए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवनंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ।

फिर उसने स्वदारसन्तोष व्रत के अन्तर्गत मैथुन का परिमाण किया । इन शब्दों में—

अपनी एकमात्र पत्नी शिवनन्दा के अतिरिक्त अवशेष समग्र मैथुनविधि का परित्याग करता हूं ।

इच्छा-परिमाण

१७. तयाणंतरं च णं इच्छा-विहि-परिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाणपउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढिपउत्ताहिं, चउहिं पवित्थर-पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि ।

तब उसने इच्छाविधि—परिग्रह का परिमाण करते हुए स्वर्ण-मुद्राओं के विषय में इस प्रकार सीमाकरण किया—

निधान-निहित चार करोड स्वर्ण-मुद्राओ, व्यापार-प्रयुक्त चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर व घर के उपकरणों में प्रयुक्त चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राओ के अतिरिक्त मैं समस्त स्वर्ण-मुद्राओं का परित्याग करता हू ।

१८. तयाणंतरं च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वएहिं दस गोसाहस्सिएणं वएणं, अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि ।

फिर उसने चतुष्पद-विधि—चौपाए पशुरूप सपत्ति के सबध में परिमाण किया—

दस-दस हजार के चार गोकुलो के अतिरिक्त मैं बाकी सभी चौपाए पशुओं के परिग्रह का परित्याग करता हू ।

१९. तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं हलसएहिं नियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि ।

फिर उसने क्षेत्र—वास्तु-विधि का परिमाण किया—सौ निवर्तन [भूमि के एक विशेष माप] के एक हल के हिसाब से पांच सौ हलो के अतिरिक्त मैं समस्त क्षेत्र—वास्तुविधि का परित्याग करता हूं ।

विवेचन

खेत [क्षेत्र] का अर्थ खेत या खेती करने की भूमि अर्थात् खुली उघाडी भूमि है । प्राकृत का 'वत्थु' शब्द संस्कृत में 'वस्तु' भी हो सकता है, 'वास्तु' भी । वस्तु का अर्थ चीज अर्थात् बर्तन, खाट, टेबल, कुर्सी, कपड़े आदि रोजाना काम में आनेवाले उपकरण हैं । वास्तु का अर्थ भूमि, बसने की जगह, मकान या आवास है । यहाँ 'वत्थु' का तात्पर्य गाथापति आनन्द की मकान आदि संबधी भूमि से है ।

आनन्द की खेती की जमीन के परिमाण के सन्दर्भ मे यहाँ 'नियत्तण-सइएणं' [निवर्तन-शतिकेन] पद का प्रयोग करते हुए सौ निवर्तनों की एक इकाई को एक हल की जमीन कहा गया है, जिसे आज की भाषा में बीघा कहा जा सकता है ।

प्राचीन काल में 'निवर्तन' भूमि के एक विशेष माप के अर्थ में प्रयुक्त रहा है । बीस बास या दो सौ हाथ लम्बी-चौड़ी [२०० X २०० = ४००० वर्ग हाथ] भूमि को निवर्तन कहा जाता था ।[1]

२०. तयाणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहिं, पञ्चहिं सगड-सएहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि ।

तत्पश्चात् उसने शकटविधि—गाड़ियो के परिग्रह का परिमाण किया—

पांच सौ गाड़ियां दिग्—यात्रिक—बाहर यात्रा में, व्यापार आदि मे प्रयुक्त तथा पाच सौ

---

१. संस्कृत—इगलिश डिक्शनरी · सर मोनियर विलियम्स, पृष्ठ ५६०

गाड़ियां घर संबंधी माल-असबाब ढोने आदि में प्रयुक्त—के सिवाय मैं सब गाड़ियों के परिग्रह का परित्याग करता हूं ।

२१. तयाणंतरं च णं वाहणविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि ।

फिर उसने वाहनविधि—जलयान रूप परिग्रह का परिमाण किया—

चार वाहन दिग्-यात्रिक तथा चार गृह-उपकरण के संदर्भ में प्रयुक्त—के सिवाय मैं सब प्रकार के वाहन रूप परिग्रह का परित्याग करता हूं ।

उपभोग-परिभोग-परिमाण

२२. तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगाए गंध-कासाईए, अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ।

फिर उसने उपभोग-परिभोग-विधि का प्रत्याख्यान करते हुए भीगे हुए शरीर को पोछने में प्रयुक्त होने वाले अंगोछे—तौलिए आदि का परिमाण किया—

मैं सुगन्धित और लाल-एक प्रकार के अंगोछे के अतिरिक्त बाकी सभी अंगोछे रूप परिग्रह का परित्याग करता हू ।

२३. तयाणंतरं च णं दंतवणविहिपरिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं अल्ल-लट्ठीमहुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि ।

तत्पश्चात् उसने दतौन के सबध में परिमाण किया—

हरि् मुलहठी के अतिरिक्त मै सब प्रकार के दतौनों का परित्याग करता हूं ।

२४. तयाणंतरं च णं फलविहिपरिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं, अवसेसं फलविहिं पच्चक्खामि ।

तदनन्तर उसने फलविधि का परिमाण किया—

मैं क्षीर आमलक—दूधिया आंवले के सिवाय अवशेष फल-विधि का परित्याग करता हू ।

विवेचन

यहाँ फल-विधि का प्रयोग खाने के फलो के सन्दर्भ में नही है, प्रत्युत नेत्र मस्तक आदि के शोधन-प्रक्षालन के काम में आने वाले शुद्धिकारक फलो से है । आंवले की इस कार्य में विशेष उपयोगिता है । क्षीर आमलक या दूधिया आवले का तात्पर्य उस कच्चे मुलायम आंवले से है, जिसमें गुठली नही पड़ी हो और जो दूध की तरह मीठा हो ।

यहाँ फलविधि का प्रयोग बाल, मस्तक आदि के शोधन—प्रक्षालन के काम में आनेवाले

पुष्टिकारक फलों के उपयोग के अर्थ में है। आंवले की इस कार्य में विशेष उपादेयता है। बालों के लिए तो वह बहुत ही लाभप्रद है, एक टॉनिक है। आंवले में लोहा विशेष मात्रा में होता है। अतः बालों की जड़ को मजबूत बनाए रखना, उन्हे काला रखना उसका विशेष गुण है। बालों में लगाने के लिए बनाए जाने वाले तैलों में आंवले का तैल मुख्य है।

यहाँ आंवले में क्षीर आमलक या दूधिया आंवले का जो उल्लेख आया है, उसका भी अपना विशेष आशय है। क्षीर आमलक का तात्पर्य उस मुलायम, कच्चे आवले से है, जिसमें गुठली नहीं पड़ी हो, जो विशेष खट्टा नहीं हो, जो दूध जैसा मिठास लिए हो। अधिक खट्टे आंवले के प्रयोग से चमड़ी में कुछ रूखापन आ सकता है। जिनकी चमड़ी अधिक कोमल होती है, विशेष खट्टे पदार्थ के संस्पर्श से वह फट सकती है। क्षीर आमलक के प्रयोग मे यह आशंकित नही है।

यहाँ फल शब्द खाने के रूप में काम मे आनेवाले फलों की दृष्टि से नही है, प्रत्युत वृक्ष, पौधे आदि पर फलने वाले पदार्थ की दृष्टि से है। वृक्ष पर लगता है, इसलिए आंवला फल है, परन्तु वह फल के रूप में नहीं खाया जाता। उसका उपयोग विशेषतः औषधि, मुरब्बा, चटनी, अचार आदि में होता है।

आयुर्वेद की काष्ठादिक औषधियों मे आवले का मुख्य स्थान है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसे फल-वर्ग में न लेकर काष्ठादिक औषधि-वर्ग में लिया गया है। भावप्रकाश में हरीतक्यादि वर्ग में आंवले का वर्णन आया है। वहाँ लिखा है—

"आमलक, धात्री, त्रिष्वफला और अमृता—ये आंवले के नाम हैं। आंवले के रस, गुण एव विपाक आदि हरीतकी—हरड़ के समान होते हैं। आवला विशेषतः रक्त-पित्त और प्रमेह का नाशक, शुक्रवर्धक एव रसायन है। रस के खट्टेपन के कारण यह वातनाशक है, मधुरता और शीतलता के कारण यह पित्त को शान्त करता है, रूक्षता और कसैलेपन के कारण यह कफ को मिटाता है।"[1]

चरकसहिता चिकित्सास्थान के अभयामलकीय रसायनपाद में आंवले का वर्णन है। वहाँ लिखा है—

"जो गुण हरीतकी के हैं, आंवले के भी लगभग वैसे ही हैं। किन्तु आंवले का वीर्य हरीतकी से भिन्न है। अर्थात् हरीतकी उष्णवीर्य है, आंवला शीतवीर्य। हरीतकी के जो गुण बताए गए हैं, उन्हें देखते, हरीतकी तथा तत्सदृश गुणयुक्त आंवला अमृत कहे गये हैं।"[2]

---

१. त्रिष्वामलकमाख्यातं धात्री त्रिष्वफलाऽमृता।
हरीतकीसमं धात्री-फलं किन्तु विशेषतः ॥
रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्य रसायनम् ।
हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्त माधुर्यशैत्यतः ॥
कफं रूक्षकषायत्वात् फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित् । —भावप्रकाश हरीतक्यादि वर्ग ३७-३९ ॥

२. तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकेष्वपि ।
यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥
अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरीदृशैः ।
हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च ॥ —चरकसंहिता चिकित्सास्थान १ । ३५-३६ ॥

चरकसंहिता में वाततपिक एवं कुटीप्रावेशिक के रूप में काय-कल्प चिकित्सा का उल्लेख है। कुटीप्रावेशिक को अधिक प्रभावशाली बतलाते हुए वहाँ विस्तार से वर्णन है।[1]

इस चिकित्सा में शोधन के लिए हरीतकी तथा पोषण के लिए आंवले का विशेष रूप से उपयोग होता है। इन्हें रसायन कहा गया है। आचार्य चरक ने रसायन के सेवन से दीर्घ आयु, स्मृति-बुद्धि, तारुण्य—जवानी, कान्ति, वर्ण—ओजमय दैहिक आभा, प्रशस्त स्वर, शरीर-बल, इन्द्रिय-बल आदि प्राप्त होने का उल्लेख किया है।[2]

आंवले से च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, आमलकरसायन आदि पौष्टिक औषधियों के रूप में अनेक अवलेह तैयार किए जाते हैं। अस्तु।

आनन्द यदि फलों के सन्दर्भ मे अपवाद रखता तो वह बिहार का निवासी था, बहुत सम्भव है, फलों में आम का अपवाद रखता, जैसे खाद्यान्नों में बासमती चावलों मे उत्तम कलम जाति के चावल रखे। आम तो फलों का राजा माना जाता है और बिहार में सर्वोत्तम कोटि का तथा अनेक जातियों का होता है। अथवा उस प्रदेश में तो और भी उत्तम प्रकार के फल होते हैं, उनमें से और कोई रखता। वस्तुत. जैसा ऊपर कहा गया है, आनन्द ने आंवले का खाने के फल की दृष्टि से अपवाद नही रखा, मस्तक, नेत्र, बाल आदि की शुद्धि के लिए ही इसे स्वीकार किया। यह वर्णन भी ऐसे ही सन्दर्भ में है। इससे पहले के तेईसवें सूत्र मे आनन्द ने हरी मुलैठी के अतिरिक्त सब प्रकार के दतौनों का परित्याग किया, इससे आगे पच्चीसवे सूत्र में शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों के अतिरिक्त मालिश के सभी तैलों का सेवन न करने का नियम किया। उसके बाद छब्बीसवें सूत्र में सुगन्धित गन्धाटक के सिवाय सभी उबटनो का परित्याग किया। यहाँ खाने के फल का प्रसंग ही सगत नही है। यह तो सारा सन्दर्भ दतौन, स्नान, मालिश, उबटन आदि देह-शुद्धि से सम्बद्ध कार्यों से जुड़ा है।

अब एक प्रश्न उठता है, क्या आनन्द ने खाने के किसी भी फल का अपवाद नहीं रखा? हो सकता है, उसने अपवाद नही रखा हो। सामान्यतः सचित्त रूप मे सभी फलों को अस्वीकार्य माना हो। इस सम्बन्ध मे डा. रुडोल्फ हार्नले ने भी चर्चा की है। उन्होंने भी इसी तरह का संकेत दिया है।[3]

२५ तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने अभ्यंगन-विधि का परिमाण किया—

---

१. चरकसंहिता-चिकित्सास्थान १।१६-२७॥

२. दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥
चरकसंहिता-चिकित्सास्थान १।७-८॥

३. Uvasagadasao, Lecture I Pages 15, 16

शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों के अतिरिक्त मैं और सभी अभ्यंगनविधि—मालिश के तैलों का परित्याग करता हूं।

विवेचन

शतपाक या सहस्रपाक तैल कोई विशिष्ट मूल्यवान् तैल रहे होंगे, जिनमें बहुमूल्य औषधियां पड़ी हों। आचार्य अभयदेव सूरि द्वारा वृत्ति में इस संबंध में किए गए संकेत के अनुसार शतपाक तैल रहा हो, जिसमें १०० प्रकार के द्रव्य पड़े हों, जो सौ दफा पकाया गया हो अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण रहा हो। कार्षापण प्राचीन भारत मे प्रयुक्त एक सिक्का था। वह सोना, चांदी व तांबा—इनका अलग-अलग तीन प्रकार का होता था। प्रयुक्त धातु के अनुसार वह स्वर्ण-कार्षापण रजत-कार्षापण या ताम्र-कार्षापण कहा जाता रहा था। स्वर्ण-कार्षापण का वजन १६ मासे, रजत-कार्षापण का वजन १६ पण [तोल विशेष] और ताम्र-कार्षापण का वजन ८० रत्ती होता था।[1]

सौ के स्थान पर जहाँ यह क्रम सहस्र में आ जाता है, वहाँ वह तैल सहस्रपाक कहा जाता है।

२६. तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एकेणं सुरहिणा गंधट्टएणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि।

इसके बाद उसने उबटन-विधि का परिमाण किया—

एक मात्र सुगन्धित गंधाटक—गेहूँ आदि के आटे के साथ कतिपय सौगन्धिक पदार्थों को मिला कर तैयार की गई पीठी के अतिरिक्त अन्य सभी उबटनों का मैं परित्याग करता हू।

२७. तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने स्नान-विधि का परिमाण किया—

—पानी के आठ औष्ट्रिक—ऊंट के आकार के घड़े, जिनका मुंह ऊंट की तरह सकड़ा, गर्दन लम्बी और आकार बडा हो, के अतिरिक्त स्नानार्थ जल का परित्याग करता हू।

२८. तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोम-जुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने वस्त्रविधि का परिमाण किया—

सूती दो वस्त्रो के सिवाय मैं अन्य वस्त्रों का परित्याग करता हू।

२९. तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु-कुंकुम-चंदणमादिएहिं अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने विलेपन-विधि का परिमाण किया—

---

१. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी—सर मोनियर विलियम्स, पृ. १७६

अगर, कुंकुम तथा चन्दन के अतिरिक्त मैं सभी विलेपन-द्रव्यों का परित्याग करता हूं।

३०. तयाणंतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुद्ध-पउमेणं, मालइ-कुसुम-दामेणं वा अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि।

इसके पश्चात् उसने पुष्प-विधि का परिमाण किया—

मैं श्वेत कमल तथा मालती के फूलों की माला के सिवाय सभी प्रकार के फूलों के धारण करने का परित्याग करता हूं।

३१. तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ मट्ठ-कण्णेज्जएहिं नाममुद्दाए य, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने आभरण-विधि का परिमाण किया—

मैं शुद्ध सोने के अचित्रित—सादे कुंडल और नामांकित मुद्रिका—अंगूठी के सिवाय सब प्रकार के गहनो का परित्याग करता हूं।

३२. तयाणंतरं च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरुतुरुक्कधूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि।

तदनन्तर उसने धूपनविधि का परिमाण किया—

अगर, लोबान तथा धूप के सिवाय मैं सभी धूपनीय वस्तुओं का परित्याग करता हूं।

३३. तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे, पेज्जविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्ज-विहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने भोजन-विधि के परिमाण के अन्तर्गत पेय-विधि का परिमाण किया—

मैं एक मात्र काष्ठ पेय-मूंग का रसा अथवा घी में तले हुए चावलों से बने एक विशेष पेय के अतिरिक्त अवशिष्ट सभी पेय पदार्थों का परित्याग करता हू।

३४. तयाणंतरं च णं भक्खविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घयपुण्णेहिं खण्ड-खज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि।

उसके अनन्तर उसने भक्ष्य-विधि का परिमाण किया—

मैं घयपुण्ण [घृतपूर्ण]—घेवर, खंडखज्ज [खण्डखाद्य]—खाजे, इन के सिवाय और सभी पकवानों का परित्याग करता हू।

३५. तयाणंतरं च णं ओदणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलमसालि-ओदणेणं, अवसेसं ओदण-विहिं पच्चक्खामि।

तब उसने ओदनविधि का परिमाण किया—

कलम जाति के धान के चावलो के सिवाय मैं और सभी प्रकार के चावलों का परित्याग करता हूं।

विवेचन

उत्तम जाति के बासमती चावलों का सभवत कलम एक विशेष प्रकार है। आनन्द विदेह—उत्तर बिहार का निवासी या। आज की तरह तब भी सभवतः वहाँ चावल ही मुख्य भोजन था। यही कारण है कि खाने के अनाजो के परिमाण के सन्दर्भ में केवल ओदनविधि का ही उल्लेख आया है, जिसका आशय है विभिन्न चावलो मे एक विशेष जाति के चावल का अपवाद रखते हुए अन्यों का परित्याग करना। इससे यह अनुमान होता है कि तब वहाँ गेहूँ आदि का खाने मे प्रचलन नही था या बहुत ही कम था।

३६. तयाणंतरं च णं सूवविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्ग-माससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने सूपविधि का परिमाण—दाल के प्रयोग का सीमाकरण किया—

मटर, मू ग और उडद की दाल के सिवाय मैं सभी दालो का परित्याग करता हूँ।

३७. तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडेणं. अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने घृतविधि का परिमाण किया--

शरद्ऋतु के उत्तम गो-घृत के सिवाय मैं सभी प्रकार के घृत का परित्याग करता हू।

विवेचन

आनन्द ने खाद्य, पेय, भोग्य, उपभोग्य तथा [सेव्य—जिन-जिन वस्तुओ का अपवाद रखा, अर्थात् अपने उपयोग के लिए जिन वस्तुओं को स्वीकार किया, उन-उन वर्णनो को देखने से प्रतीत होता है कि उपादेयता, उत्तमता, प्रियता आदि की दृष्टि से उसने बहुत विज्ञता से काम लिया। अत्यन्त उपयोगी, स्वास्थ्य-वर्द्धक, हितावह एव रुचि-परिष्कारक पदार्थ उसने भोगोपभोग मे रखे।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार आनन्द ने घृतो मे केवल शरद् ऋतु के गो-घृत सेवन का अपवाद रखा। इस सन्दर्भ मे एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या आनन्द वर्ष भर शरद्-ऋतु के ही गो-घृत का सेवन करता था ? उसने ताजे घी का अपवाद क्यो नही रखा ?

वास्तव में बात यह है, रस-पोषण की दृष्टि से शरद् ऋतु का छहों ऋतुओ मे असाधारण महत्त्व है। आयुर्वेद के अनुसार शरद् ऋतु मे चन्द्रमा की किरणो से अमृत [जीवनरस] टपकता है। इसमे अतिरजन नही है। शरद् ऋतु वह समय है, जो वर्षा और शीत का मध्यवर्ती है। इस ऋतु मे वनौषधियो [जडी-बूटियो] मे, वनस्पतियों मे, वृक्षो मे, पौधों मे, घास-पात में एक विशेष रस-सचार होता है। इसमे फलने वाली वनस्पतियां शक्ति-वर्द्धक, उपयोगी एव स्वादिष्ट होती हैं। शरद् ऋतु का गो-घृत स्वीकार करने के पीछे बहुत सभव है, आनन्द की यही भावना रही हो। इस समय का

घास चरने वाली के घृत में गुणात्मकता की दृष्टि से विशेषता रहती है। आयुर्वेद यह भी मानता है कि एक वर्ष तक का पुराना घृत परिपक्व घृत होता है। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष लाभप्रद एवं पाचन में हल्का होता है। ताजा घृत पाचन में भारी होता है।

भाव-प्रकाश में घृत के सम्बन्ध में लिखा है—"एक वर्ष व्यतीत होने पर घृत की सज्ञा प्राचीन हो जाती है। वैसा घृत त्रिदोष नाशक होता है—वात, पित्त कफ—तीनों दोषों का समन्वायक होता है। वह मूर्च्छा, कुष्ट, विष-विकार, उन्माद, अपस्मार तथा तिमिर [आँखो के आगे अधेरी आना] इन दोषों का नाशक है।"[1]

भाव-प्रकाश के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि एक वर्ष तक घृत अखाद्य नही होता। वह उत्तम खाद्य है। पोषक के साथ-साथ दोषनाशक भी है। यदि घृत को खूब गर्म करके छाछ आदि निकाल कर छान कर रखा जाय तो एक वर्ष तक उसमें दुर्गन्ध, दु:स्वाद आदि विकार उत्पन्न नही होते।

औषधि के रूप मे तो घृत जितना पुराना होता है, उतना ही अच्छा माना गया है। भाव-प्रकाश मे लिखा है—

"घृत जैसे-जैसे अधिक पुराना होता है, वैसे-वैसे उसके गुण अधिक से अधिक बढ़ते जाते हैं।"[2]

कल्याणकघृत, महाकल्याणकघृत, लशुनाद्यघृत, पंचगव्यघृत, महापचगव्यघृत, ब्राह्मीघृत, आदि जितने भी आयुर्वेद मे विभिन्न रोगो की चिकित्सा हेतु घृत सिद्ध किए जाते हैं, उन में प्राचीन गो-घृत का ही प्रयोग किया जाता है, जैसे ब्राह्मीघृत के सम्बन्ध में चरक-सहिता में लिखा है—

"ब्राह्मी के रस, वच, कूठ और शखपुष्पी द्वारा सिद्ध पुरातन गो-घृत ब्राह्मीघृत कहा जाता है। यह उन्माद, अलक्ष्मी—कान्ति-विहीनता, अपस्मार तथा पाप—देह-कलुषता—इन रोगो को नष्ट करता है।"[3]

इस परिपार्श्व मे चिन्तन करने से यह स्पष्ट होता है कि आनन्द वर्ष भर शरद् ऋतु के गो-घृत का ही उपयोग करता था। आज भी जिनके यहाँ गोधन की प्रचुरता है, वर्ष भर घृत का सग्रह रखा जाता है। एक विशेष बात और है, वर्षा आदि अन्य ऋतुओ का घृत टिकाऊ भी नही होता, शरद् ऋतु का ही घृत टिकाऊ होता है। इस टिकाऊपन का खास कारण गाय का आहार है, जो शरद् ऋतु में अच्छी परिपक्वता और रस-स्निग्धता लिए रहता है।[4]

---

१. वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्य पुराण तत् त्रिदोषनुत्।
मूर्च्छाकुष्टविषोन्मादापस्मारतिमिरापहम्॥
—भावप्रकाश, घृतवर्ग १५

२. यथा यथाऽखिल सर्पि पुराणमधिक भवेत्।
तथा तथा गुणै स्वै स्वैरधिक तदुदाहृतम्॥
—भावप्रकाश, घृतवर्ग १६

३ ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च।
पुराण घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित्॥
—चरकसहिता, चिकित्सास्थान १० २४

४ किन्हीं मनीषी ने दिन के विभाग विशेष को 'शरद्' माना है और उस विभाग विशेष मे निष्पन्न घी को 'शारदिक' घृत माना है।

३८. तयाणंतरं च णं सागविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ वत्थुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मंडुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि।

तदनन्तर उसने शाकविधि का परिमाण किया—

बथुआ, लौकी, सुआपालक तथा भिंडी—इन सागों के सिवाय और सब प्रकार के सागों का परित्याग करता हूं।

३९. तयाणंतरं च णं माहुरयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने माधुरकविधि का परिमाण किया—

मैं पालंग माधुरक-शल्लकी [वृक्ष-विशेष] के गोंद से बनाए मधुर पेय के सिवाय अन्य सभी मधुर पेयों का परित्याग करता हू।[1]

४०. तयाणंतरं च णं जेमणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंबदालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने व्यजनविधि का परिमाण किया—

मैं कांजी बड़े तथा खटाई पड़े मूंग आदि की दाल के पकौड़ो के सिवाय सब प्रकार के व्यंजनों-चटकीले पदार्थों का परित्याग करता हू।

४१. तयाणंतरं च णं पाणियविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने पीने के पानी का परिमाण किया—

मैं एक मात्र आकाश से गिरे—वर्षा के पानी के सिवाय अन्य सब प्रकार के पानी का परित्याग करता हू।

४२. तयाणंतरं च णं मुहवासविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ पंच-सोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने मुखवासविधि का परिमाण किया—

पाच सुगन्धित वस्तुओं से युक्त पान के सिवाय मै मुख को सुगन्धित करने वाले बाकी सभी पदार्थों का परित्याग करता हू।

विवेचन

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने पांच सुगन्धित वस्तुओ मे इलायची, लौंग, कपूर, दालचीनी तथा जायफल का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है, समृद्ध जन पान में इनका प्रयोग करते रहे हैं। सुगन्धित होने के साथ साथ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ये लाभकर है।

---

१. परम्परागत-अर्थ की अपेक्षा से माधुरकविधि का अर्थ -फल विधि है जिसमे फल के साथ मेवे भी गर्भित हैं और पालंग का अर्थ लताजनित आम है। किन्हीं ने इसका अर्थ खिरणी (रायण-फल) भी किया है।

अनर्थदण्ड-विरमण

४३. तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तं जहा— अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे।

तत्पश्चात् उसने चार प्रकार के अनर्थदण्ड—अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्र-प्रदान तथा पापकर्मोपदेश का प्रत्याख्यान किया।

विवेचन

बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदण्ड में होता है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लौकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजनवश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा में बडा भेद है। आवश्यकता या प्रयोजनवश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता देखते उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है पर जो प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करता है, वह सर्वथा अनुचित है। इसलिए उसे अनर्थदंड कहा जाता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने धर्म, अर्थ तथा काम रूप प्रयोजन के बिना किये जाने वाले हिसापूर्ण कार्यों को अनर्थदंड कहा है।

अनर्थदंड के अन्तर्गत लिए गए अपध्यानाचरित का अर्थ है—दुश्चिन्तन। दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणो का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार का है—आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान। अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-सम्पत्ति, सतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्र्य, रुग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियो के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान है। क्रोधावेश, शत्रु-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाने आदि की बात सोचते रहना रौद्रध्यान है। इन दोनों तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदंड है।

प्रमादाचरित—अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता प्रमाद है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरों की निन्दा करने मे, गप्प मारने में, अपने बडप्पन की शेखी बघारते रहने मे, अश्लील बाते करने में बिताता है। इनसे सबंधित मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमादाचरित में आते है। हिंस्र-प्रदान—हिसा के कार्यों मे साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना। ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अत. यह अनर्थदंड है।

पापकर्मोपदेश—औरों को पाप-कार्य मे प्रवृत्त होने में प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना। उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे बहुत प्राप्त होंगे, किसी व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीडित करने के लिए लोगो को दुष्प्रेरित करना—इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है।

अनर्थदंड में लिए गए ये चारों प्रकार के दुष्कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रत्येक धर्मनिष्ठ, शिष्ट व

सभ्य नागरिक को परित्याग करना चाहिए। अध्यात्म-उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तम और नैतिक नागरिक जीवन की दृष्टि से भी यह बहुत ही आवश्यक है।

अतिचार

सम्यक्त्व के अतिचार

४४. इह खलु आणंदा ! इ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी—एवं खलु, आणंदा ! समणोवासएण अभिगयजीवजीवेणं जाव (उवलद्धपुण्णपावेणं, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसलेणं, असहेज्जेणं, देवासुर-णाग-सुवण्णजक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जेणं) सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवे।

भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द से कहा—आनन्द! जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को यथावत् रूप में जाना है, [पुण्य और पाप का भेद समझा है, आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध तथा मोक्ष को भलीभाँति समझा है, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक है, देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओ द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनतिक्रमणीय है—विचलित नही किया जा सकता है] उसको सम्यक्त्व के पाच प्रधान अतिचार जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार हैं—शका, काक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषड-प्रशसा तथा पर-पाषड-सस्तव।

विवेचन

व्रत स्वीकार करना उतना कठिन नही है, जितना दृढता से पालन करना। पालन करने में व्यक्ति को क्षण-क्षण जागरूक रहना होता है। बाधक स्थिति के उत्पन्न होने पर भी अविचल रहना होता है। लिये हुए व्रतों में स्थिरता बनी रहे, उपासक के मन में कमजोरी न आए, इसके लिए अतिचार-वर्जन के रूप मे जैन साधना-पद्धति में बहुत ही सुन्दर उपाय बतलाया गया है।

अतिचार का अर्थ व्रत मे किसी प्रकार की दुर्बलता, स्खलना या आशिक मलिनता आना है। यदि अतिचार को उपासक लाघ नही पाता तो वह अतिचार अनाचार में बदल जाता है। अनाचार का अर्थ है, व्रत का टूट जाना। इसलिए उपासक के लिए आवश्यक है कि वह अतिचारो को यथावत् रूप में समझे तथा जागरूकता और आत्मबल के साथ उनका वर्जन करे।

उपासक के लिए सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्वश्रद्धान—सत्य के प्रति सही आस्था। यदि उपासक सम्यक्त्व को खो दे तो फिर आगे बच ही क्या पाए? आस्था मे सत्य का स्थान जब असत्य ले लेगा तो सहज ही आचरण में, जीवन मे विपरीतता पल्लवित होगी। इसलिए भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द को सबसे पहले सम्यक्त्व के अतिचार बतलाए और उनका आचरण न करने का उपदेश दिया।

सम्यक्त्व के पाच अतिचारों का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है—

शका—सर्वज्ञ द्वारा भाषित आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों में सन्देह

होना शंका है। मन में सन्देह उत्पन्न होने पर जब आस्था डगमगा जाती है, विश्वास हिल जाता है तो उसे शका कहा जाता है। शंका होने पर जिज्ञासा का भाव हलका पड़ जाता है। सशय जिज्ञासा-मूलक है। विश्वास या आस्था को दृढ करने के लिए व्यक्ति जब किसी तत्त्व या विषय के बारे में स्पष्टता हेतु और अधिक जानना चाहता है, प्रश्न करता है, उसे शका नही कहा जाता, क्योकि उससे वह अपना विश्वास दृढ से दृढतर करना चाहता है। जैन आगमों में जब भगवान् महावीर के साथ प्रश्नोत्तरों का क्रम चला है, वहाँ प्राश्निक के मन मे संशय उत्पन्न होने की बात कही गई है। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न तथा भगवान् के उत्तर सारे आगम वाङ्मय मे बिखरे पडे हैं। जहाँ गौतम प्रश्न करते हैं, वहाँ सर्वत्र उनके मन के सशय उत्पन्न होने का उल्लेख है। साथ ही साथ उन्हे परम श्रद्धावान् भी कहा गया है। गौतम का सशय जिज्ञासा-मूलक था। एक सम्यक्त्वी के मन में श्रद्धापूर्ण सशय होना दोष नही है, पर उसे अश्रद्धामूलक शका नही होनी चाहिए।

काक्षा—साधारणतया इसका अर्थ इच्छा को किसी ओर मोड देना या झुकना है। प्रस्तुत प्रसग में इसका अर्थ बाहरी दिखावे या आडम्बर या दूसरे प्रलोभनो से प्रभावित होकर किसी दूसरे मत की ओर झुकना है। बाहरी प्रदर्शन से सम्यक्त्वी को प्रभावित नही होना चाहिए।

विचिकित्सा—मनुष्य का मन बड़ा चचल है। उसमें तरह-तरह के सकल्प-विकल्प उठते रहते है। कभी-कभी उपासक के मन मे ऐसे भाव भी उठते है—वह जो धर्म का अनुष्ठान करता है, तप आदि का आचरण करता है, उसका फल होगा या नही? ऐसा सन्देह विचिकित्सा कहा गया है। मन मे इस प्रकार का सन्देहात्मक भाव पैदा होते ही मनुष्य की कार्य-गति में सहज ही शिथिलता आ जाती है, अनुत्साह बढने लगता है। कार्य-सिद्धि में निश्चय ही यह स्थिति बडी बाधक है। सम्यक्त्वी को इससे बचना चाहिए।

पर-पाषड-प्रशसा—भाषा-विज्ञान के अनुसार किसी शब्द का एक समय जो अर्थ होता है, आगे चलकर भिन्न परिस्थितियो में कभी-कभी वह सर्वथा बदल जाता है। यही स्थिति 'पाषड' शब्द के साथ है। आज प्रचलित पाखड या पाखडी शब्द इसी का रूप है पर तब और अब के अर्थ में सर्वथा भिन्नता है। भगवान् महावीर के समय मे और शताब्दियो तक पाषडी शब्द अन्य मत के व्रतधारक अनुयायियो के लिए प्रयुक्त होता रहा। आज पाखड शब्द निन्दामूलक अर्थ में है। ढोगी को पाखडी कहा जाता है। प्राचीन काल मे पाषड शब्द के साथ निन्दावाचकता नही जुडी थी। अशोक के शिलालेखो में भी अनेक स्थानो पर इस शब्द का अन्य मतावलम्बियो के लिए प्रयोग हुआ है।

पर-पाषड-प्रशसा सम्यक्त्व का चौथा अतिचार है, जिसका अभिप्राय है, सम्यक्त्वी को अन्य मतावलम्बी का प्रशसक नही होना चाहिए। यहाँ प्रयुक्त प्रशसा, व्यावहारिक शिष्टाचार के अर्थ मे नही है, तात्त्विक अर्थ में है। अन्य मतावलम्बी के प्रशसक होने का अर्थ है, उसके धार्मिक सिद्धान्तों का सम्मान। यह तभी होता है, जब अपने अभिमत सिद्धान्तो मे विश्वास की कमी आ जाय। इसे दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह विश्वास मे शिथिलता होने का द्योतक है। सोच समझ कर अगीकार किये गए विश्वास पर व्यक्ति को दृढ रहना ही चाहिए। इस प्रकार के प्रशसा आदि कार्यों से निश्चय ही विश्वास की दृढता व्याहत होती है। इसलिए यह संकीर्णता नही है, आस्था की पुष्टि का एक उपयोगी उपाय है।

पर-पाषंड-संस्तव—संस्तव का अर्थ घनिष्ठ सम्पर्क या निकटतापूर्ण परिचय है। पर-मतावलम्बी पाषंडियों के साथ धार्मिक दृष्टि से वैसा परिचय अथवा सम्पर्क उपासक के लिए उपादेय नही है। इससे उसकी आस्था में विचलन पैदा होने की आशंका रहती है।

अहिंसा-व्रत अतिचार

४५. तयाणंतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—बंधे, वहे, छवि-च्छेए, अइभारे, भत्त-पाण-वोच्छेए।

इसके बाद श्रमणोपासक को स्थूल-प्राणातिपातविरमण व्रत के पांच प्रमुख अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्त-पान-व्यवच्छेद।

विवेचन

बन्ध—इसका अर्थ बाधना है। पशु आदि को इस प्रकार बांधना, जिससे उनको कष्ट हो, बन्ध में आता है। व्याख्याकारों ने दास आदि को बांधने की भी चर्चा की है। उन्हे भी इस प्रकार बाधना, जिससे उन्हे कष्ट हो, इस अतिचार में शामिल है। दास आदि को बाधने का उल्लेख भारत के उस समय की ओर संकेत करता है, जब दास और दासी पशु तथा अन्यान्य अधिकृत सामग्री की तरह खरीदे-बेचे जाते थे। स्वामी का उन पर पूर्ण अधिकार होता था। पशुओं की तरह वे जीवन भर के लिए उनकी सेवा करने को बाध्य होते थे।

शास्त्रो में बन्ध दो प्रकार के बतलाए गए हैं—एक अर्थ-बन्ध तथा दूसरा अनर्थ-बन्ध। किसी प्रयोजन या हेतु से बांधना अर्थ-बन्ध में आता है, जैसे किसी रोग की चिकित्सा के लिए बाधना पडे या किसी आपत्ति से बचाने के लिए बाधना पड़े। प्रयोजन या कारण के बिना बाधना अनर्थ-बन्ध है, जो सर्वथा हिंसा है। यह अनर्थ-दड-विरमण नामक आठवे व्रत के अन्तर्गत अनर्थ-दड में जाता है। प्रयोजनवश किए जाने वाले बन्ध के साथ क्रोध, क्रूरता, द्वेष जैसे कलुषित भाव नही होने चाहिए। यदि होते हैं तो वह अतिचार है। व्याख्याकारो ने अर्थ-बन्ध को सापेक्ष और निरपेक्ष—दो भेदों मे बांटा है। सापेक्षबन्ध वह है, जिससे छूटा जा सके, उदाहरणार्थ—कही आग लग जाय, वहाँ पशु बधा हो, वह यदि हलके रूप में बंधा होगा तो वहाँ से छूट कर बाहर जा सकेगा। ऐसा बन्ध अतिचार मे नही आता। पर वह बन्ध, जिससे भयजनक स्थिति उत्पन्न होने पर प्रयत्न करने पर भी छूटा न जा सके, निरपेक्ष बन्ध है। वह अतिचार मे आता है। क्योंकि छूट न पाने पर बधे हुए प्राणी को घोर कष्ट होता है, उसका मरण भी हो सकता है।

वध—साधारणतया वध का अर्थ किसी को जान से मारना है। पर यहाँ वध इस अर्थ में प्रयुक्त नही है। क्योकि किसी को जान से मारने पर तो अहिंसा व्रत सर्वथा खंडित ही हो जाता है। वह तो अनाचार है। यहाँ वध घातक प्रहार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रहार जिससे प्रहृत व्यक्ति के अंग, उपांग को हानि पहुँचे।

छविच्छेद—छवि का अर्थ सुन्दरता है। इसका एक अर्थ अग भी किया जाता है। छविच्छेद का तात्पर्य किसी की सुन्दरता, शोभा मिटा देने अर्थात् अग-भग कर देने से है। किसी का कोई अंग

काट डालने से वह सहज ही अविसूल्य हो जाता है । क्रोधावेश में किसी का अंग काट डालना इस अतिचार में शामिल है । मनोरंजन के लिए कुत्ते आदि पालतू पशुओं की पूंछ, कान आदि काट देना भी इस अतिचार में आता है ।

अतिभार—पशु, दास आदि पर उनकी ताकत से ज्यादा बोझ लादना अतिभार में आता है । आज की भाषा में नौकर, मजदूर, अधिकृत कर्मचारी से इतना ज्यादा काम लेना, जो उसकी शक्ति से बाहर हो, अतिभार ही है ।

भक्त-पान-व्यवच्छेद—इसका अर्थ खान-पान में बाधा या व्यवधान डालना है । जैसे अपने आश्रित पशु को यथेष्ट चारा एव पानी समय पर नहीं देना, भूखा-प्यासा रखना । यही बात दास-दासियों पर भी लागू होती है । उनकी भी खान-पान की व्यवस्था में व्यवधान या विच्छेद पैदा करना, इस अतिचार में शामिल है । आज के युग की भाषा में अपने नौकरों तथा कर्मचारियों आदि को समय पर वेतन न देना, वेतन में अनुचित रूप में कटौती कर देना, किसी की आजीविका में बाधा पैदा कर देना, सेवको तथा आश्रितों से खूब काम लेना, पर उसके अनुपात में उचित व पर्याप्त भोजन न देना, वेतन न देना, इस अतिचार में शामिल है । ऐसा करना बुरा कार्य है, जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ है ।

इन अतिचारो में पशुओं की विशेष चर्चा आने से स्पष्ट है कि तब पशु-पालन एक गृहस्थ के जीवन का आवश्यक भाग था । घर, खेती तथा व्यापार के कार्यों में पशु का विशेष उपयोग था । आज सामाजिक स्थितियाँ बदल गई है । निर्दयता, क्रूरता, अत्याचार आदि अनेक नये रूपो में उभरे हैं । इसलिए धर्मोपासक को अपनी दैनन्दिन जीवन-चर्या को बारीकी से देखते हुए इन अतिचारों के मूल भाव को ग्रहण करना चाहिए और निर्दयतापूर्ण कार्यों का वर्जन करना चाहिए ।

सत्यव्रत के अतिचार

४६. तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा । तं जहा—सहसा-अब्भक्खाणे, रहसा-अब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे ।

तत्पश्चात् स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पाच अतिचारो को जानना, चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—

सहसा-अभ्याख्यान, रहस्य-अभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण ।

विवेचन

सहसा-अभ्याख्यान—किसी पर एकाएक बिना सोचे-समझे झूठा आरोप लगा देना ।

रहस्य-अभ्याख्यान—किसी के रहस्य—गोपनीय बात को प्रकट कर देना ।

स्वदारमंत्रभेद—अपनी पत्नी की गुप्त बात को बाहर प्रकट कर देना ।

मृषोपदेश—किसी को गलत राय या असत्यमूलक उपदेश देना ।

कूटलेखकरण—खोटा या झूठा लेख लिखना, दूसरे को ठगने या धोखा देने के लिए झूठे, जाली कागजात तैयार करना ।

सहसा अभ्याख्यान—सहसा का अर्थ एकाएक है। जब कोई बात बिना सोचे-विचारे भावुकतावश झट से कही जाती है, वहाँ इस शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा करने में विवेक के बजाय भावावेश अधिक काम करता है। सहसा अभ्याख्यान का अर्थ है किसी पर एकाएक बिना सोचे-विचारे दोषारोपण करना। यदि यह दोषारोपण दुर्भावना, दुर्विचार और संक्लेशपूर्वक होता है तो अतिचार नही रहता, अनाचार हो जाता है। वहाँ उपासक का व्रत भग्न हो जाता है। सहसा बिना विचारे ऐसा करने में कुछ हलकापन है। पर, उपासक को रोष या भावावेशवश भी इस प्रकार किसी पर दोषारोपण नही करना चाहिए। इससे व्रत में दुर्बलता या शिथिलता आती है।

रहस्य-अभ्याख्यान—रहस् का अर्थ एकान्त है। उसी से रहस्य शब्द बना है, जिसका भाव एकान्त की बात या गुप्त बात है। रहस्य-अभ्याख्यान का अभिप्राय किसी गुप्त बात को अचानक प्रकट कर देना है। उपासक के लिए यह करणीय नही है। ऐसा करने से उसके व्रत मे शिथिलता आती है। रहस्य-अभ्याख्यान का एक और अर्थ भी किया जाता है, तदनुसार किसी पर रहस्य—गुप्त रूप में षड्यत्र आदि करने का दोषारोपण इसका तात्पर्य है। जैसे कुछ व्यक्ति एकान्त मे बैठे आपस में बातचीत कर रहे हो। कोई मन में सशंक होकर एकाएक उन पर आरोप लगा दे कि वे अमुक षड्यन्त्र कर रहे हैं। इसका भी इस अतिचार में समावेश है। यहाँ भी यह ध्यान देने योग्य है कि जब तक सहसा, अचानक या बिना विचारे ऐसा किया जाता है तभी तक यह अतिचार है। यदि मन मे दुर्भावनापूर्वक सोच-विचार के साथ ऐसा आरोप लगाया जाता है तो वह अनाचार हो जाता है, व्रत खडित हो जाता है।

स्वदारमंत्रभेद—वैयक्तिकता, पारिवारिकता तथा सामाजिकता की दृष्टि से व्यक्ति के सबध एव पारस्परिक बाते भिन्नता लिए रहती हैं। कुछ बाते ऐसी होती है, जो दो ही व्यक्तियो तक सीमित रहती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो सारे समाज में प्रसारित की जा सकती हैं। वैयक्तिक सबधो में पति और पत्नी का सबध सबसे अधिक घनिष्ठ। उनकी अपनी गुप्त मत्रणाए, विचारणाए आदि भी होती हैं। यदि पति अपनी पत्नी की ऐसी किसी गुप्त बात को, जो प्रकटनीय नही है, प्रकट कर दे तो वह स्वदार-मत्र-भेद अतिचार मे आता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसा करना उचित नही है। जिसकी बात प्रकट की जाती है, अपनी गोपनीयता को उद्घाटित जान उसे दुख होता है, अथवा अपनी दुर्बलता को प्रकटित जान उसे लज्जित होना पडता है।

मृषोपदेश—झूठी राय देना या झूठा उपदेश देना मृषोपदेश मे आता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—एक ऐसी बात जिसकी सत्यता, असत्यता, हितकरता, अहितकरता आदि के विषय मे व्यक्ति को स्वय ज्ञान नही है, पर वह है वास्तव में असत्य। उसकी वह दूसरों को राय देता है, वैसा करने का उपदेश देता है, यह इस अतिचार में आता है। एक ऐसा व्यक्ति है, जो किसी बात की असत्यता या हानिप्रदता जानता है, पर उसके बावजूद वह औरों को वैसा करने की प्रेरणा करता है, उपदेश देता है तो यह अनाचार है। इसमें व्रत भग्न हो जाता है। क्योंकि वहाँ प्रेरणा या उपदेश करने वाले की नीयत सर्वथा अशुद्ध है। एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें एक व्यक्ति किसी असत्य या अहितकर बात को भी सत्य या हितकर मानता है। हित-बुद्धि से दूसरे को उधर प्रवृत्त करता है। बात तो वस्तुत असत्य है, पर उस व्यक्ति की नीयत अशुद्ध नही है, इसलिए यह दोष अतिचार या अनाचार कोटि में नही आता।

कूटलेखकरण—झूठे लेख या दस्तावेज लिखना, झूठे हस्ताक्षर करना आदि कूटलेखकरण में आते हैं। ऐसा करना अतिचार तभी है, यदि उपासक असावधानी से, अज्ञानवश या अनिच्छापूर्वक ऐसा करता है। यदि कोई जान-बूझ कर दूसरे को धोखा देने के लिए जाली दस्तावेज तैयार करे, जाली मोहर या छाप लगाए, जाली हस्ताक्षर करे तो वह अनाचार में चला जाता है और व्रत खंडित हो जाता है।

अस्तेय-व्रत के अतिचार

४७. तयाणंतरं च णं थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध-रज्जाइक्कमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।

तदनन्तर स्थूल अदत्तादानविरमण-व्रत के पाँच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है—

स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुलाकूटमान, तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

विवेचन

स्तेनाहृत—स्तेन का अर्थ चोर होता है, आहृत का अर्थ उस द्वारा चुरा कर लाई हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को लेना, खरीदना, रखना।

तस्करप्रयोग—अपने व्यावसायिक कार्यों में चोरों का उपयोग करना।

विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधवश अपने देश से इतर देशो के शासकों द्वारा प्रवेश-निषेध की निर्धारित सीमा लाघना, दूसरे राज्यों मे प्रवेश करना। इसका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है, जिसके अनुसार राज्य-विरुद्ध कार्य करना इसके अन्तर्गत आता है।

कूटतुलाकूटमान—तोलने और मापने में झूठ का प्रयोग अर्थात् देने में कम तोलना या मापना, लेने में ज्यादा तोलना या मापना।

तत्प्रतिरूपकव्यवहार—इसका शब्दार्थ कूट-तुला-कूटमान जैसा व्यवहार है, अर्थात् व्यापार में अनैतिकता व असत्याचरण करना—जैसे अच्छी वस्तु मे घटिया वस्तु मिला देना, नकली को असली बतलाना आदि।

स्वदारसन्तोष व्रत के अतिचार

४८. तयाणंतरं च णं सदार-संतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, [अणंगकीडा, परविवाहकरणे, कामभोग-तिव्वाभिलासे।

तदनन्तर स्वदारसंतोष-व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार हैं—

इत्वरिकपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, पर-विवाहकरण तथा काम-भोगतीव्राभिलाष।

विवेचन

इत्वरिकपरिगृहीतागमन—इत्वरिक का अर्थ अस्थायी, अल्पकालिक या चला जाने वाला है। जो स्त्री कुछ समय के लिए किसी पुरुष के साथ रहती है और फिर चली जाती है, पर जितने समय रहती है, उसी की पत्नी के रूप में रहती है और किसी पुरुष के साथ उसका यौन सम्बन्ध नहीं रहता, उसे इत्वरिका कहा जाता था। यों कुछ समय के लिए पत्नी के रूप में परिगृहीत या स्वीकृत स्त्री के साथ सहवास करना। इत्वरिका का एक अर्थ अल्पवयस्का भी किया गया है। तदनुसार छोटी आयु की पत्नी के साथ सहवास करना। ये इस व्रत के अतिचार हैं। ये हीन कामुकता के द्योतक हैं। इससे अब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिलता है।

अपरिगृहीतागमन—अपरिगृहीता का तात्पर्य उस स्त्री से है, जो किसी के भी द्वारा पत्नी रूप में परिगृहीत या स्वीकृत नहीं है, अथवा जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। इसमें वेश्या आदि का समावेश होता है। इस प्रकार की स्त्री के साथ सहवास करना इस व्रत का दूसरा अतिचार है। ये दोनों अतिचार अतिक्रम आदि की अपेक्षा से समझने चाहिए, अर्थात् अमुक सीमा तक ही ये अतिचार हैं। उस सीमा का उल्लंघन होने पर अनाचार बन जाते हैं।[1]

अनग-क्रीडा—कामावेशवश अस्वाभाविक काम-क्रीडा करना। इसके अन्तर्गत समलैंगिक संभोग, अप्राकृतिक मैथुन, कृत्रिम कामोपकरणों से विषय-वासना शान्त करना आदि समाविष्ट हैं। चारित्रिक दृष्टि से ऐसा करना बड़ा हीन कार्य है। इससे कुत्सित काम और व्यभिचार को पोषण मिलता है। यह इस व्रत का तीसरा अतिचार है।

पर-विवाह-करण—जैनधर्म के अनुसार उपासक का लक्ष्य ब्रह्मचर्य-साधना है। विवाह तत्त्वत. आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन की दुर्बलता है। क्योकि हर कोई सपूर्ण रूप में ब्रह्मचारी रह नहीं सकता। गृही उपासक का यह ध्येय रहता है कि वह अब्रह्मचर्य से उत्तरोत्तर अधिकाधिक मुक्त होता जाय और एक दिन ऐसा आए कि वह सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का आराधक बन जाय। अत. गृहस्थ को ऐसे कार्यों से बचना चाहिए, जो ब्रह्मचर्य के प्रतिगामी हो। इस दृष्टि से इस अतिचार की परिकल्पना है। इसके अनुसार दूसरों के वैवाहिक संबंध करवाना इस अतिचार में आता है। एक गृहस्थ होने के नाते अपने घर या परिवार के लड़के-लड़कियो के विवाहों में तो उसे सक्रिय और प्रेरक रहना ही होता है और वह अनिवार्य भी है, पर दूसरो के वैवाहिक सबध करवाने में उसे उत्सुक और प्रयत्नशील रहना ब्रह्मचर्य-साधना की दृष्टि से उपयुक्त नही है। वैसा करना इस व्रत का चौथा अतिचार है। किन्ही-किन्ही आचार्यों ने अपना दूसरा विवाह करना भी इस अतिचार मे ही माना है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी दूसरों के इन कार्यों में पड़ना ठीक नही है। उदाहरणार्थ, कही कोई व्यक्ति किन्ही के वैवाहिक संबंध करवाने में सहयोगी है, वह सबध हो जाय। संयोगवश उस संबंध का निर्वाह ठीक नहीं हो, अथवा अयोग्य संबंध हो जाय तो संबध करवाने वाले को भी उलाहना सहना होता है। संबंधित लोग प्रमुखत: उसी को कोसते हैं कि इसके कारण यह अवांछित और दु:खद सम्बन्ध हुआ। व्रती श्रावक को इससे बचना चाहिए।

---

१. अतिचारता चास्यातिक्रमादिभिः। अभयदेवकृतटीका।

काम-भोगतीव्राभिलाष—नियंत्रित और व्यवस्थित काम-सेवन मानव की आत्म-दुर्बलता के कारण होता है। उस आवश्यकता की पूर्ति तक व्रत दूषित नहीं होता है, परन्तु उसे काम की तीव्र अभिलाषा या उद्दाम वासना से ग्रस्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि उससे व्रत का उल्लंघन हो सकता है और मर्यादा भंग हो सकती है तथा अन्य अतिचारो-अनाचारों में प्रवृत्ति हो सकती है।

तीव्र वैषयिक वासनावश कामोद्दीपक, वाजीकरण औषधि, मादक द्रव्य आदि के सेवन द्वारा व्यक्ति वैसा न करे। चारित्रिक दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है। वैसा करना इस व्रत का पांचवां अतिचार है, जिससे उपासक को सर्वथा बचते रहना चाहिए।

इच्छा-परिमाणव्रत के अतिचार

४९. तयाणंतरं च णं इच्छा-परिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—खेत-वत्थु-पमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमे, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्नपमाणाइक्कमे, कुवियपमाणाइक्कमे।

श्रमणोपासक को इच्छा-परिमाण-व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम, हिरण्यस्वर्ण-प्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, कुप्य-प्रमाणातिक्रम।

विवेचन

धन, वैभव, संपत्ति का सांसारिक जीवन मे एक ऐसा आकर्षण है कि समझदार और विवेकशील व्यक्ति भी उसकी मोहकता मे फंसा रहता है। इच्छा-परिमाण-व्रत उस मोहकता से छुटकारा दिलाने का मार्ग है। व्यक्ति सापत्तिक संबंधों को क्रमशः सीमित करता जाय, यही इस व्रत का लक्ष्य है। इस व्रत के जो अतिचार बतलाए गए हैं, उनका सेवन न करना व्यक्ति को इच्छाओं के सीमाकरण की विशेष प्रेरणा देता है।

क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम—क्षेत्र का अर्थ खेती करने की भूमि है। उपासक व्रत लेते समय जितनी भूमि अपने लिए रखता है, उसका अतिक्रमण वह न करे। वास्तु [वत्थु] का तात्पर्य रहने के मकान, बगीचे आदि है। व्रत लेते समय श्रावक इनकी भी सीमा करता है। इन सीमाओं को लाघ जाना इस व्रत का अतिचार है।

हिरण्य-स्वर्ण-प्रमाणातिक्रम—व्रत लेते समय उपासक सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं का अपने लिए सीमाकरण करता है, उस सीमाकरण को लांघ जाना इस व्रत का अतिचार है। मोहर, रुपया आदि प्रचलित सिक्के भी इसी में आते हैं।

द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम—द्विपद—दो पैर वाले—मनुष्य—दास—दासी, नौकर—नौकरानियां तथा चतुष्पद—चार पैर वाले—पशु; व्रत स्वीकार करते समय इनके संदर्भ में किये गए सीमाकरण का लंघन करना इस अतिचार में शामिल है। जैसा कि पहले सूचित किया गया है, उन दिनों दास-प्रथा का इस देश में प्रचलन था इसलिए गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं की तरह दास, दासी भी स्वामी की सम्पत्ति होते थे।

धन-धान्यप्रमाणातिक्रम—मणि, मोती, हीरे, पन्ने आदि रत्न तथा खरीदने-बेचने की वस्तुओं को यहाँ धन कहा गया है। चावल, गेहूँ, जौ, चने आदि अनाज धान्य में आते हैं। धन एवं धान्य के परिमाण को लाघना इस व्रत का अतिचार है ।

कुप्यप्रमाणातिक्रम—कुप्य का तात्पर्य घर का सामान है, जैसे कपड़े, खाट, आसन, बिछौने, फर्नीचर आदि। इस सबंध में की गई सीमा का लघन इस व्रत का अतिचार है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि यह उल्लघन जब अबुद्धिपूर्वक होता है, अर्थात् वास्तव में उल्लंघन तो होता हो किन्तु व्रतधारक ऐसा समझता हो कि उल्लघन नही हो रहा है, तभी तक वह अतिचार है। जानबूझ कर मर्यादा का अतिक्रमण करने पर अनाचार हो जाता है।

दिग्व्रत के अतिचार

५०. तयाणंतरं च णं दिसिव्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे, अहोदिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा।

तदनन्तर दिग्व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए। उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वदिक्-प्रमाणातिक्रम, अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम, तिर्यक्दिक्-प्रमाणातिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि, स्मृत्यन्तर्धान।

विवेचन

ऊर्ध्वदिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा—ऊचाई की ओर जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम—नीचे की ओर कुए, खदान आदि मे जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, तिर्यक्-दिक्प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं मे जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, क्षेत्र-वृद्धि—व्यापार, यात्रा आदि के लिए की गई क्षेत्रमर्यादा का अतिक्रमण, स्मृत्यन्तर्धान—अपने द्वारा की गई दिशाओ आदि की मर्यादा को स्मृति मे न रखना—ये इस व्रत के अतिचार हैं।

व्रतग्रहण के प्रसग मे यद्यपि दिशाव्रत और शिक्षाव्रतो के ग्रहण करने का उल्लेख नही है। तब भी इन व्रतो का ग्रहण समझ लेना चाहिए, क्योंकि पूर्व में आनन्द ने कहा है—'दुवालसविह सावयधम्म पडिवज्जिस्सामि।' आगे भी 'दुवालसविह सावगधम्म पडिवज्जइ' ऐसा पाठ आया है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—सामायिक आदि शिक्षाव्रत थोड़े काल के और अमुक समय करने योग्य होने से आनन्द ने उस समय ग्रहण नही किए। दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नही किया, क्योंकि उसकी विरति का अभाव है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत के अतिचार

५१. तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भोयणओ य, कम्मओ य। तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—सचित्ताहारे, सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा—इंगालकम्मे,

वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया ।

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का कहा गया है—भोजन की अपेक्षा से तथा कर्म की अपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से श्रमणोपासक को उपभोग-परिभोग व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है—सचित्त आहार, सचित्तप्रतिबद्ध आहार, अपक्व-ओषधि-भक्षणता, दुष्पक्व-ओषधि-भक्षणता तथा तुच्छओषधि-भक्षणता।

कर्म की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादानो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है—

अगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटीकर्म, स्फोटनकर्म, दन्तवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, रस-वाणिज्य, विषवाणिज्य, केशवाणिज्य, यन्त्रपीडनकर्म, निर्लाछनकर्म, दवाग्निदापन, सर-ह्रद-तडाग-शोषण तथा असती-जन-पोषण।

विवेचन

सचित्त आहार—सचित्त का अर्थ सप्राण या सजीव है। बिना पकाई या बिना उबाली हुई शाक-सब्जी, वनस्पति, फल, असस्कारित अन्न, जल आदि सचित्त पदार्थों में हैं। यहाँ उनके खाने का प्रसग है।

ज्ञातव्य है कि श्रमणोपासक या श्रावक सचित्त वस्तुओ का सर्वथा त्यागी नही होता। ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य भी नही है। वह अपनी क्षमता के अनुसार सचित्त वस्तुओं का त्याग करता है, एक सीमा करता है। कुछ का अपवाद रखता है, जिनका वह सेवन कर सकता है। जो मर्यादा उसने की है, असावधानी से यदि वह उसका उल्लघन करता है तो यह सचित्त-आहार अतिचार मे आ जाता है। यह असावधानी से सचित्त सम्बन्धी नियम का उल्लघन करने की बात है, यदि जान-बूझ कर वह सचित्त-त्याग सम्बन्धी मर्यादा का खडन करता है तो यह अनाचार हो जाता है, व्रत टूट जाता है।

सचित्त-प्रतिबद्ध आहार—सचित्त वस्तु के साथ सटी हुई या लगी हुई वस्तु को खाना सचित्त-प्रतिबद्ध आहार है, उदाहरणार्थ बड़ी दाख या खजूर को लिया जा सकता है। उनमें से प्रत्येक के दो भाग है—गुठली तथा गूदा या रस। गुठली सचित्त है, गूदा या रस अचित्त है, पर सचित्त से प्रतिबद्ध या सलग्न है। यह अतिचार भी उस व्यक्ति की अपेक्षा से है, जिसने सचित्त वस्तुओं की मर्यादा की है। यदि वह सचित्त-सलग्न का सेवन करता है तो उसकी मर्यादा भग्न होती है और यह अतिचार मे आता है।

अपक्व-ओषधि-भक्षणता—पूरी न पकी हुई ओषधि, फल, चनों के छोले आदि खाना। ओषधि के स्थान पर 'ओदन' पाठ भी प्राप्त होता है। ओदन का अर्थ पकाए हुए चावल हैं, तदनुसार एक अर्थ होगा—कच्चे या अधपके चावल खाना।

दुष्पक्व-ओषधि-भक्षणता—जो वनौषधियाँ, फल आदि देर से पकने वाले है, उन्हें पके जान कर पूरे न पके रूप में सेवन करना या बुरी रीति से-अतिहिसा से पकाये गये पदार्थों का सेवन करना। जैसे छिलके समेत सेके हुए भुट्टे, छिलके समेत बगारी हुई मटर की फलियाँ आदि; क्योंकि इस ढंग से पकाये हुए पदार्थों में त्रस जीवों की हिंसा भी हो सकती है।

तुच्छ-ओषधि-भक्षणता—जिन वनौषधियों या फलों में खाने योग्य भाग कम हो, निरर्थक या फेंकने योग्य भाग अधिक हो, जैसे गन्ना, सीताफल आदि, इनका सेवन करना। इसका दूसरा अर्थ यह भी है, जिनके खाने में अधिक हिंसा होती हो, जैसे खस-खस के दाने, शामक के दाने, चौलाई आदि का सेवन।

इन अतिचारो की परिकल्पना के पीछे यही भावना है कि उपासक भोजन के सन्दर्भ में बहुत जागरूक रहे। जिह्वा-लोलुपता से सदा बचा रहे। जिह्वा के स्वाद को जीतना बड़ा कठिन है, इसीलिए उस ओर उपासक को बहुत सावधान रहना चाहिए।

कर्मादान—कर्म और आदान, इन दो शब्दो से 'कर्मादान' बना है। आदान का अर्थ ग्रहण है। कर्मादान का आशय उन प्रवृत्तियों से है, जिनके कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। उन कामों में बहुत अधिक हिंसा होती है। इसलिए श्रावक के लिए वे वर्जित हैं। ये कर्म सम्बन्धी अतिचार हैं। श्रावक को इनके त्याग की स्थान-स्थान पर प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि न वह स्वय इन्हे करे, न दूसरों से कराए और न करने वालों का समर्थन करे।

कर्मादानो का विश्लेषण इस प्रकार है—

अंगार-कर्म—अंगार का अर्थ कोयला है। अगार-कर्म का मुख्य अर्थ कोयले बनाने का धधा करना है। जिन कामों में अग्नि और कोयलों का बहुत ज्यादा उपयोग हो, वे काम भी इसमें आते है। जैसे—ईटों का भट्टा, चूने का भट्टा, सीमेंट का कारखाना आदि। इन कार्यों में घोर हिंसा होती है।

वन-कर्म—वे धन्धे, जिनका सम्बन्ध वन के साथ है, वन-कर्म में आते हैं; जैसे—कटवा कर जंगल साफ कराना, जंगल के वृक्षों को काट कर लकड़ियाँ बेचना, जगल काटने के ठेके लेना आदि। हरी वनस्पति के छेदन भेदन तथा तत्सम्बद्ध प्राणि-वध की दृष्टि से ये भी अत्यन्त हिंसा के कार्य हैं। आजीविका के लिए वन-उत्पादन-सवर्धन करके वृक्षो को काटना-कटवाना भी वन-कर्म हैं।

शकट-कर्म—शकट का अर्थ गाड़ी है। यहाँ गाड़ी से तात्पर्य सवारी या माल ढोने के सभी तरह के वाहनो से है। ऐसे वाहनों को, उनके भागों या कल-पुर्जों को तैयार करना, बेचना आदि शकट-कर्म में शामिल है। आज की स्थिति में रेल, मोटर, स्कूटर, साइकिल, ट्रक, ट्रैक्टर आदि बनाने के कारखाने भी इसमें आ जाते हैं।

भाटीकर्म—भाटी का अर्थ भाड़ा है। बैल, घोड़ा, ऊँट, भैसा, खच्चर आदि को भाड़े पर देने का व्यापार।

स्फोटनकर्म—स्फोटन का अर्थ फोड़ना, तोड़ना या खोदना है। खाने खोदने, पत्थर फोड़ने, कुए, तालाब तथा बावड़ी आदि खोदने का धन्धा स्फोटन-कर्म में आते हैं।

दन्तवाणिज्य—हाथी दांत का व्यापार इसका मुख्य अर्थ है। वैसे हड्डी, चमड़े आदि का व्यापार भी उपलक्षण से यहाँ ग्रहण कर लिया जाना चाहिए।

लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यापार।

रसवाणिज्य—मदिरा आदि मादक रसों का व्यापार। वैसे रस शब्द सामान्यत: ईख एवं फलों के रस के लिए भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ वह अर्थ नही है।

शहद, मास, चर्बी, मक्खन, दूध, दही, घी, तैल आदि के व्यापार को भी कई आचार्यों ने रसवाणिज्य में ग्रहण किया है।

विषवाणिज्य—तरह-तरह के विषो का व्यापार। तलवार, छुरा, कटार, बन्दूक, धनुष, बाण, बारूद, पटाखे आदि हिंसक व घातक वस्तुओं का व्यापार भी विषवाणिज्य के अन्तर्गत, लिया जाता है।

केशवाणिज्य—यहाँ प्रयुक्त केश शब्द लाक्षणिक है। केश-वाणिज्य का अर्थ दास, दासी, गाय, भैंस, बकरी, भेड, ऊँट घोडे आदि जीवित प्राणियों की खरीद-बिक्री आदि का धन्धा है। कुछ आचार्यों ने चमरी गाय की पूछ के बालो के व्यापार को भी इसमे शामिल किया है। इनके चवर बनते हैं। मोर-पंख तथा ऊन का धन्धा केश-वाणिज्य में नही लिया जाता। चमरी गाय के बाल प्राप्त करने तथा मोर-पख प्राप्त करने में खास भेद यह है कि बालों के लिए चमरी गाय को मारा जाता है, ऐसा किये बिना वे प्राप्त नही होते। मोर-पख व ऊन प्राप्त करने में ऐसा नही है। मारे जाने के कारण को लेकर चमरी गाय के बालो का व्यापार इसमें लिया गया है।

यत्रपीडनकर्म—तिल, सरसों, तारामीरा, तोरिया, मूगफली आदि तिलहनो से कोल्हू या घाणी द्वारा तैल निकालने का व्यवसाय।

निर्लांछनकर्म—बैल, भैसे आदि को नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

दवाग्निदापन—वन में आग लगाने का धन्धा। यह आग अत्यन्त भयानक और अनियंत्रित होती है। उससे जगल के अनेक जगम-स्थावर प्राणियों का भीषण सहार होता है।

सरह्रदतडागशोषण—सरोवर, झील, तालाब आदि जल-स्थानो को सुखाना।

असती-जन-पोषण—व्यभिचार के लिए वेश्या आदि का पोषण करना, उन्हें नियुक्त करना। श्रावक के लिए वास्तव में निन्दनीय कार्य है। इससे समाज में दुश्चरित्रता फैलती है, व्यभिचार को बल मिलता है।

आखेट हेतु शिकारी कुत्ते आदि पालना, चूहो के लिए बिल्लियाँ पालना—ये सब भी असती-जन-पोषण के अन्तर्गत आते हैं।

अनर्थदण्ड-विरमण के अतिचार

५२. तयाणंतरं च णं अणट्ठदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते।

उसके बाद श्रमणोपासक को अनर्थदड-विरमण व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, सयुक्ताधिकरण तथा उपभोगपरिभोगातिरेक।

विवेचन

कन्दर्प—काम-वासना को भडकाने वाली चेष्टाएँ करना।

कौत्कुच्य—बहुरूपियों की तरह भद्दी व विकृत चेष्टाएँ करना।

मौखर्य—निरर्थक डींगें हांकना, व्यर्थ बातें बनाना, बकवास करना।

संयुक्ताधिकरण—शस्त्र आदि हिंसामूलक साधनो को इकट्ठा करना ।

उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग तथा परिभोग का अतिरेक—अनावश्यक वृद्धि—उपभोग-परिभोग सबधी सामग्री तथा उपकरणो को बिना आवश्कता के सगृहीत करते जाना ।

ये इस व्रत के अतिचार है ।

सामायिक व्रत के अतिचार

५३. तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तंजहा—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए । वे इस प्रकार है—

मन-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, काय-दुष्प्रणिधान, सामायिक-स्मृति-अकरणता, सामायिक-अनवस्थित-करणता ।

विवेचन

मन-दुष्प्रणिधान—यहाँ प्रणिधान का अर्थ ध्यान या चिन्तन है । दूषित चिन्तन मन-दुष्प्रणिधान कहा जाता है । सामायिक करते समय राग, द्वेष, ममता, आसक्ति सबधी बाते मन मे लाना, घरेलू समस्याओं की चिन्ता में व्यग्र रहना, यह सामायिक का अतिचार है । सामायिक का उद्देश्य जीवन मे समता का विकास करना है, क्रोध, मान, माया, लोभ जनित विषमता को क्रमश मिटाते जाना है । यों करते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप में तन्मयता पाना सामायिक का चरम लक्ष्य है । जहाँ सामायिक का यह उद्देश्य बाधित होता है, वहाँ सामायिक एक पारम्परिक विधि के रूप में तो सधती है, उससे जीवन मे जो उपलब्धि होनी चाहिए, हो नही पाती । इसलिए साधक के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपने मन को पवित्र रखे, समता की अनुभूति करे, मानसिक दुश्चिन्तन से बचे ।

वचन-दुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय वाणी का दुरुपयोग या मिथ्या भाषण करना, दूसरे के हृदय में चोट पहुँचाने वाली कठोर बात कहना, अध्यात्म के प्रतिकूल लौकिक बाते करना वचन-दुष्प्रणिधान है । सामायिक में जिस प्रकार मानसिक दुश्चिन्तन से बचना आवश्यक है, उसी प्रकार वचन के दुष्प्रयोग से भी बचना चाहिए ।

काय-दुष्प्रणिधान—मन और वचन की तरह सामायिक में देह भी व्यवस्थित, सावधान और सुसयत रहनी चाहिए । देह से ऐसी चेष्टाएँ नही करनी चाहिए, जिससे हिंसा आदि पापो की आशका हो ।

सामायिक-स्मृति-अकरणता—वैसे तो सामायिक सारे जीवन का विषय है, जीवन की साधना है, पर अभ्यास-विधि के अन्तर्गत उसके लिए जैसा पहले सूचित हुआ है, ४८ मिनिट का एक इकाई का समय रक्खा गया है । जब उपासक सामायिक मे बैठे, उसे पूरी तरह जागरूक और सावधान रहना चाहिए, समय के साथ-साथ यह भी नही भूलना चाहिए कि वह सामायिक में है ।

अर्थात् सामायिकोचित मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों से उसे दूर नही हटना है। ये भूलें सामायिक का अतिचार हैं, जिसके मूल में प्रमाद, अजागरूकता या असावधानी है।

सामायिक-अनवस्थित-करणता—अवस्थित का अर्थ यथोचित रूप में स्थित रहना है। वैसे न करना अनवस्थितता है। सामायिक में कभी अनवस्थित—अव्यवस्थित नही रहना चाहिए। कभी सामायिक कर लेना कभी नही करना, कभी सामायिक के समय से पहले उठ जाना—यह व्यक्ति के अव्यवस्थित एव अस्थिर जीवन का सूचक है। ऐसा व्यक्ति सामायिक साधना में तो असफल रहता ही है, अपने लौकिक जीवन में भी विकास नही कर पाता। सामायिक के नियत काल के पूर्ण हुए बिना ही सामायिक व्रत पाल लेना—यह इस अतिचार का मुख्य आशय है।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

५४. तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गलपक्खेवे।

तदनन्तर श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं--

आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात तथा बहि पुद्गल-प्रक्षेप।

विवेचन

देश और अवकाश इन दो शब्दो के मेल से देशावकाशिक शब्द बना है। देश का अर्थ यहाँ एक भाग है। अवकाश का अर्थ जाने या कोई कार्य करने की चेष्टा है। एक भाग तक अपने को सीमित रखना देशावकाशिक व्रत है। छठे दिक् व्रत मे दिशा सबधी परिमाण या मर्यादा जीवन भर के लिए की जाती है, उसका एक दिन-रात के समय के लिए या न्यूनाधिक समय के लिए और अधिक कम कर लेना देशावकाशिक व्रत है। अवकाश का अर्थ निवृत्ति भी होता है। अत: अन्य व्रतो का भी इसी प्रकार हर रोज समय-विशेष के लिए जो सक्षेप किया जाता है, वह भी इस व्रत मे आ जाता है। इसको और स्पष्ट यो समझा जाना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति चौबीस घटे के लिए यह मर्यादा करता है कि वह एक मकान से बाहर के पदार्थों का उपभोग नही करेगा, बाहर के कार्य संपादित नही करेगा, वह मर्यादित भूमि से बाहर जाकर पचास्रवो का सेवन नही करेगा, यदि वह नियत क्षेत्र से बाहर के कार्य सकेत से अथवा दूसरे व्यक्ति द्वारा करवाता है, तो वह ली हुई मर्यादा का उल्लघन करता है। यह देशावकाशिक व्रत का अतिचार है। यह उपासक की मानसिक चचलता तथा व्रत के प्रति अस्थिरता का द्योतक है। इससे व्रत-पालन की वृत्ति मे कमजोरी आती है। व्रत का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

इस व्रत के पांच अतिचारो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आनयन-प्रयोग—जितने क्षेत्र की मर्यादा की है, उस क्षेत्र में उपयोग के लिए मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तुए अन्य व्यक्ति से मंगवाना।

प्रेष्य-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र के कार्यों को सपादित करने हेतु सेवक, पारिवारिक व्यक्ति आदि को भेजना।

शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का कार्य सामने आ जाने पर, ध्यान में आ जाने पर, छीक कर, खाँसी लेकर या कोई और शब्द कर पड़ौसी आदि से संकेत द्वारा कार्य कराना।

रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए मु ह से कुछ न बोलकर हाथ, अगुली आदि से संकेत करना ।

बहि:पुद्गल-प्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए ककड आदि फेंक कर दूसरो को इशारा करना ।

ये कार्य करने से यद्यपि व्रत के शब्दात्मक प्रतिपालन में बाधा नही आती पर व्रत की आत्मा निश्चय ही इससे व्याहत होती है । साधना का अभ्यास दृढता नही पकडता, इसलिए इनका वर्जन अत्यन्त आवश्यक है ।

लौकिक एषणा, आरम्भ आदि सीमित कर जीवन को उत्तरोत्तर आत्म-निरत बनाने में देशावकाशिक व्रत बहुत महत्त्वपूर्ण है । जैन दर्शन का तो अन्तिम लक्ष्य सपूर्ण रूप से आत्म-केन्द्रित होना है । अत्यन्त तीव्र और प्रशस्त आत्मबल वालो की तो बात और है, सामान्यतया हर किसी के लिए यह सभव नही कि वह एकाएक ऐसा कर सके, इसलिए उसे शनैः शनै एषणा, कामना और इच्छा का संवरण करना होता है । इस अभ्यास में यह व्रत बहुत सहायक है ।

पोषधोपवास-व्रत के अतिचार

५५. तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएण पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसिज्जा-संथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमी, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया ।

तदनन्तर श्रमणोपासक को पोषधोपवास व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए । वे इस प्रकार है—

अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित—शय्या-सस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित—शय्या-सस्तारक, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रस्रवणभूमि तथा पोषधोपवास—सम्यक्—अननुपालन ।

विवेचन

पोषधोपवास में पोषध एव उपवास, ये दो शब्द हैं । पोषध का अर्थ धर्म को पोष या पुष्टि देने वाली क्रिया-विशेष है । उपवास 'उप' उपसर्ग और 'वास' शब्द से बना है । 'उप' का अर्थ समीप है । उपवास का शाब्दिक तात्पर्य आत्मा या आत्मगुणो के समीप वास या अवस्थिति है । आत्म-गुणो का सामीप्य या सान्निध्य साधने के कुछ समय के लिए ही सही, बहिर्मु खता :निरस्त होती है । बहिर्मु खता या देहोन्मुखता में सबसे अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भोजन है । साधक जब आत्म-तन्मयता मे होता है तो भोजन आदि बाह्य वृत्तियो से सहज ही दूर हो जाता है । यह उपवास का तात्त्विक विवेचन है । व्यावहारिक दृष्टि से सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक अर्थात् चौबीस घटे के लिए अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार का त्याग उपवास है । पोषध और उपवास रूप सम्मिलित साधना का अर्थ यह है कि उपवासी उपासक एक सीमित समय—चौबीस घंटे के लिए घर से सबध तोड़ कर—लगभग साधुवत् होकर एक निश्चित स्थान में निवास करता है । सोने,

बैठने, शौच, लघु-शंका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है। आवश्यक, सीमित उपकरणों को साधु की तरह यतना या सावधानी से रखता है, जिससे हिंसा से बचा जा सके।

श्रावक या उपासक के तीन मनोरथो में एक है—'कया णमहं मु डे भवित्ता पव्वइस्सामि'—मेरे जीवन में वह अवसर कब आएगा, जब मैं मुंडित होकर प्रव्रजित होऊंगा। इस मनोरथ या उच्च भावना के परिपोषण व विकास मे यह व्रत सहायक है। श्रमण-साधना के अभ्यास का यह एक व्यावहारिक रूप है। जिस तरह एक श्रमण अपने जीवन की हर प्रवृत्ति मे जागरूक और सावधान रहता है, उपासक भी इस व्रत मे वैसा ही करता है।

पोषधोपवास व्रत में सामान्यतः ये चार बातें मुख्य हैं—

[१] अशन, पान आदि खाद्य-पेय पदार्थों का त्याग, [२] शरीर की सज्जा, वेशभूषा, स्नान आदि का त्याग, [३] अब्रह्मचर्य का त्याग, [४] समग्र सावद्य—सपाप कार्य-कलाप का त्याग।

वैसे पोषधोपवास चाहे जब किया जा सकता है, पर जैन परपरा मे द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी एव चतुर्दशी विशिष्ट पर्व—तिथियो के रूप में स्वीकृत हैं। उनमें भी अष्टमी, चतुर्दशी और पाक्षिक विशिष्ट माना जाता है। पोषधोपवास के अतिचारों का स्पष्टीकरण निम्नांकित है—

अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—शय्यासस्तार—शय्या का अर्थ पोषध करने का स्थान तथा सस्तार का अर्थ दरी, चटाई आदि सामान्य बिछौना है, जिस पर सोया जा सके। अनदेखे-भाले व लापरवाही से देखे-भाले स्थान व बिछौने का उपयोग करना।

अप्रमार्जित—दुष्प्रमार्जित—शय्या—सस्तार— प्रमार्जित न किये हुए—विना पू जे अथवा लापरवाही से पू जे स्थान एवं बिछौने का उपयोग करना।

अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—उच्चार-प्रस्रवणभूमि—अनदेखे-भाले तथा लापरवाही से देखे-भाले शौच व लघुशका के स्थानो का उपयोग करना।

अप्रमार्जित—दुष्प्रमार्जित—उच्चार-प्रस्रवणभूमि—अनपू जे तथा लापरवाही से पू जे शौच एव लघुशका के स्थानो का उपयोग करना।

पोषधोपवास-सम्यक्-अननुपालन—पोषधोपवास का भली-भांति—यथाविधि पालन न करना।

इन अतिचारो से उपासक को बचना चाहिए।

यथासंविभाग-व्रत के अतिचार

५६. तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—सचित्त-निक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक को यथासविभाग-व्रत के पाच अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश तथा मत्सरिता।

विवेचन

यथा-सविभाग का अर्थ है, उचित रूप से अन्न, पान, वस्त्र आदि का विभाजन—मुनि अथवा चारित्र-सम्पन्न योग्य पात्र को इन स्वाधिकृत वस्तुओ में से एक भाग देना। इस व्रत का नाम अतिथि-संविभाग भी है, जिसका अर्थ है—जिसके आने की कोई निश्चित तिथि या दिन नही, ऐसे साधु या सयमी अतिथि को अपनी वस्तुओं मे से देना।

गृहस्थ का यह बहुत ही उत्तम व आवश्यक कर्त्तव्य है। इससे उदारता की वृत्ति विकसित होती है, आत्म-गुण उजागर होते हैं।

इस व्रत के जो पाच अतिचार माने गए हैं, उनके पीछे यही भावना है कि उपासक की देने की वृत्ति सदा सोत्साह बनी रहे, उसमे क्षीणता न आए। उन अतिचारो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

सचित्त-निक्षेपणता—दान न देने की नीयत से अचित्त—निर्जीव—सयमी के लेने योग्य पदार्थों की सचित्त-सजीव धान्य आदि मे रख देना अथवा लेने योग्य पदार्थों में सचित्त पदार्थ मिला देना। ऐसा करने से साधु उन्हे ग्रहण नही कर सकता। यह मुख से भिक्षा न देने की बात न कह कर भिक्षा न देने का व्यवहार से धूर्तता पूर्ण उपक्रम है।

सचित्त-पिधान—दान न देने की भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त वस्तु को ढक देना, ताकि सयमी उसे स्वीकार न कर सके।

कालातिक्रम—काल या समय का अतिक्रम—उल्लघन करना। भिक्षा का समय टाल कर भिक्षा देने की तत्परता दिखाना। समय टल जाने से आने वाला साधु या अतिथि भोजन नही लेता, क्योकि तब तक उसका भोजन हो चुकता है। यह झूठा सत्कार है। ऐसा करने वाला व्यक्ति मन ही मन यह जानता है कि उसे भिक्षा या भोजन देना नही पडेगा, उसकी बात भी रह जायगी, यो कुछ लगे बिना ही सत्कार हो जायगा।

परव्यपदेश—न देने की नीयत से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना।

मत्सरिता—मत्सर या ईर्ष्यावश आहार आदि देना। ईर्ष्या का अर्थ यहा यह है—जैसे कोई व्यक्ति देखता है, अमुक ने ऐसा दान दिया है तो उसके मन मे आता है, मैं उससे कम थोडा ही हू मैं भी दू। ऐसा करने में दान की भावना नही है, अहकार की भावना है। किन्ही ने मत्सरिता का अर्थ कृपणता या कजूसी किया है। तदनुसार दान देने मे कजूसी करना इस अतिचार मे आता है। कही कही मत्सरिता का अर्थ क्रोध भी किया गया है, उनके अनुसार क्रोधपूर्वक भिक्षा या भोजन देना, यह अतिचार है।

मरणान्तिक-संलेखना के अतिचार

५७. तयाणंतरं च णं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।

तदनन्तर अपश्चिम-मरणातिक—सलेषणा—जोषणाआराधना के पाच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं —

इहलोक-आशंसाप्रयोग, परलोक-आशसाप्रयोग, जीवित-आशसाप्रयोग, मरण-आशसाप्रयोग तथा काम-भोग-आशसाप्रयोग।

विवेचन

जैनदर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मा के सत्य स्वरूप की प्राप्ति। उस पर कर्मों के जो आवरण आए हुए हैं, उन्हें क्षीण करते हुए इस दिशा मे बढते जाना, साधना की यात्रा है। देह उसमे उपयोगी है। सासारिक कार्य जो देह से सधते है, वे तो प्रासगिक हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से देह का यथार्थ उपयोग, सवर तथा निर्जरामूलक धर्म का अनुसरण है। उपासक या साधक अपनी देह की परिपालना इसीलिए करता है कि वह उसके धर्मानुष्ठान मे सहयोगी है। न कोई सदा युवा रहता है और न स्वस्थ, सुपुष्ट ही। युवा वृद्ध हो जाता है, स्वस्थ, रुग्ण हो जाता है और सुपुष्ट दुर्बल। एक ऐसा समय आ जाता है, जब देह अपने निर्वाह के लिए स्वय दूसरों का सहारा चाहने लगती है। रोग और दुर्बलता के कारण व्यक्ति धार्मिक क्रियाए करने मे असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन मे उत्साह घटने लगता है, कमजोरी आने लगती है, विचार मलिन होने लगते हैं, जीवन एक भार लगने लगता है। भार को तो ढोना पडता है। विवेकी साधक ऐसा क्यो करे?

जैनदर्शन वहा साधक को एक मार्ग देता है। साधक शान्ति एव दृढतापूर्वक शरीर के सरक्षण का भाव छोड देता है। इसके लिए वह खान-पान का परित्याग कर देता है और एकान्त या पवित्र स्थान मे आत्मचिन्तन करता हुआ भावो की उच्च भूमिका पर आरूढ हो जाता है। इस व्रत को सलेषणा कहा जाता है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने सलेषणा का अर्थ शरीर एव कषायो को कृश करना किया है। सलेषणा के आगे जोषणा और आराधना दो शब्द और है। जोषणा का अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन है। आराधना का अर्थ अनुसरण करना या जीवन में उतारना है अर्थात् सलेषणा-व्रत का प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करना। दो विशेषण साथ मे और हैं—अपश्चिम और मरणान्तिक। अपश्चिम का अर्थ है अन्तिम या आखिरी, जिसके बाद इस जीवन मे और कुछ करना बाकी न रह जाय। मरणान्तिक का अर्थ है, मरण पर्यन्त चलने वाली आराधना। इस व्रत मे जीवन भर के लिए आहार-त्याग तो होता ही है, साधक लौकिक, पारलौकिक कामनाओं को भी छोड देता है। उसमें इतनी आत्म-रति व्याप्त हो जाती है कि जीवन और मृत्यु की कामना से वह ऊचा उठ जाता है। न उसे जीवन की चाह रहती है कि वह कुछ समय और जी ले और न मृत्यु से डरता है तथा न उसे जल्दी पा लेने के लिए आकुल-आतुर होता है कि देह का अन्त हो जाय, आफत मिटे। सहज भाव से जब भी मौत आती है, वह उसका शान्ति से वरण करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से कितनी पवित्र, उन्नत और प्रशस्त मन·स्थिति यह है।

इस व्रत के जो अतिचार परिकल्पित किए गए है, उनके पीछे यही भावना है कि साधक की यह पुनीत वृत्ति कही व्याहत न हो जाय।

अतिचारो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—इहलोक-आशसाप्रयोग—ऐहिक भोगो या सुखो की कामना, जैसे मैं मरकर राजा, समृद्धिशाली तथा सुखसंपन्न बनू।

परलोक-आशसाप्रयोग—परलोक—स्वर्ग मे प्राप्त होने वाले भोगों की कामना करना, जैसे

मैं मर कर स्वर्ग प्राप्त करूं तथा वहा के अतुल सुख भोगूं।

जीवित-आशंसाप्रयोग—प्रशस्ति, प्रशसा, यश, कीर्ति आदि के लोभ से या मौत के डर से जीने की कामना करना।

मरण-आशसाप्रयोग—तपस्या के कारण होनेवाली भूख, प्यास तथा दूसरी शारीरिक प्रतिकूलताओ को कष्ट मान कर शीघ्र मरने की कामना करना, यह सोच कर कि जल्दी ही इन कष्टो से छुटकारा हो जाय।

कामभोग-आशसाप्रयोग—ऐहिक तथा पारलौकिक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शमूलक इन्द्रिय-सुखों को भोगने की कामना करना—ऐसी भावना रखना कि अमुक भोग्य पदार्थ मुझे प्राप्त हों।

इस अन्तिम साधना-काल मे उपर्युक्त विचारों का मन में आना सर्वथा अनुचित है। इससे आन्तरिक पवित्रता बाधित होती है। जिस पुनीत और महान् लक्ष्य को लिए साधक साधना-पथ पर आरूढ होता है, इससे उस की पवित्रता घट जाती है। इसलिए साधक को इस स्थिति में बहुत ही जागरूक रहना अपेक्षित है।

यों त्याग-तितिक्षा और अध्यात्म की उच्च भावना के साथ स्वयं मृत्यु को वरण करना जैन शास्त्रो में मृत्यु-महोत्सव कहा गया है। सचमुच यह बड़ी विचित्र और प्रशसनीय स्थिति है। जहा एक ओर देखा जाता है, अनेक रोगो से जर्जर, आखिरी सास लेता हुआ भी मनुष्य जीना चाहता है, जीने के लिए कराहता है, वहां एक यह साधक है, जो पूर्ण रूप से समभाव मे लीन होकर जीवन-मरण की कामना से ऊपर उठ जाता है।

नही समझने वाले कभी-कभी इसे आत्महत्या की सज्ञा देने लगते है। वे क्यों भूल जाते हैं, आत्म-हत्या क्रोध, दुःख, शोक, मोह आदि उग्र मानसिक आवेगों से कोई करता है, जिसे जीवन में कोई सहारा नही दीखता, सब ओर अधेरा ही अधेरा नजर आता है। यह आत्मा की कमजोरी का घिनौना रूप है। सलेखनापूर्वक आमरण अनशन तो आत्मा का हनन नही, उसका विकास, उन्नयन और उत्थान है, जहा काम, क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि से साधक बहुत ऊँचा उठ जाता है।

आनन्द द्वारा अभिग्रह

५८. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावय-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्न-उत्थिए वा अन्न-उत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थिय-परिग्गहियाणि चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्वि अणालत्तेण आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुञ्छणेणं, पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं, ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए—

—त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ, आदित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स

अंतियाओ दुइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिवनन्दं भारियं एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुप्पिए ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते । से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव (णमंसाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि ।

* फिर आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत-रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म स्वीकार किया । स्वीकार कर भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार कर वह भगवान् से यो बोला—

भगवन् ! आज से अन्ययूथिक—निर्ग्रन्थ धर्म-सघ के अतिरिक्त अन्य सघो से सम्बद्ध पुरुष, उनके देव, उन द्वारा परिगृहीत · स्वीकृत चैत्य—उन्हे वन्दना करना, नमस्कार करना, उनके पहले बोले बिना उनसे आलाप—सलाप करना, उन्हे धार्मिक दृष्टि से अशन—रोटी, भात आदि अन्न-निर्मित खाने के पदार्थ, पान—पानी, दूध आदि पेय पदार्थ, खादिम—खाद्य—फल, मेवा आदि अन्न-रहित खाने की वस्तुए तथा स्वादिम —स्वाद्य—पान, सुपारी आदि मुखवास व मुख-शुद्धिकर चीजे प्रदान करना, अनुप्रदान करना मेरे लिए कल्पनीय—धार्मिक दृष्टि से करणीय नही है अर्थात् ये कार्य मै नही करूंगा । राजा, गण—जन-समुदाय अथवा विशिष्ट जनसत्तात्मक गणतत्रीय शासन, बल—सेना या बली पुरुष, देव व माता-पिता आदि गुरुजन का आदेश या आग्रह तथा अपनी आजीविका के सकटग्रस्त होने की स्थिति—मेरे लिए इसमे अपवाद हैं अर्थात् इन स्थितियो मे उक्त कार्य मेरे लिए करणीय है ।

श्रमणो, निर्ग्रन्थो को प्रासुक—अचित्त, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन—रजोहरण या पैर पोंछने का वस्त्र, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि, औषध—सूखी जड़ी-बूटी, भेषज—दवा देना मुझे कल्पता है—मेरे लिए करणीय है ।

आनन्द ने यो अभिग्रह—सकल्प स्वीकार किया । वैसा कर भगवान् से प्रश्न पूछे । प्रश्न पूछकर उनका अर्थ—समाधान प्राप्त किया । समाधान प्राप्त कर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वदना की । वदना कर भगवान् के पास से, दूतीपलाश नामक चैत्य से रवाना हुआ । रवाना होकर जहा वाणिज्यग्राम नगर था, जहा अपना घर था, वहा आया । आकर अपनी पत्नी शिवनन्दा को यों बोला—देवानुप्रिये ! मैंने श्रमण भगवान् के पास से धर्म सुना है । वह धर्म मेरे लिए इष्ट, अत्यन्त इष्ट और रुचिकर है । देवानुप्रिये ! तुम भगवान् महावीर के पास जाओ, उन्हे वदना करो, [नमस्कार करो, उनका सत्कार करो, सम्मान करो, वे कल्याणमय हैं, मगलमय हैं, देव हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं,] पर्युपासना करो तथा पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत-रूप बारह प्रकार का गृहस्थ-धर्म स्वीकार करो ।

विवेचन

श्रावक के बारह व्रत, पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप मे विभाजित हैं । अणुव्रत

मूल व्रत हैं। शिक्षाव्रत उनके पोषण, सवर्धन एव विकास के लिए हैं। शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। ये व्रत अणुव्रतों के अभ्यास या साधना में स्थिरता लाने में विशेष उपयोगी हैं।

शाब्दिक भेद से इन सात [शिक्षा] व्रतो का विभाजन दो प्रकार से किया जाता रहा है। इन सातो को शिक्षाव्रत तो कहा ही जाता है, जैसा पहले उल्लेख हुआ है, इनमें पहले तीन—अनर्थदण्ड-विरमण, दिग्व्रत, तथा उपभोग-परिभोगपरिमाण गुणव्रत और अन्तिम चार—सामायिक, देशावकाशिक, पोषधोपवास एव अतिथिसविभाग, शिक्षाव्रत कहे गये है।

गुणव्रत कहे जाने के पीछे साधारणतया यही भाव है कि ये अणुव्रतों के गुणात्मक विकास मे सहायक हैं अथवा साधक के चारित्रमूलक गुणों की वृद्धि करते हैं। अगले चार मुख्यत: अभ्यासपरक हैं, इसलिए उनके साथ 'शिक्षा' शब्द विशेषणात्मक दृष्टि से सहजतया सगत है।

वैसे सामान्य रूप में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत दोनो ही अणुव्रतो के अभ्यास में सहायक है, इसलिए स्थूल रूप मे सातो को जो शिक्षाव्रत कहा जाता है, उपयुक्त ही है।

सात शिक्षाव्रतो का जो क्रम औपपातिक सूत्र आदि मे है, उसका यहाँ उल्लेख किया गया है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में क्रम कुछ भिन्न है। तत्त्वार्थसूत्र मे इन व्रतो का क्रम दिग्, देश, अनर्थ-दड-विरति, सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण तथा अतिथि-सविभाग के रूप में है। वहाँ इन्हे शिक्षाव्रत न कह कर केवल यही कहा गया है कि श्रावक इन व्रतों से भी सपन्न होता है।[1] किन्तु क्रम में किंचित् अन्तर होने पर भी तात्पर्य मे कोई भेद नही है।

आनन्द ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करने के पश्चात् जो विशेष सकल्प किया, उसके पीछे अपने द्वारा विवेक और समझपूर्वक स्वीकार किए गए धर्म-सिद्धान्तो मे सुदृढ एव सुस्थिर बने रहने की भावना है। अतएव वह धार्मिक दृष्टि से अन्य धर्म-सघो के व्यक्तियो से अपना सम्पर्क रखना नही चाहता ताकि जीवन मे कोई ऐसा प्रसंग ही न आए, जिससे विचलन की आशका हो।

प्रश्न हो सकता है, जब आनन्द ने सोच-समझ कर धर्म के सिद्धान्त स्वीकार किये थे तो उसे यो शकित होने की क्या आवश्यकता थी? साधारणतया बात ठीक लगती है, पर जरा गहराई मे जाए। मानव-मन बड़ा भावुक है। भावुकता कभी-कभी विवेक को आवृत कर देती है। फलत· व्यक्ति उसमें बह जाता है, जिससे उसकी सद् आस्था डगमगा सकती है। इसी से बचाव के लिए आनन्द का यह अभिग्रह है।

इस सन्दर्भ में प्रयुक्त चैत्य शब्द कुछ विवादास्पद है। चैत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म. ने चैत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थों की गवेषणा की।[2]

चैत्य शब्द के सन्दर्भ में भाषा-वैज्ञानिको का ऐसा अनुमान है कि किसी मृत व्यक्ति के जलाने के स्थान पर उसकी स्मृति में एक वृक्ष लगाने की प्राचीन काल में परम्परा रही है। भारतवर्ष से बाहर भी ऐसा होता रहा है। चिति या चिता के स्थान पर लगाए जाने के कारण वह वृक्ष 'चैत्य' कहा जाने लगा हो। आगे चलकर यह परम्परा कुछ बदल गई। वृक्ष के स्थान पर स्मारक

---

१. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसविभागव्रतसपन्नश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र ७. १६

२. जयध्वज, पृष्ठ ५७३-७६

के रूप में मकान बनाया जाने लगा। उस मकान में किसी लौकिक देव या यक्ष आदि की प्रतिमा स्थापित की जाने लगी। यों उसने एक देव-स्थान या मन्दिर का रूप ले लिया। वह चैत्य कहा जाने लगा। ऐसा होते-होते चैत्य शब्द सामान्य मन्दिरवाची भी हो गया।

चैत्य का एक अर्थ ज्ञान भी है। एक अर्थ यति या साधु भी है। आचार्य कुंदकुंद ने 'अष्ट-प्राभृत' में चैत्य शब्द का इन अर्थों में प्रयोग किया है।[1]

अन्य-यूथिक-परिगृहीत चैत्यो को वंदन, नमस्कार न करने का, उनके साथ आलाप-संलाप न करने का जो अभिग्रह आनन्द ने स्वीकार किया, वहाँ चैत्य का अर्थ उन साधुओ से लिया जाना चाहिए, जिन्होंने जैनत्व की आस्था छोडकर पर-दर्शन की आस्था स्वीकार कर ली हो और पर-दर्शन के अनुयायियो ने उन्हे परिगृहीत या स्वीकार कर लिया हो। एक अर्थ यह भी हो सकता है, दूसरे दर्शन में आस्था रखने वाले वे साधु, जो जैनत्व की आस्था में आ गए हों, पर जिन्होने अपना पूर्व वेश नही छोडा हो, अर्थात् वेश द्वारा अन्य यूथ या संघ से संबद्ध हो। ये दोनो ही श्रावक के लिए वंदनीय नही होते। पहले तो वस्तुत: साधुत्वशून्य हैं ही, दूसरे-गुणात्मक दृष्टि से ठीक हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से उन्हे वंदन करना समुचित नही होता। इससे साधारण श्रावको पर प्रतिकूल असर होता है, मिथ्यात्व बढने की आशंका बनी रहती है।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, अन्य मतावलम्बी साधुओ को वन्दन, नमन आदि न करने की बात मूलत: आध्यात्मिक या धार्मिक दृष्टि से है। शिष्टाचार, सद्व्यवहार आदि के रूप में वैसा करना निषिद्ध नही है। जीवन मे व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से भी अनेक कार्य करने होते हैं, जिनका आधार सामाजिक मान्यता या परम्परा होता है।

५९. तए णं सा सिवनंदा भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा जाव चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परम-सोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामि!' त्ति आणंदस्स समणोवासगस्स एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ।

तए णं से आणंदे समणोवासए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो! देवाणुप्पिया! लहुकरणजुत्तजोइयं, समखुर-वालिहाण-समलिहियसिंगएहिं जंबूणयामयकलावजुत्त-पइविसिट्ठएहिं रययामयघंट-सुत्तरज्जुग-वरकंचणखचिय-नत्थपग्गहोग्गहियएहिं नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणि-कणगघंटियाजालपरिगयं, सुजायजुगजुत्त-उज्जुगपसत्थ-सुविरइय-निम्मियं, पवरलक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा 'एवं सामि!' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं जाव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

तए णं सा सिवणंदा भारिया ण्हाया, कयबलिकम्मा, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता, सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा चेडियाचक्कवाल-

---

१. बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥

परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता वाणियगामं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव दूइपलासए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिकिण्णा जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, णमंसइ; वंदित्ता, णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहे विणएणं पंजलियडा) पज्जुवासइ।

श्रमणोपासक आनन्द ने जब अपनी पत्नी शिवनन्दा से ऐसा कहा तो उसने हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न होते हुए [चित्त मे आनन्द एव प्रीति का अनुभव करते हुए अतीव सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय हो,] हाथ जोड़े, सिर के चारो ओर घुमाए तथा अजलि बाधे, 'स्वामी ऐसा ही अर्थात् आपका कथन स्वीकार है,' यो आदरपूर्ण शब्दो से पति को सम्बोधित—प्रत्युत्तरित करते हुए अपने पति आनन्द का कथन स्वीकृतिपूर्ण भाव से विनयपूर्वक सुना। तब श्रमणोपासक आनन्द ने अपने सेवकों को बुलाया और कहा—तेज चलने वाले, एक जैसे खुर, पू छ तथा अनेक रगो से चित्रित सीगवाले, गले में सोने के गहने और जोत धारण किये, गले से लटकती चादी की घटियो सहित नाक मे उत्तम सोने के तारो से मिश्रित पतली-सी सूत की नाथ से जुडी रास के महारे वाहको द्वारा सम्हाले हुए, नीले कमलो से बनी कलगी से युक्त मस्तक वाले, दो युवा बैलो द्वारा खीचे जाते, अनेक प्रकार की मणियो और सोने की बहुत-सी घटियो से युक्त, बढिया लकडी के एकदम सीधे, उत्तम और सुन्दर बने जुए सहित, श्रेष्ठ लक्षणो से युक्त धार्मिक कार्यो मे उपभोग मे आने वाला यानप्रवर—श्रेष्ठ रथ शीघ्र ही उपस्थित करो, उपस्थित करके मेरी यह आज्ञा वापिस करो अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दो।

श्रमणोपासक आनन्द द्वारा यो कहे जाने पर सेवको ने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए विनयपूर्वक अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य की और जैसे शीघ्रगामी बैलो से युक्त यावत् धार्मिक उत्तम रथ के लिए आदेश दिया गया था, उपस्थित किया।

आनन्द की पत्नी शिवनन्दा ने स्नान किया, नित्य-नैमित्तिक कार्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से आखो में काजल आजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दु स्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि से मगल-विधान किया, शुद्ध, उत्तम, मागलिक वस्त्र पहने, थोडे से—सख्या मे कम पर बहुमूल्य आभूषणो से देह को अलकृत किया। दासियो के समूह से घिरी वह धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई। सवार होकर वाणिज्यग्राम नगर के बीच से गुजरी, जहाँ दूतीपलाश चैत्य था, वहाँ आई, आकर धार्मिक उत्तम रथ से नीचे उतरी, नीचे उतर कर दासियो के समूह से घिरी वहाँ गई जहाँ भगवान् महावीर विराजित थे। जाकर तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दन नमस्कार किया, भगवान् के न अधिक निकट, न अधिक दूर सम्मुख अवस्थित हो, नमन करती हुई, सुनने की उत्कठा लिए, विनयपूर्वक हाथ जोडे, पर्युपासना करने लगी।

६०. तए णं समणे भगवं महावीरे सिवनंदाए तीसे य महइ जाव[1] धम्मं कहेइ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने शिवनन्दा को तथा उपस्थित परिषद् [जन-समूह] को धर्म-देशना दी।

---

१. देखे सूत्र—सख्या ११।

६१. तए णं सा सिवनंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव[1] गिहिधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ दुरुहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ।

तब शिवनन्दा श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर तथा उसे हृदय में धारण करके अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसने गृहि-धर्म—श्रावकधर्म स्वीकार किया, स्वीकार कर वह उसी धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई, सवार होकर जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की ओर चली गई ।

आनन्द का भविष्य

६२. भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पहू णं भंते ! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे जाव[2] पव्वइत्तए ?

नो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणिहिइ, पाउणित्ता जाव (एक्कारस य उवासगपडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा) सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिइ । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

गौतम ने भगवान् महावीर को वन्दन—नमस्कार किया और पूछा-भन्ते ! क्या श्रमणोपासक आनन्द देवानुप्रिय के—आपके पास मुंडित एवं परिव्रजित होने में समर्थ है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! ऐसा संभव नहीं है । श्रमणोपासक आनन्द बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय—श्रावक-धर्म का पालन करेगा [उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का भली-भांति स्पर्श—अनुपालन करेगा, अन्तत एक मास की संलेखना एवं साठ भोजन का—एक मास का अनशन आराधित कर आलोचना प्रतिक्रमण—ज्ञात-अज्ञान रूप में आचरित दोषों की आलोचना कर समाधिपूर्वक यथासमय देह-त्याग करेगा ।] वह सौधर्म-कल्प में—सौधर्म नामक देवलोक में अरुणाभ नामक विमान में देव के रूप में उत्पन्न होगा । वहां अनेक देवों की आयु-स्थिति चार पल्योपम [काल का परिमाण विशेष] की होती है । श्रमणोपासक आनन्द की भी आयु-स्थिति चार पल्योपम की होगी ।

विवेचन

यहाँ प्रयुक्त 'पल्योपम' शब्द एक विशेष, अति दीर्घ काल का द्योतक है । जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है । प्रस्तुत आगम में प्रत्येक अध्ययन में श्रावकों की स्वर्गिक काल-स्थिति का सूचन करने के लिए इसका प्रयोग हुआ है ।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बडा कोठा है । उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है ।

---

१. देखें सूत्र—संख्या १२ ।

२. देखें सूत्र—संख्या १२ ।

पल्योपम के तीन भेद है—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।
उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बडा कोठा या कुआँ हो, जो एक योजन [चार कोस] लम्बा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालो के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाए, उनसे ठूस-ठूस कर उस कोठे या कुएं को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाय। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यो भरे हुए कुए मे से एक-एक समय में एक-एक बाल-खड निकाला जाय। यो निकालते निकालते जितने काल में वह कुआँ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालो के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी सज्ञा उद्धार-पल्योपम है। यह सख्यात समय-प्रमाण माना जाता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एव व्यावहारिक। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम मे कुए को भरने मे यौगलिक शिशु के बालो के टुकडों की जो चर्चा आई है, उनमे से प्रत्येक टुकडे के असख्यात अदृश्य खड किए जाएँ। उन सूक्ष्म खडो से पूर्व-वर्णित कुआँ ठूस-ठूस कर भरा जाय। वैसा कर लिये जाने पर प्रतिसमय एक-एक खड कुए मे से निकाला जाय, यों करते-करते जितने काल में वह कुआँ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमें सख्यात-वर्ष-कोटि परिमाण-काल माना जाता है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसग मे जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के बालो के टुकडों से भरे हुए कुए में से सौ-सौ वर्ष में एक-एक टुकडा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआँ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण सख्यात वर्षकोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहा जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों के असख्यात अदृश्य खड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहा भी वैसे ही असख्यात अदृश्य केश-खडों से वह कुआँ भरा जाय। प्रति सौ वर्ष मे एक खड निकाला जाए। यों निकालते निकालते जब कुआँ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असख्यात वर्षकोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कुए या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल-खडो से उपर्युक्त रूप मे दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खडो के बीच में आकाश-प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते हैं। वे खड चाहे कितने ही छोटे हो, आखिर वे रूपी या मूर्त है, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल रूप में उन खडो के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नही का जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नही है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—

कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बडे कोठे को कूष्मांडों—कुम्हड़ो से भर दिया गया। सामान्यतः देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नही है, पर यदि उसमें नीबू और भरे जाए तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओ से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नही। यदि उस कोठे में सरसो भरना चाहे तो वे भी समा जाए। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और स्थान खाली रहता है। यदि नदी के रज.कण उसमें भरे जाए, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई खाली स्थान प्रतीत नही होता पर उसमें हम अनेक खूटियाँ, कीले गाड सकते है। यदि वास्तव मे दीवाल में स्थान खाली नही होता तो यह कभी संभव नही था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमे मालूम नही पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र-पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालो के खडो के बीच-बीच मे जो आकाश-प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खडो को सस्पृष्ट करने वाले आकाश-प्रदेशो मे से प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिये जाए, कुआँ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है।

क्षेत्र-पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एव सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है :—कुए मे भरे यौगलिक के केश—खडो से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशो मे से एक-एक समय में एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यो निकालते-निकालते जितने काल मे वह कुआं समग्र आकाश—प्रदेशो से रिक्त हो जाय, वह कालपरिमाण सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असख्यात गुना अधिक होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र १३८-१४० तथा प्रवचन-सारोद्धारद्वार १४८ मे पल्योपम का विस्तार से विवेचन है।

६३. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जाव (वाणियगामाओ नयराओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं) विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम नगर के दूतीपलाश चैत्य से प्रस्थान कर एक दिन किसी समय अन्य जनपदों में विहार कर गए।

६४. तए णं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव (उवलद्ध-पुण्णपावे आसव-संवरनिज्जरकिरियाअहिगरणबंधमोक्खकुसले, असहेज्जे, देवासुरणागसुवण्णजक्खरक्खसकिण्णर-

किंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे; सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहे, अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउरपरघरदारप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गह-कंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पाडिहारिएण य पीढफलगसेज्जासंथारएणं) पडिलाभेमाणे विहरइ।

तब आनन्द श्रमणोपासक हो गया। जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया था, [पुण्य और पाप का भेद जान लिया था, आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण—जिसके आधार से क्रिया की जाए, बन्ध एव मोक्ष को जो भली-भांति अवगत कर चुका था, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक—आत्मनिर्भर था, जो देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—न विचलित किए जा सकने योग्य था, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे जो नि:शक—शका रहित, निष्काक्ष—आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकाक्षा-रहित, विचिकित्सा—सशय रहित, लब्धार्थ धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किये हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप मे आत्मसात् किए हुए था एव जो अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा था, जिसका यह निश्चित विश्वास था कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं। 'ऊसिय-फलिहे' उठी हुई अर्गला है जिसकी, ऐसे द्वार वाला अर्थात् सज्जनो के लिये उसके द्वार सदा खुले रहते थे। अवगुयदुवारे=खुले द्वार वाला अर्थात् दान के लिये उसके द्वार सदा खुले रहते थे। चियत्त का अर्थ है उन्होने किसी के अन्त:पुर और पर-घर मे प्रवेश को त्याग दिया था अथवा वह इतना प्रामाणिक था कि उसका अन्त:पुर मे और परघर में प्रवेश भी प्रीति-जनक था, अविश्वास उत्पन्न करने वाला नही था। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को जो [आनन्द] परिपूर्ण पोषध का अच्छी तरह अनुपालन करता हुआ, श्रमण निर्ग्रन्थो को प्रासुक—अचित्त या निर्जीव, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध, भेषज, प्रातिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थो को प्रतिलाभित करता हुआ] धार्मिक जीवन जी रहा था।

६५. तए णं सा सिवनंदा भारिया समणोवासिया जाया जाव[1] पडिलाभेमाणी विहरइ।

आनन्द की पत्नी शिवनन्दा श्रमणोपासिका हो गई। यावत् [जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त था, श्रमण-निर्ग्रन्थो को प्रासुक और एषणीय पदार्थों द्वारा प्रतिलाभित करती हुई] धार्मिक जीवन जीने लगी।

---

१. देखें सूत्र—सख्या ६४।

६६. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं वाणियगामे नयरे बहूणं राईसर जाव[1] सयस्स वि य णं कुडुंबस्स जाव (मेढी, पमाणं,) आधारे, तं एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव (पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अह पंडुरे पहाए रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए, उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा) जलंते विउलं असणपाणखाइमसाइमं जहा पूरणो, जाव (उवक्खडावेत्ता, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं आमंतेत्ता, तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता, सम्माणेत्ता, तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसंबंधि-परिजणस्स पुरओ) जेट्ठ-पुत्तं कुडुंबे ठवेत्ता, तं मित्त जाव (नाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं) जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसहसालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं विउलं तहेव जिमिय-भुत्तुत्तरागए तं मित्त जाव[2] विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव (नाइनियगसयणसंबंधिपरिजणस्स) पुरओ जेट्ठपुत्तं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—एवं खलु पुत्ता! अहं वाणियगामे बहूणं राईसर जहा चिंतियं जाव (एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपजित्ताणं) विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इदाणिं तुमं सयस्स कुडुम्बस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं ठवेत्ता जाव (तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं तुमं च आपुच्छित्ता कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसहसालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं) विहरित्तए।

तदनन्तर श्रमणोपासक आनन्द को अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग, पोषधोपवास आदि द्वारा आत्म-भावित होते हुए—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जब पन्द्रहवा वर्ष आधा व्यतीत हो चुका था, एक दिन आधी रात के बाद धर्म-जागरण करते हुए आनन्द के मन मे ऐसा अन्तर्भाव—चिन्तन, आन्तरिक मांग, मनोभाव या सकल्प उत्पन्न हुआ—वाणिज्यग्राम नगर में बहुत से मांडलिक नरपति, ऐश्वर्यशाली एव प्रभावशील पुरुष आदि के अनेक कार्यों में मैं पूछने योग्य एव सलाह लेने योग्य हूं, अपने सारे कुटुम्ब का मैं [मेढि, प्रमाण तथा] आधार हूं। इस व्याक्षेप—कार्यबहुलता या रुकावट के कारण मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप आचार का सम्यक् परिपालन नही कर पा रहा हूं। इसलिए मेरे लिए यही श्रेयस्कर है, मैं कल [रात बीत जाने पर, प्रभात हो जाने पर, नीले तथा अन्य कमलों के सुहावने रूप में खिल जाने पर, उज्ज्वल प्रभा एवं लाल

---

१. देखें सूत्र—सख्या ५।
२. देखें सूत्र यही।

अशोक, किंशुक, तोते की चोंच, घु घची के आधे भाग के रंग के सदृश लालिमा लिए हुए, कमल-वन को उद्बोधित—विकसित करने वाले, सहस्र-किरणयुक्त, दिन के प्रादुर्भावक सूर्य के उदित होने पर, अपने तेज से उद्दीप्त होने पर] मैं पूरण[1] की तरह [बड़े परिमाण में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य-आहार तैयार करवा कर मित्र-वृन्द, स्वजातीय लोग, अपने पारिवारिक जन, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धि-जन तथा दास-दासियों को आमन्त्रित कर उन्हे अच्छी तरह भोजन कराऊगा, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ—इत्र आदि, माला तथा आभूषणो से उनका सत्कार करुगा, सम्मान करुंगा एव उनके सामने] अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त करुगा—कुटुम्ब का भार सौपूंगा, अपने मित्र-गण [जातीय जन, पारिवारिक सदस्य, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी, परिजन] तथा ज्येष्ठ पुत्र को पूछ कर-उनकी अनुमति लेकर कोल्लाक-सन्निवेश में स्थित ज्ञातकुल की पोषध-शाला का प्रतिलेखन कर भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञति के अनुरूप आचार का परिपालन करुगा। यो आनन्द ने सप्रेक्षण—सम्यक् चिन्तन किया। वैसा कर, दूसरे दिन अपने मित्रों, जातीय जनो आदि को भोजन कराया। तत्पश्चात् उनका प्रचुर पुष्प, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, माला एव आभूषणो से सत्कार किया, सम्मान किया। यो सत्कार-सम्मान कर, उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया। बुलाकर, जैसा सोचा था, वह सब तथा अपनी सामाजिक स्थिति एव प्रतिष्ठा आदि समझाते हुए उसे कहा—पुत्र! वाणिज्यग्राम नगर मे मैं बहुत से माडलिक राजा, ऐश्वर्यशाली पुरुषो आदि से सम्बद्ध हू, [इस व्याक्षेप के कारण, श्रमण, भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्मप्रज्ञप्ति के अनुरूप] समुचित धर्मोपासना कर नही पाता। अत इस समय मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि तुमको अपने कुटुम्ब के मेढि, प्रमाण, आधार एव आलम्बन के रूप में स्थापित कर मैं [मित्र-वृन्द, जातीय जन, परिवार के सदस्य, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी, परिजन—इन सबको तथा तुम को पूछकर कोल्लाक-सन्निवेश-स्थित ज्ञातकुल की पौषध-शाला का प्रतिलेखन कर, भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप] समुचित धर्मोपासना मे लग जाऊ।

६७. तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ।

तब श्रमणोपासक आनन्द के ज्येष्ठ पुत्र ने 'जैसी आपकी आज्ञा' यो कहते हुए अत्यन्त विनयपूर्वक अपने पिता का कथन स्वीकार किया।

६८. तए णं से आणंदे समणोवासए तस्सेव मित्त जाव[2] पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एवं वयासी—मा णं, देवाणुप्पिया! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु जाव (य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य) आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, ममं अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा।

श्रमणोपासक आनन्द ने अपने मित्र-वर्ग, जातीय जन आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटम्ब मे अपने स्थान पर स्थापित किया—उत्तर-दायित्व उसे सौंपा। वैसा कर उपस्थित जनो से उसने कहा—महानुभावो! [देवानुप्रियो] आज से आप मे से कोई भी मुझे विविध कार्यों [कारणों, मत्रणाओ, पारिवारिक समस्याओं, गोपनीय बातो, एकान्त मे विचारणीय विषयो, किए गए

---

१ देखिये—भगवती सूत्र।

२ देखे सूत्र—सख्या ६६।

निर्णयों तथा परस्पर के व्यवहारों] के सम्बन्ध में न कुछ पूछें और न परामर्श ही करें, मेरे हेतु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि आहार तैयार न करें और न मेरे पास लाए।

६९. तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठपुत्तं मित्तनाई आपुच्छइ, आपुच्छित्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता वाणियगामं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे, जेणेव नायकुले, जेणेव पोसह-साला, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारयं संथरइ, संथरेत्ता दब्भसंथारयं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोसहसालाए [पोसहिए दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

फिर आनन्द ने अपने ज्येष्ठ पुत्र, मित्र-वृन्द, जातीय जन आदि की अनुमति ली। अनुमति लेकर अपने घर से प्रस्थान किया। प्रस्थान कर वाणिज्यग्राम नगर के बीच से गुजरा, जहा कोल्लाक सन्निवेश था, ज्ञातकुल एव ज्ञातकुल की पोषधशाला थी, वहा पहुंचा। पहुंचकर पोषध-शाला का प्रमार्जन किया—सफाई की, शौच एव लघुशका के स्थान की प्रतिलेखना की। वैसा कर दर्भ—कुश का सस्तारक—बिछौना लगाया, उस पर स्थित हुआ, स्थित होकर पोषधशाला मे पोषध स्वीकार कर श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धार्मिक शिक्षा के अनुरूप साधना-निरत हो गया।

७०. तए णं से आणंदे समणोवासए उवासगपडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, कित्तेइ, आराहेइ।

तदनन्तर श्रमणोपासक आनन्द ने उपासक-प्रतिमाए स्वीकार की। पहली उपासक-प्रतिमा उसने यथाश्रुत—शास्त्र के अनुसार, यथाकल्प—प्रतिमा के आचार या मर्यादा के अनुसार, यथामार्ग-विधि या क्षायोपशमिक भाव के अनुसार, यथातत्त्व—सिद्धान्त या दर्शन-प्रतिमा के शब्द के तात्पर्य के अनुरूप भली-भाति सहज रूप में ग्रहण की, उसका पालन किया, अतिचार-रहित अनुसरण कर उसे शोधित किया अथवा गुरु-भक्तिपूर्वक अनुपालन द्वारा शोभित किया, तीर्ण किया—आदि से अन्त तक अच्छी तरह पूर्ण किया, कीर्तित किया—सम्यक् परिपालन द्वारा अभिनन्दित किया, आराधित किया।

७१. तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं, एक्कारसमं जाव (अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, कित्तेइ,) आराहेइ।

श्रमणोपासक आनन्द ने तत्पश्चात् दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी, सातवी, आठवी, नौवी, दसवी तथा ग्यारहवी प्रतिमा की आराधना की। [उनका यथाश्रुत, यथाकल्प, यथामार्ग एव यथातत्त्व भली-भाति स्पर्श, पालन, शोधन तथा प्रशस्ततापूर्ण समापन किया।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आनन्द द्वारा ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की आराधना का उल्लेख है। उपासक-प्रतिमा गृहस्थ साधक के धर्माराधन का एक उत्तरोत्तर विकासोन्मुख विशेष क्रम है, जहा आराधक विशिष्ट धार्मिक क्रिया के उत्कृष्ट अनुष्ठान में सलीन हो जाता है। प्रतिमा शब्द जहा

प्रतीक या प्रतिबिम्ब आदि का वाचक है, वहाँ इसका एक अर्थ प्रतिमान या मापदण्ड भी है। साधक जहाँ किसी एक अनुष्ठान के उत्कृष्ट परिपालन में लग जाता है, वहाँ वह अनुष्ठान या आचार उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। उसका परिपालन एक आदर्श उदाहरण या मापदण्ड का रूप ले लेता है। अर्थात् वह अपनी साधना द्वारा एक ऐसी स्थिति उपस्थित करता है, जिसे अन्य लोग उस आचार का प्रतिमान स्वीकार करते हैं। यह विशिष्ट प्रतिज्ञारूप है।

साधक अपना आत्म-बल सजोये प्रतिमाओं की आराधना में पहली से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी—यों क्रमशः उत्तरोत्तर आगे बढता जाता है। एक प्रतिमा को पूर्ण कर जब वह आगे की प्रतिमा को स्वीकार करता है, तब स्वीकृत प्रतिमा के नियमों के साथ-साथ पिछली प्रतिमाओं के नियम भी पालता रहता है। ऐसा नही होता, अगली प्रतिमा के नियम स्वीकार किये, पिछली के छोड दिये। यह क्रम अन्त तक चलता है।

आचार्य अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति मे सक्षेप में इन ग्यारह प्रतिमाओ पर प्रकाश डाला है। एतत्सबधी गाथाए भी उद्धृत की हैं।

उपासक की प्रतिमाओ का सक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार है—

१. दर्शनप्रतिमा—दर्शन का अर्थ दृष्टि या श्रद्धा है। दृष्टि या श्रद्धा वह तत्त्व है, जो आत्मा के अभ्युदय और विकास के लिए सर्वाधिक आवश्यक है। दृष्टि शुद्ध होगी, सत्य में श्रद्धा होगी, तभी साधनोन्मुख व्यक्ति साधना-पथ पर सफलता से गतिशील हो सकेगा। यदि दृष्टि मे विकृति, शका, अस्थिरता आ जाय तो आत्म-विकास के हेतु किए जाने वाले प्रयत्न सार्थक नही होते।

वैसे श्रावक साधारणतया सम्यक्दृष्टि होता ही है, पर इस प्रतिमा में वह दर्शन या दृष्टि की विशेष आराधना करता है। उसे अत्यन्त स्थिर तथा अविचल बनाए रखने हेतु वीतराग देव, पञ्चमहाव्रतधर गुरु तथा वीतराग द्वारा निरूपित मार्ग पर वह दृढ विश्वास लिए रहता है, एतन्मूलक चिन्तन, मनन एव अनुशीलन में तत्पर रहता है।

दर्शनप्रतिमा का आराधक श्रमणोपासक सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है। उसके प्रतिपालन में शंका, कांक्षा आदि के लिए स्थान नही होता। वह अपनी आस्था मे इतना दृढ होता है कि विभिन्न मत-मतान्तरो को जानता हुआ भी उधर आकृष्ट नही होता। वह अपनी आस्था, श्रद्धा या निष्ठा को अत्यन्त विशुद्ध बनाए रहता है। उसका चिन्तन एव व्यवहार इसी आधार पर चलता है।

दर्शनप्रतिमा की आराधना का समय एक मास का माना गया है।

२. व्रतप्रतिमा—दर्शन-प्रतिमा की आराधना के पश्चात् उपासक व्रत-प्रतिमा की आराधना करता है। व्रत-प्रतिमा में वह पाच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है और तीन गुणव्रतों का भी। चार शिक्षाव्रतों को भी वह स्वीकार करता है, किन्तु उनमें सामायिक और देशावकाशिक व्रत का यथाविधि सम्यक् पालन नहीं कर पाता। वह अनुकम्पा आदि गुणों से युक्त होता है।

इस प्रतिमा की आराधना का काल-मान दो मास का है।

३. सामायिकप्रतिमा—सम्यक् दर्शन एव व्रतों की आराधना करने वाला साधक सामायिक-प्रतिमा स्वीकार कर प्रतिदिन नियमतः तीन बार सामायिक करता है। इस प्रतिमा में वह सामायिक

एवं देशावकाशिक व्रत का सम्यक् रूप में पालन करता है, पर अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा आदि विशिष्ट दिनो में पोषधोपवास की भली-भांति आराधना नहीं कर पाता ।

तन्मयता एवं जागरूकता के साथ सामायिक व्रत की उपासना इस प्रतिमा का अभिप्रेत है । इसकी आराधना की अवधि तीन मास की है ।

४. पोषधप्रतिमा—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रतिमा से आगे बढता हुआ आराधक पोषध-प्रतिमा स्वीकार कर अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों पर पोषध-व्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है । इस प्रतिमा की आराधना का समय चार मास है ।

५. कायोत्सर्गप्रतिमा—कायोत्सर्ग का अर्थ काय या शरीर का त्याग है । शरीर तो यावज्जीवन साथ रहता है, उसके त्याग का अभिप्राय उसके साथ रही आसक्ति या ममता को छोड़ना है । कायोत्सर्ग-प्रतिमा मे उपासक शरीर, वस्त्र आदि का ध्यान छोड़कर अपने को आत्म-चिन्तन में लगाता है । अष्टमी एव चतुर्दशी के दिन रात भर कायोत्सर्ग या ध्यान की आराधना करता है । इस प्रतिमा की अवधि एक दिन, दो दिन अथवा तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच मास की है । इसमें रात्रि-भोजन का त्याग रहता है । दिन मे ब्रह्मचर्य व्रत रखा जाता है । रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण किया जाता है ।

६. ब्रह्मचर्यप्रतिमा—इसमे पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है । स्त्रियों से अनावश्यक मेलजोल, बातचीत, उनकी शृंगारिक चेष्टाओ का अवलोकन आदि इसमें वर्जित है । उपासक स्वय भी शृंगारिक वेशभूषा व उपक्रम से दूर रखता है ।

इस प्रतिमा मे उपासक सचित्त आहार का त्याग नही करता । कारणवश वह सचित्त का सेवन करता है ।

इस प्रतिमा की आराधना का काल-मान न्यूनतम एक दिन, दो दिन या तीन दिन तथा उत्कृष्ट छह मास है ।

[इसमें जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य स्वीकार किये रहने का भी विधान है ।]

७. सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा—पूर्वोक्त नियमो का परिपालन करता हुआ, परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुसरण करता हुआ उपासक इस प्रतिमा मे सचित्त आहार का सर्वथा त्याग कर देता है, पर वह आरम्भ का त्याग नही कर पाता ।

इस प्रतिमा की आराधना का उत्कृष्ट काल सात मास का है ।

८. स्वयं-आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमो का पालन करते हुए इस प्रतिमा में उपासक स्वयं किसी प्रकार का आरम्भ या हिंसा नही करता । इतना विकल्प इसमें है—आजीविका या निर्वाह के लिए दूसरे से आरम्भ कराने का उसे त्याग नही होता ।

इस प्रतिमा की आराधना की अवधि न्यूनतम एक दिन, दो दिन या तीन दिन तथा उत्कृष्ट आठ मास है ।

९. भृतक-प्रेष्यारम्भ-वर्जन-प्रतिमा—पूर्ववर्ती प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करता

हुआ उपासक इस प्रतिमा में आरम्भ का परित्याग कर देता है। अर्थात् वह स्वय आरम्भ नही करता, औरों से नहीं कराता, किन्तु आरम्भ करने की अनुमति देने का उसे त्याग नही होता।

अपने उद्देश्य से बनाए गए भोजन का वह परिवर्जन नही करता, उसे ले सकता है।

इस प्रतिमा की आराधना की न्यूनतम अवधि एक दिन, दो दिन या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट नौ मास है।

१०. उद्दिष्ट-भक्त-वर्जन-प्रतिमा—पूर्वोक्त नियमो का अनुपालन करता हुआ उपासक इस प्रतिमा में उद्दिष्ट --अपने लिए तैयार किए गए भोजन आदि का भी परित्याग कर देता है। वह अपने आपको लौकिक कार्यों से प्राय हटा लेता है। उस सन्दर्भ में वह कोई आदेश या परामर्श नही देता। अमुक विषय में वह जानता है अथवा नही जानता—केवल इतना सा उत्तर दे सकता है।

इस प्रतिमा का आराधक उस्तरे से सिर मु डाता है, कोई शिखा भी रखता है।

इसकी आराधना की समयावधि न्यूनतम एक, दो या तीन दिन तथा उत्कृष्ट दस मास है।

११ श्रमणभूत-प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमो का परिपालन करता हुआ साधक इस प्रतिमा में अपने को लगभग श्रमण या साधु जैसा बना लेता है। उसकी सभी क्रियाए एक श्रमण की तरह यतना और जागरूकतापूर्वक होती हैं। वह साधु जैसा वेश धारण करता है, वैसे ही पात्र, उपकरण आदि रखता है। मस्तक के बालो को उस्तरे से मु डवाता है, यदि सहिष्णुता या शक्ति हो तो लु चन भी कर सकता है। साधु की तरह वह भिक्षा-चर्या से जीवन-निर्वाह करता है। इतना अन्तर है—साधु हर किसी के यहाँ भिक्षा हेतु जाता है, यह उपासक अपने सम्बन्धियो के घरों मे ही जाता है, क्योकि तब तक उनके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध पूरी तरह मिट नही पाता।

इसकी आराधना का न्यूनतम काल-परिमाण एक दिन, दो दिन या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट ग्यारह मास है।

इसे श्रमणभूत इसीलिए कहा गया है—यद्यपि वह उपासक श्रमण की भूमिका में तो नही होता, पर प्राय· श्रमण-सदृश होता है।

७२. तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं, विउलेणं पयत्तेणं, पग्गहिएणं तवोकम्मेणं सुक्के जाव (लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठिचम्मावणद्धे, किडिकिडियाभूए, किसे) धमणिसंतए जाए।

इस प्रकार श्रावक-प्रतिमा आदि के रूप मे स्वीकृत उत्कृष्ट, विपुल साधनोचित प्रयत्न तथा तपश्चरण से श्रमणोपासक आनन्द का शरीर सूख गया, [रूक्ष हो गया, उस पर मास नही रहा, हड्डिया और चमड़ी मात्र बची रही, हड्डिया आपस मे भिड-भिड कर आवाज करने लगी,] शरीर में इतनी कृशता या क्षीणता आ गई कि उस पर उभरी हुई नाड़िया दीखने लगी।

७३. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाई पुव्व-रत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए-एवं खलु अहं इमेणं जाव (एयारूवेणं, उरालेणं, विउलेणं, पयत्तेणं, पग्गहिएणं तवोकम्मेणं सुक्के, लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठि-चम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए, किसे,) धमणिसंतए जाए।

तं अत्थि ता मे उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरिए, पुरिसक्कारपरक्कमे, सद्धा, धिई, संवेगे । तं जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिई संवेगे, जाव य मे धम्मायरिए, धम्मोवएसए, समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं जाव[1] जलंते अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स, भत्त-पाण-पडियाइक्खियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए । एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं जाव[2] अपच्छिममारणंतिय जाव (संलेहणा-झूसणा-झूसिए, भत्त-पाण-पडियाइक्खिए,) कालं अणवकंखमाणे विहरइ ।

एक दिन आधी रात के बाद धर्मजागरण करते हुए आनन्द के मन में ऐसा अन्तर्भाव या सकल्प उत्पन्न हुआ—[इस प्रकार श्रावक-प्रतिमा आदि के रूप मे स्वीकृत उत्कृष्ट, विपुल साधनोचित प्रयत्न तथा तपश्चरण से मेरा शरीर सूख गया है, रूक्ष हो गया है, उस पर मांस नही रहा है, हड्डिया और चमड़ी मात्र बची रही है, हड्डिया आपस मे भिड़-भिड़ कर आवाज करने लगी हैं,] शरीर में इतनी कृशता आ गई है कि उस पर उभरी हुई नाडियाँ दीखने लगी हैं ।

मुझ मे उत्थान—धर्मोन्मुख उत्साह, कर्म—तदनुरूप प्रवृत्ति, बल—शारीरिक शक्ति-दृढता, वीर्य—आन्तरिक ओज, पुरुषाकार पराक्रम—पुरुषोचित पराक्रम या अन्त:शक्ति, श्रद्धा—धर्म के प्रति आस्था, धृति—सहिष्णुता, सवेग—मुमुक्षुभाव है । जब तक मुझमें यह सब है तथा जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, जिन—राग-द्वेष-विजेता, सुहस्ती[3] श्रमण भगवान् महावीर विचरण कर रहे हैं, तब तक मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं कल सूर्योदय होने पर अन्तिम मारणान्तिक संलेखना स्वीकार कर लू, खान-पान का प्रत्याख्यान—परित्याग कर दू, मरण की कामना न करता हुआ, आराधनारत हो जाऊ—शान्तिपूर्वक अपना अन्तिम काल व्यतीत करूं ।

आनन्द ने यो चिन्तन किया । चिन्तन कर दूसरे दिन सवेरे अन्तिम मारणान्तिक सलेखना स्वीकार की, खान-पान का परित्याग किया, मृत्यु की कामना न करता हुआ वह आराधना में लीन हो गया ।

७४. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहि-नाणे समुप्पन्ने । पुरत्थिमे णं लवण-समुद्दे पंच-जोयणसयाइं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणे णं पच्चत्थिमे ण य, उत्तरे-णं जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वयं जाणइ, पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय—मन.सकल्प, शुभ परिणाम—अन्त परिणति, विशुद्ध होती हुई लेश्याओ—पुद्गल द्रव्य के ससर्ग से होने वाले आत्म-परिणामो या विचारो के कारण, अवधि-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो गया । फलत वह पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में पाच-सौ, पाच-सौ योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवान् वर्षधर पर्वत तक का क्षेत्र, ऊर्ध्व दिशा में सौधर्म कल्प—प्रथम

---

१ देखें सूत्र सख्या ६६

२ देखें सूत्र सख्या ६६

३. भगवान् महावीर का एक उत्कर्ष-सूचक विशेषण ।

देवलोक तक तथा अधोदिशा में प्रथम नारक-भूमि रत्नप्रभा में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति युक्त, लोलुपाच्युत नामक नरक तक जानने लगा, देखने लगा।

विवेचन

लेश्याएं—प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासक आनन्द को अवधि-ज्ञान उत्पन्न होने के सन्दर्भ में शुभ अध्यवसाय तथा शुभ परिणाम के साथ-साथ विशुद्ध होती हुई लेश्याओं का उल्लेख है। लेश्या जैन दर्शन का एक विशिष्ट तत्त्व है, जिस पर बडा गहन विश्लेषण हुआ है। लेश्या का तात्पर्य पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से होने वाले आत्मा के परिणाम या विचार हैं। प्रश्न हो सकता है, आत्मा चेतन है, पुद्गल जड़ है, फिर जड के ससर्ग से चेतन में परिणाम-विशेष का उद्भव कैसे संभव है? यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि आत्मा जड से सर्वथा भिन्न है, पर ससारावस्था मे उसका जड पुद्गल के साथ गहरा ससर्ग है। अत· पुद्गल-जनित परिणामो का जीव पर प्रभाव पडे बिना नही रहता। जिन पुद्गलो से आत्मा के परिणाम प्रभावित होते हैं, उन पुद्गलो को द्रव्य-लेश्या कहा जाता है। आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन्हे भाव-लेश्या कहा जाता है।

द्रव्य-लेश्या पुद्गलात्मक है, इसलिए उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श स्वीकार किया गया है। द्रव्य-लेश्याओं के जो वर्ण माने गए हैं, लेश्याओ का नामकरण उनके आधार पर हुआ है।

लेश्याए छह हैं . कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या तथा शुक्ल-लेश्या।

कृष्णलेश्या का वर्ण काजल के समान काला, रस नीम से अनन्त गुना कटु, गन्ध मरे हुए साप की गन्ध से अनन्त गुनी अनिष्ट तथा स्पर्श गाय की जिह्वा से अनन्त गुना कर्कश है।

नीललेश्या का वर्ण नीलम के समान नीला, रस सौठ से अनन्त गुना तीक्ष्ण, गन्ध एव स्पर्श कृष्णलेश्या जैसे होते हैं।

कापोतलेश्या का वर्ण कपोत—कबूतर के गले के समान, रस कच्चे आम के रस से अनन्त गुना तिक्त तथा गन्ध व स्पर्श कृष्ण व नील लेश्या जैसे होते हैं।

तेजोलेश्या का वर्ण हिंगुल या सिन्दूर के समान रक्त, रस पके आम के रस से अनन्त गुना मधुर तथा गन्ध सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्त गुनी इष्ट एव स्पर्श मक्खन से अनन्त गुना सुकुमार होता है।

पद्मलेश्या का रग हरिद्रा—हल्दी के समान पीला, रस मधु से अनन्त गुना मिष्ट तथा गन्ध व स्पर्श तेजोलेश्या जैसे होते हैं।

शुक्ललेश्या का वर्ण शख के समान श्वेत, रस सिता—मिश्री से अनन्त गुना मिष्ट तथा गन्ध व स्पर्श तेजोलेश्या व पद्मलेश्या जैसे होते हैं।

लेश्याओ का रग भावों की प्रशस्तता तथा अप्रशस्तता पर आधृत है। कृष्णलेश्या अत्यन्त कलुषित भावों की परिचायक है। भावों का कालुष्य ज्यो ज्यों कम होता है, वर्णों में अन्तर होता जाता है। कृष्णलेश्या से जनित भावों की कलुषितता जब कुछ कम होती है तो नीललेश्या की स्थिति आ जाती है, और कम होती है तब कापोतलेश्या की स्थिति बनती है। कृष्ण, नील और कापोत

ये तीनों वर्ण अप्रशस्त भाव के सूचक हैं। इनसे अगले तीन वर्ण प्रशस्त भाव के सूचक हैं। पहली तीन लेश्याओं को अशुभ तथा अगली तीन को शुभ माना गया है।

जैसे बाह्य वातावरण, स्थान, भोजन, रहन-सहन आदि का हमारे मन पर भिन्न-भिन्न प्रकार का असर पड़ता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गलो का आत्मा पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव होना अस्वाभाविक नही है। प्राकृतिक चिकित्सा-क्षेत्र में भी यह तथ्य सुविदित है। अनेक मनोरोगो की चिकित्सा में विभिन्न रगो की रश्मियो का अथवा विभिन्न रगों की शीशियों के जलों को उपयोग किया जाता है। कई ऐसे विशाल चिकित्सालय भी बने हैं। गुजरात में जामनगर का 'सोलेरियम' एशिया का इस कोटि का सुप्रसिद्ध चिकित्सा-केन्द्र है।

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यान्य भारतीय दर्शनो में भी अन्तर्भावो या आत्म-परिणामों के सन्दर्भ मे अनेक रगो की परिकल्पना है। उदाहरणार्थ, साख्यदर्शन में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण माने गए हैं। तीनो के तीन रगों की भी अनेक साख्य-ग्रन्थों में चर्चा है। ईश्वरकृष्ण-रचित साख्यकारिका की सुप्रसिद्ध टीका साख्य-तत्त्व-कौमुदी के लेखक वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका के प्रारभ में अजा—अन्य से अनुत्पन्न—प्रकृति को अजा—बकरी से उपमित करते हुए उसे लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण बतलाया है।[1] लोहित—लाल, शुक्ल—सफेद और कृष्ण—काला, ये साख्यदर्शन में स्वीकृत रजस्, सत्त्व, तमस्—तीनो गुणो के रग है। रजोगुण मन को राग-रजित या मोह-रजित करता है, इसलिए वह लोहित है, सत्त्वगुण मन को निर्मल या मल रहित बनाता है, इसलिए वह शुक्ल है, तमोगुण अन्धकार-रूप है, ज्ञान पर आवरण डालता है, इसलिए वह कृष्ण है। लेश्याओ से साख्यदर्शन का यह प्रसग तुलनीय है।

पतजलि ने योगसूत्र में कर्मों को शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण (अशुक्लाकृष्ण)—तीन प्रकार का बतलाया है। कर्मों के ये वर्ण, उनकी प्रशस्तता तथा अप्रस्तता के सूचक हैं।[2]

ऊपर पुद्गलात्मक द्रव्य-लेश्या से आत्मा के प्रशस्त-अप्रशस्त परिणाम उत्पन्न होने की जो बात कही गई है, इसे कुछ और गहराई से समझना होगा। द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, अर्थात् भाव-लेश्या निष्पन्न होती है, तात्त्विक दृष्टि से उनके दो कारण है—मोह-कर्म का उदय अथवा उसका उपशम, क्षय या क्षयोपशम। मोह-कर्म के उदय से जो भाव-लेश्याए निष्पन्न होती हैं, वे अशुभ या अप्रशस्त होती हैं तथा मोह-कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जो भाव-लेश्याए होती हैं, वे शुभ या प्रशस्त होती हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोत-लेश्या—ये मोह-कर्म के उदय से होती हैं, इसलिए अप्रशस्त हैं। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या एव शुक्ल-लेश्या—ये उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होती हैं, इसलिए शुभ या प्रशस्त हैं। आत्मा में एक ओर औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव उद्भूत होते हैं, दूसरी ओर वैसे पुद्गल या

---

१ अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा,
बह्वी प्रजा सृजमाना नमाम।
अजा ये ता जुषमाणा भजन्ते,
जहत्येना भुक्तभोगा नुमस्तान्॥

२. कर्माशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
—पातजलयोगसूत्र ४. ७

द्रव्य-लेश्याएं निष्पन्न होती हैं। इसलिए एकान्त रूप से न केवल द्रव्य-लेश्या भाव-लेश्या का कारण है और न केवल भाव-लेश्या द्रव्य-लेश्या का कारण है। ये अन्योन्याश्रित हैं।

ऊपर द्रव्य-लेश्या से भाव-लेश्या या आत्म-परिणाम उद्भूत होने की जो बात कही गई है, वह स्थूल दृष्टि से है।

द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या की अन्योन्याश्रितता को आयुर्वेद के एक उदाहरण से समझा जा सकता है। आयुर्वेद में पित्त, कफ तथा वात—ये तीन दोष माने गए हैं। जब पित्त प्रकुपित्त होता है या पित्त का देह पर विशेष प्रभाव होता है तो व्यक्ति क्रुद्ध होता है, उत्तेजित हो जाता है। क्रोध एव उत्तेजना से फिर पित्त बढता है। कफ जब प्रबल होता है तो शिथिलता, तन्द्रा एव आलस्य पैदा होता है। शिथिलता, तन्द्रा एव आलस्य से पुन कफ बढता है। वात की प्रबलता चाचल्य—अस्थिरता व कम्पन पैदा करती है। चचलता एव अस्थिरता से फिर वात की वृद्धि होती है। यों पित्त आदि दोष तथा इनसे प्रकटित क्रोध आदि भाव अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या का कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध है।

जैन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थो मे लेश्या का यथा-प्रसग विश्लेषण हुआ है। प्रज्ञापनासूत्र के १७ वे पद में तथा उत्तराध्ययनसूत्र के ३४ वे अध्ययन मे लेश्या का विस्तृत विवेचन है, जो पठनीय है। आधुनिक मनोविज्ञान के साथ जैनदर्शन का यह विषय समीक्षात्मक एव तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन करने योग्य है। अस्तु।

प्रस्तुत सूत्र मे आनन्द के उत्तरोत्तर प्रशस्त होते या विकास पाते अन्तर्भावों का जो सकेत है, उससे प्रकट होता है कि आनन्द अन्त परिष्कार या अन्तर्मार्जन की भूमिका मे अत्यधिक जागरूक था। फलत उसकी लेश्याए, आत्म-परिणाम प्रशस्त से प्रशस्ततर होते गए और उसको अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो गया।

आनन्द : अवधि-ज्ञान

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य—शक्ति आत्मा का स्वभाव है। कर्म आवरण है, जैनदर्शन के अनुसार वे पुद्गलात्मक है, मूर्त्त है। आत्म-स्वभाव को वे आवृत करते हैं। आत्मस्वभाव उनसे जितना, जैसा आवृत होता है, उतना अप्रकाशित रहता है। कर्मों के आवरण आत्मा के स्वोन्मुख प्रशस्त अध्यवसाय, उत्तम परिणाम, पवित्र भाव एव तपश्चरण से जैसे-जैसे हटते जाते हैं—मिटते जाते है, वैसे-वैसे आत्मा का स्वभाव उद्भासित या प्रकट होता जाता है।

ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म ज्ञानावरण कहे जाते है। जैनदर्शन में ज्ञान के पाच भेद हैं—मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन -पर्याय-ज्ञान तथा केवल-ज्ञान।

इनका आवरण या आच्छादन करने वाले कर्म-पुद्गल क्रमश मति-ज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मन पर्याय-ज्ञानावरण तथा केवल-ज्ञानावरण कहे जाते है।

इन आवरणो के हटने से ये पाचो ज्ञान प्रकट होते है। परोक्ष और प्रत्यक्ष के रूप मे इनमे दो भेद हैं। प्रत्यक्षज्ञान किसी दूसरे माध्यम के बिना आत्मा द्वारा ही ज्ञेय को सीधा ग्रहण करता है। परोक्षज्ञान की ज्ञेय तक सीधी पहुँच नही होती। मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान परोक्ष हैं, क्यो कि वहाँ

मन और इन्द्रियों का सहयोग अपेक्षित है। वैसे स्थूल रूप मे हम किसी वस्तु को आँखो से देखते हैं, जानते है, उसे प्रत्यक्ष देखना कहा जाता है। पर वह केवल व्यवहार-भाषा है, इसलिए दर्शन में उसकी सज्ञा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। निश्चय-दृष्टि से वह प्रत्यक्ष में नही आता क्योकि ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थ मे आँखो के माध्यम से वहाँ सम्बन्ध है, सीधा नही है।

अवधि-ज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान और केवल-ज्ञान में इन्द्रिय और मन के साहाय्य की आवश्यकता नही होती। वहाँ ज्ञान की ज्ञेय तक सीधी पहुँच होती है। इसलिए ये प्रत्यक्ष-भेद मे आते है। इनमें केवल-ज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है और अवधि व मनःपर्याय को विकल या अपूर्ण पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योकि इनसे ज्ञेय के सम्पूर्ण पर्याय नहा जाने जा सकते।

अवधि-ज्ञान वह अतीन्द्रिय ज्ञान है, जिसके द्वारा व्यक्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की एक मर्यादा या सीमा के साथ मूर्त्त या सरूप पदार्थों को जानता है। अवधि-ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम जैसा मन्द या तीव्र होता है, उसके अनुसार अवधि-ज्ञान की व्यापकता होती है।

अवधि-ज्ञान के सम्बन्ध में एक विशेष बात और है—देव-योनि और नरक-योनि मे वह जन्म-सिद्ध है। उसे भव-प्रत्यय अवधि-ज्ञान कहा जाता है। इन योनियों मे जीवो को जन्म धारण करते ही सहज रूप मे योग्य या उपयुक्त क्षयोपशम द्वारा अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसका आशय यह है कि अवधि-ज्ञानावरण के क्षयोपशम हेतु उन्हे तपोमूलक प्रयत्न नही करना पडता। वैसा वहाँ शक्य भी नही है।

तप, व्रत, प्रत्याख्यान आदि निर्जरामूलक अनुष्ठानो द्वारा अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलो के क्षयोपशम से जो अवधि-ज्ञान प्राप्त होता है, उसे गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान कहा जाता है। वह मनुष्यो और तिर्यञ्चो में होता है। भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान मे एक विशेष अन्तर यह है—भव-प्रत्यय अवधि-ज्ञान देव-योनि और नरक-योनि के प्रत्येक जीव को होता है, गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान प्रत्यय द्वारा भी मनुष्यो और तिर्यञ्चो मे सबको नही होता, किन्ही-किन्ही को होता है, जिन्होने तदनुरूप योग्यता प्राप्त कर ली हो, जिनका अवधि-ज्ञानावरण का क्षयोपशम सधा हो।

आनन्द अपने उत्कृष्ट आत्म-बल के सहारे, पवित्र भाव तथा प्रयत्नपूर्वक वैसी स्थिति अधिगत कर चुका था, उसके अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलो का क्षयोपशम हो गया था, जिसकी फल-निष्पत्ति अवधि-ज्ञान मे प्रस्फुटित हुई।

प्रस्तुत सूत्र मे श्रमणोपासक आनन्द द्वारा प्राप्त अवधि-ज्ञान के विस्तार की चर्चा करते हुए पूर्व, पश्चिम और दक्षिण मे लवणसमुद्र तथा उत्तर मे चुल्लहिमवत वर्षधर का उल्लेख आया है। इनका मध्यलोक से सम्बन्ध है। जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक मे मनुष्य क्षेत्र ढाई द्वीपो तक विस्तृत है। मध्य मे जम्बूद्वीप है, जो वृत्ताकार—गोल है, जिसका विष्कम्भ—व्यास एक लाख योजन है—जो एक लाख योजन लम्बा तथा एक लाख योजन चौडा है। जम्बूद्वीप मे भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष तथा ऐरावत वर्ष—ये सात क्षेत्र है। इन सातो क्षेत्रों को अलग करने वाले पूर्व-पश्चिम लम्बे—हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी तथा शिखरी—ये छह वर्षधर पर्वत हैं। जम्बूद्वीप के चारो ओर लवणसमुद्र है। लवणसमुद्र का व्यास जम्बूद्वीप से दुगुना है। लवणसमुद्र के चारो ओर धातकीखण्ड नामक द्वीप है। उनका व्यास लवणसमुद्र से दुगुना है। धातकीखण्ड के चारो ओर कालोदधि नामक समुद्र है, जिसका विस्तार धातकीखण्ड से दुगुना है। कालोदधिसमुद्र के चारों तरफ पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के बीच मे मानुषोत्तर पर्वत है।

मनुष्यों का आवास वही तक है अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकीखड तथा आधा पुष्करद्वीप—इन ढाई द्वीपो में मनुष्य रहते हैं।

श्रमणोपासक आनन्द को जो अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उससे वह जम्बूद्वीप के चारो ओर फैले लवणसमुद्र में पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण—इन तीन दिशाओ मे पाच सौ योजन की दूरी तक देखने लग गया था। उत्तर में वह हिमवान् वर्षधर पर्वत तक देखने लग गया था।

जम्बूद्वीप में वर्षधर पर्वतो में पहले दो—हिमवान् तथा महाहिमवान् है। प्रस्तुत सूत्र में हिमवान् के लिए चुल्लहिमवत पद का प्रयोग हुआ है। चुल्ल का अर्थ छोटा है। महाहिमवान् की दृष्टि से हिमवान् के साथ यह विशेषण दिया गया है।

ऊर्ध्वलोक मे आनन्द द्वारा सौधर्म-कल्प तक देखे जाने का सकेत है। [ऊर्ध्व लोक में निम्नांकित देवलोक अवस्थित हैं—

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत तथा नौ ग्रैवेयक एव पाच अनुत्तर विमान—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। सौधर्म इन मे प्रथम देवलोक है।

अधोलोक मे निम्नाकित सात नरक भूमिया हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पक-प्रभा, धूमप्रभा, तम -प्रभा एव महातम प्रभा। ये क्रमश एक दूसरे के नीचे अवस्थित हैं। रत्नप्रभा भूमि में लोलुपाच्युत प्रथम नरक का एक ऊपरी विभाग है, जहाँ चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारक रहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय में अधोलोक और मध्यलोक का तथा चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

श्रमणोपासक आनन्द के अवधिज्ञान का विस्तार उसके अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलो के क्षयोपशम के कारण चारो दिशाओ में उपर्युक्त सीमा तक था।

७५. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गया जाव[1] पडिगया।

उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय भगवान् महावीर समवसृत हुए—पधारे। परिषद् जुडी, धर्म सुनकर वापिस लौट गई।

७६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम-गोत्तेणं, सत्तुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलग-निघसपम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे घोरतवे, महातवे, उराले, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवो-कम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, जिनकी देह की ऊचाई सात हाथ थी, जो समचतुरस्र-सस्थान-सस्थित थे—देह के चारो

---

१. देखें सूत्र सख्या ११।

अंशो की सुसगत, अगों के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचनामय शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन—सुदृढ अस्थि-बन्धयुक्त विशिष्ट-देह-रचनायुक्त थे, कसौटी पर खचित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौर वर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मों को भस्मसात् करने में अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्ततपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक व्याप्त थी, जो कठोर एव विपुल तप करने वाले थे, जो उराल—प्रबल—साधना में सशक्त, घोरगुण—परम उत्तम—जिनको धारण करने में अद्भुत शक्ति चाहिए—ऐसे गुणो के धारक, घोर तपस्वी—प्रबल तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्तशरीर—दैहिक सार-संभाल या सजावट से रहित थे, जो विशाल तेजोलेश्या अपने शरीर के भीतर समेटे हुए थे, बेले-बेले निरन्तर तप का अनुष्ठान करते हुए, सयमाराधना तथा तन्मूलक अन्यान्य तपश्चरणों द्वारा अपनी आत्मा को भावित—सस्कारित करते हुए विहार करते थे।

७७. तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमण-पारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बिइयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंते मुहपत्तिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायणवत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियगामे नयरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घर-समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! (मा पडिबंधं करेह।)

बेले के पारणे का दिन था, भगवान् गौतम ने पहले पहर मे स्वाध्याय किया, दूसरे पहर मे ध्यान किया, तीसरे पहर में अत्वरित—जल्दबाजी न करते हुए, अचपल—स्थिरतापूर्वक, असभ्रान्त—अनाकुल भाव से—जागरूकतापूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया, पात्रों और वस्त्रो का प्रतिलेखन एव प्रमार्जन किया। पात्र उठाये, वैसा कर, जहा श्रमण भगवान् महावीर थे, वहा आए। उन्हे वदन, नमस्कार किया। वदन, नमस्कार कर यों बोले—भगवन् ! आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर मैं आज बेले के पारणे के दिन वाणिज्यग्राम नगर मे उच्च (सधन), निम्न (निर्धन), मध्यम—सभी कुलो मे गृह-समुदानी—क्रमागत किसी भी घर को बिना छोडे की जाने वाली भिक्षा-चर्या के लिए जाना चाहता हू।

भगवान् बोले—देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, (बिना प्रतिबन्ध—विलम्ब किए) करो।

७८. तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर-परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ ईरियं सोहेमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घर-समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ।

श्रमण भगवान् महावीर से अभ्यनुज्ञात होकर—उनकी आज्ञा प्राप्त कर भगवान् गौतम ने

दूतीपलाश चैत्य से प्रस्थान किया। प्रस्थान कर, बिना शीघ्रता किए, स्थिरतापूर्वक अनाकुल भाव से युग-परिमाण—साढे तीन हाथ तक मार्ग का परिलोकन करते हुए, ईर्यासमितिपूर्वक—भूमि को भली भाति देखकर चलते हुए, जहा वाणिज्यग्राम नगर था, वहा आए। आकर वहा उच्च, निम्न एव मध्यम कुलों में समुदानी-भिक्षा-हेतु घूमने लगे।

७९. तए णं से भगवं गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव (उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स) भिक्खायरियाए अडमाणे अहा-पज्जत्तं भत्त-पाणं सम्मं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेत्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे, बहुजणसद्दं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिए, भत्तपाणपडियाइक्खिए कालं) अणवकंखमाणे विहरइ।

भगवान् गौतम ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में वर्णित भिक्षाचर्या के विधान के अनुरूप (उच्च, निम्न एव मध्यम कुलो में समुदानी भिक्षा हेतु) घूमते हुए यथापर्याप्त—जितना जैसा अपेक्षित था, उतना आहार-पानी भली-भाति ग्रहण किया। ग्रहण कर वाणिज्यग्राम नगर से चले। चलकर जब कोल्लाक सन्निवेश के न अधिक दूर, न अधिक निकट से निकल रहे थे, तो बहुत से लोगो को बात करते सुना। वे आपस मे यो कह रहे थे—देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी—शिष्य श्रमणोपासक आनन्द पोषधशाला में मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए अन्तिम सलेखना, (खान-पान का परित्याग—आमरण-अनशन) स्वीकार किए आराधना-रत हैं।

८०. तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा, निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव पोसह-साला, जेणेव आणंदे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ।

अनेक लोगों से यह बात सुनकर, गौतम के मन मे ऐसा भाव, चिन्तन, विचार या सकल्प उठा—मैं श्रमणोपासक आनन्द के पास जाऊ और उसे देखू। ऐसा सोचकर वे जहा कोल्लाक सन्निवेश था, पोषध-शाला थी, श्रमणोपासक आनन्द था, वहा गए।

८१. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव[1] हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते! अहं इमेणं उरालेणं जाव[2] धमणि-संतए जाए, नो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे! इच्छाकारेणं अणभिओएणं इओ चेव एह, जा णं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि नमंसामि।

---

१ देखें सूत्र-सख्या १२

२ देखें सूत्र-सख्या ७३

श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा। देखकर वह (यावत्) अत्यन्त प्रसन्न हुआ, भगवान् गौतम को वन्दन-नमस्कार कर बोला—भगवन्! मैं घोर तपश्चर्या से इतना क्षीण हो गया हू कि मेरे शरीर पर उभरी हुई नाडिया दीखने लगी हैं। इसलिए देवानुप्रिय के—आपके पास आने तथा तीन बार मस्तक झुका कर चरणो में वन्दना करने में असमर्थ हू। अत एव प्रभो! आप ही स्वेच्छापूर्वक, अनभियोग से—किसी दबाव के बिना यहा पधारें, जिससे मैं तीन बार मस्तक झुकाकर देवानुप्रिय के—आपके चरणों में वन्दन, नमस्कार कर सकू।

८२. तए णं से भगवं गोयमे, जेणेव आणंदे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ।

तब भगवान् गौतम, जहा आनन्द श्रमणोपासक था, वहां गये।

८३. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—अत्थि णं भंते! गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ?

हंता अत्थि।

जइ णं भंते! गिहिणो जाव (गिहमज्झावसंतस्स ओहि-नाणं) समुप्पज्जइ, एवं खलु भंते! मम वि गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहि-नाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवण-समुद्दे पंच जोयणसयाइं जाव (खेत्तं जाणामि पासामि एवं दक्खिणेण पच्चत्थिमेण य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वयं जाणामि पासामि, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणामि पासामि, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए) लोलुयच्चुय नरय जाणामि पासामि।

श्रमणोपासक आनन्द ने तीन बार मस्तक झुकाकर भगवान् गौतम के चरणो में वन्दन, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार कर वह यो बोला—भगवन्! क्या घर मे रहते हुए एक गृहस्थ को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

गौतम ने कहा—हो सकता है।

आनन्द बोला—भगवन्! एक गृहस्थ की भूमिका मे विद्यमान मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है, जिससे मै पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा मे पाच-सौ, पाच-सौ योजन तक का लवणसमुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा मे चुल्ल हिमवान्—वर्षधर पर्वत तक का क्षेत्र, ऊर्ध्व दिशा मे सौधर्म कल्प तक तथा अधो-दिशा मे प्रथम नारक-भूमि रत्न-प्रभा मे लोलुपाच्युत नामक नरक तक जानता हू, देखता हूं।

८४. तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—अत्थि णं, आणंदा! गिहिणो जाव[1] समुप्पज्जइ। नो चेव णं एमहालए। तं णं तुमं, आणदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव (पडिक्कमाहि, निंदाहि, गरिहाहि, विउट्टाहि, विसोहेहि अकरणयाए, अब्भुट्ठाहि अहारिहं पायच्छित्तं) तवो-कम्मं पडिवज्जाहि।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ८३

तब भगवान् गौतम ने श्रमणोपासक आनन्द से कहा—गृहस्थ को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, पर इतना विशाल नहीं। इसलिए आनन्द ! तुम इस स्थान की—इस मृषावाद रूप स्थिति या प्रवृत्ति की आलोचना करो, (प्रतिक्रमण करो—पुनः शुद्ध अन्तःस्थिति मे लौटो, इस प्रवृत्ति की निन्दा करो, गर्हा करो—आन्तरिक खेद अनुभव करो, इसे वित्रोटित करो—विच्छिन्न करो या मिटाओ, इस अकरणता या अकार्य का विशोधन करो—इससे जनित दोष का परिमार्जन करो, यथोचित्त प्रायश्चित्त के लिए अभ्युत्थित—उद्यत हो जाओ) तदर्थ तप·कर्म स्वीकार करो।

८५. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी—अत्थि णं, भंते ! जिण-वयणे संताणं, तच्चाणं तहियाणं, सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिक्कमिज्जइ, निंदिज्जइ, गरिहिज्जइ, विउट्टिज्जइ, विसोहिज्जइ अकरणयाए, अब्भुट्ठिज्जइ अहारिहं पारच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जिज्जइ ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

जइ णं भंते ! जिण-वयणे संताणं जाव (तच्चाणं, तहियाणं, सब्भूयाणं) भावाणं नो आलोइज्जइ जाव (नो पडिक्कमिज्जइ, नो निंदिज्जइ, नो गरिहिज्जइ, नो विउट्टिज्जइ, नो विसोहिज्जइ अकरणयाए, नो अब्भुट्ठिज्जइ अहारिहं पायच्छित्तं) तवो-कम्मं नो पडिवज्जिज्जइ, तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव (पडिक्कमेह, निंदेह, गरिहेह, विउट्टेह, विसोहेह अकरणयाए, अब्भुट्ठेह अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जह।

श्रमणोपासक आनन्द भगवान् गौतम से बोला—भगवन् ! क्या जिन-शासन में सत्य, तत्त्वपूर्ण, तथ्य—यथार्थ, सद्भूत भावों के लिए भी आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त, तदनुरूप तप·क्रिया) स्वीकार करनी होती है ?

गौतम ने कहा—ऐसा नहीं होता।

आनन्द बोला—भगवन् ! जिन-शासन में सत्य भावों के लिए आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तप.क्रिया) स्वीकार नहीं करनी होती तो भन्ते ! इस स्थान—आचरण के लिए आप ही आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तप.क्रिया) स्वीकार करें।

८६. तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए, कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने, आणंदस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ पडिक्कमित्ता एसणमणेसणं आलोएइ, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसइ, पडिदंसित्ता समणं भगवं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी -एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तए णं अहं संकिए, कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमामि, पडिणिक्खमित्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते ! किं आणंदेणं समणोवासएणं तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं जाव (पडिक्कम्मेयव्वं, निंदेयव्वं,

गरिहेयव्वं, विउट्टेयव्वं विसोहेयव्वं अकरणयाए, अब्भुट्ठेयव्वं अहारिहं पायच्छित्तं तवो-कम्मं) पडिवज्जेयव्वं उदाहु मए ?

गोयमा ! इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—गोयमा ![1] तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि ।

श्रमणोपासक आनन्द के यों कहने पर भगवान् गौतम के मन में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा—संशय उत्पन्न हुआ । वे आनन्द के पास से रवाना हुए । रवाना होकर जहां दूतीपलाश चैत्य था, भगवान् महावीर थे, वहां आए । आकर श्रमण भगवान् महावीर के न अधिक दूर, न अधिक नजदीक गमन-आगमन का प्रतिक्रमण किया, एषणीय-अनेषणीय की आलोचना की । आलोचना कर आहार-पानी भगवान् को दिखलाया । दिखलाकर वन्दन-नमस्कार कर वह सब कहा जो भगवान् से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए जाने के पश्चात् घटित हुआ था । वैसा कर वे बोले—मैं इस घटना के बाद शंका, कांक्षा और संशययुक्त होकर श्रमणोपासक आनन्द के यहां से चलकर आपके पास तुरन्त आया हूँ । भगवन् ! उक्त स्थान—आचरण के लिए क्या श्रमणोपासक आनन्द को आलोचना (प्रतिक्रमण, *निन्दा, गर्हा, निवृत्ति अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तप क्रिया)* स्वीकार करनी चाहिए या मुझे ?

श्रमण भगवान् महावीर बोले—गौतम ! इस स्थान—आचरण के लिए तुम ही आलोचना करो तथा इसके लिए श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा-याचना भी ।

८७. तए णं से भगवं गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव (पडिक्कमइ, निंदइ, गरिहइ, विउट्टइ, विसोहइ, अकरणयाए, अब्भुट्ठेइ अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ ।

भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर का कथन, 'आप ठीक फरमाते हैं', यों कहकर विनयपूर्वक सुना । सुनकर उस स्थान—आचरण के लिए आलोचना, (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तप क्रिया) स्वीकार की एवं श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा-याचना की ।

८८. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जणवय-विहारं विहरइ ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर किसी समय अन्य जनपदों में विहार कर गए ।

८९. तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सील-व्वएहिं जाव (गुण—वेरमण—पच्चक्खाण—पोसहोववासेहिं) अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता, एक्कारस य उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थे-

---

१. देखें सूत्र-संख्या ८४

गइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

यों श्रमणोपासक आनन्द ने अनेकविध शीलव्रत [गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग एवं पोषधोपवास द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन किया। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय—श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओ का भली-भाति अनुसरण किया, एक मास की सलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन संपन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। देह-त्याग कर वह सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान-कोण में स्थित अरुण-विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहा अनेक देवों की आयु-स्थिति चार पल्योपम की होती है। श्रमणोपासक आनन्द की आयु-स्थिति भी चार पल्योपम की बतलाई गई है।

९०. आणंदे णं भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ? कहिं उववज्जिहिइ?

गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते! आनन्द उस देवलोक से आयु, भव एव स्थिति के क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहा जायगा? कहा उत्पन्न होगा?

भगवान् ने कहा—गौतम! आनन्द महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा—सिद्ध-गति या मुक्ति प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप ॥[2]

॥ सातवे अग उपासकदशा का प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

---

१ एव खलु जम्बू! समणेण जाव उवासगदसाण पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति—बेमि।

२ निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हे बतलाया है।

द्वितीय अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रमण भगवान् महावीर के समय की बात है, पूर्व बिहार में चम्पा नामक नगरी थी। वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। सम्भवत: चम्पा नगरी की अवस्थिति, आज जहा भागलपुर है, उसके आस-पास थी। कुछ अवशेष, चिह्न आदि आज भी वहा विद्यमान हैं।

चम्पा अपने युग की एक अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। वहा कामदेव नामक एक गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था, जो सुयोग्य तथा पतिपरायण थी। कामदेव एक बहुत समृद्ध एव सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी सम्पत्ति गाथापति आनन्द से भी बड़ी-चढी थी। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राए स्थायी पू जी के रूप में उसके खजाने में थी, छह करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार-व्यवसाय मे लगी थी तथा छह करोड स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—उपकरण, साज-सामान आदि के उपभोग में आ रही थी। दस-दस हजार गायो के छह गोकुल उसके वहा थे। इतने बड़े वैभवशाली पुरुष के दास-दासियो, कर्मचारियो आदि की सख्या भी बहुत बडी रही होगी। लौकिक भाषा में जिसे सुख, समृद्धि तथा सम्पन्नता कहा जाता है, वह सब कामदेव को प्राप्त था।

कामदेव का पारिवारिक जीवन सुखी था। वह एक सौजन्यशील तथा मिलनसार व्यक्ति था। वह समाज मे अग्रगण्य था। राजकीय क्षेत्र मे उसका भारी सम्मान था। नगर के सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित जन महत्त्वपूर्ण कार्यों मे उसका परामर्श लेते थे, उसकी बात को आदर देते थे। यह सब इसलिए था कि कामदेव विवेकी था।

आनन्द की तरह कामदेव के जीवन मे भी एक नया मोड आया। उसके विवेक को जागृत होने का एक विशेष अवसर प्राप्त हुआ। जन-जन को अहिंसा, समता और सदाचार का संदेश देते हुए श्रमण भगवान् महावीर अपने पाद-बिहार के बीच चम्पा पधारे। पूर्णभद्र नामक चैत्य में रुके। भगवान् का पदार्पण हुआ, जानकर दर्शनार्थियो का ताता बध गया। राजा जितशत्रु भी अपने राजकीय ठाठ-बाट के साथ भगवान् के दर्शन करने गया। अन्यान्य धर्मानुरागी नागरिक-जन भी वहाँ पहुंचे। ज्यों ही कामदेव को यह ज्ञात हुआ, वह धर्म सुनने की उत्कंठा लिए भगवान् की सेवा मे पहुचा। धर्म-देशना श्रवण की। उसका विवेक उद्बुद्ध हुआ। उस परम वैभवशाली गाथापति के मन को भगवान् के उपदेश ने एकाएक झकझोर दिया। आनन्द की तरह उसने भगवान् से गृहि-धर्म स्वीकार किया। गृहस्थ मे रहते हुए भी भोग, वासना, लालसा और कामना की दृष्टि से जितना हो सके बचा जाय, जीवन को संयमित और नियन्त्रित रखा जाय, इस भावना को लिए हुए कामदेव अपने सभी काम करता था। आसक्ति का भाव उसके जीवन मे कम होता जा रहा था।

आनन्द की ही तरह फिर जीवन में दूसरा मोड आया। उसने पारिवारिक तथा लौकिक दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौपे, स्वय अपने आपको अधिकाधिक साधना मे लगा यिया। शील, व्रत, त्याग-प्रत्याख्यान आदि की आराधना में उसने तन्मय भाव से अपने को रमा दिया। ऐसा करते हुए उसके जीवन में एक परीक्षा की घड़ी आई। वह पोषधशाला मे पोषध लिए बैठा था। उसकी

साधना में विघ्न करने के लिए एक मिथ्यात्वी देव आया। उसने कामदेव को भयभीत और संत्रस्त करने हेतु एक अत्यन्त भीषण, विकराल, भयावह पिशाच का रूप धारण किया, जिसे देखते ही मन थर्रा उठे।

पिशाच ने तीक्ष्ण खड्ग हाथ में लिए हुए कामदेव को डराया-धमकाया और कहा कि तुम अपनी उपासना छोड़ दो, नही तो अभी इस तलवार से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दू गा। कामदेव विवेकी और साहसी पुरुष था, दृढनिष्ठ था। परीक्षा की घड़ी ही तो वह कसौटी है, जब व्यक्ति खरा या खोटा सिद्ध होता है। कामदेव की परीक्षा थी। जब कामदेव अविचल रहा तो पिशाच और अधिक क्रुद्ध हो गया। उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसे ही कहा। पर, कामदेव पूर्ववत् दृढ एवं सुस्थिर बना रहा। तब पिशाच ने जैसा कहा था, कामदेव की देह के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। कामदेव आत्म-दृढ़ता और धैर्य के साथ इस घोर वेदना को सह गया, चूं तक नहीं किया। यह देव-मायाजन्य था, इतनी त्वरा से हुआ कि तत्काल कामदेव दैहिक दृष्टि से यथावत् हो गया।

उस देव ने कामदेव को साधना से विचलित करने के लिए और अधिक कष्ट देने का सोचा। एक उन्मत्त, दुर्दान्त हाथी का रूप बनाया। कामदेव को आकाश मे उछाल देने, दातो से बींध देने और पैरों से रौंद देने की धमकी दी। एक बार, दो बार, तीन बार यह किया। कामदेव स्थिर और दृढ रहा। तब हाथी-रूपधारी देव ने कामदेव को जैसा उसने कहा था, घोर कष्ट दिया। पर, कामदेव की दृढता अविचल रही।

देव ने एक बार फिर प्रयत्न किया। वह उग्र विषधर सर्प बन गया। सर्प के रूप में उसने कामदेव को क्रूरता से उत्पीडित किया, उसकी गर्दन में तीन लपेट लगा कर छाती पर डक मारा। पर, उसका यह प्रयत्न भी निष्फल गया। कामदेव जरा भी नही डिगा। परीक्षा की कसौटी पर वह खरा उतरा। विकार-हेतुओ के विद्यमान रहते हुए भी जो चलित नही होता, वास्तव में वही धीर है। अहिंसा हिंसा पर विजयिनी हुई। अहिंसक कामदेव से हिंसक देव ने हार मान ली। देव के मुँह से निकल पड़ा—'कामदेव'! निश्चय ही तुम धन्य हो।' वह देव कामदेव के चरणों में गिर पड़ा, क्षमा मागने लगा। उसने वह सब बताया कि सौधर्म देवलोक में उसने इन्द्र के मुँह से कामदेव की धार्मिक दृढता की प्रशसा सुनी थी, जिसे वह सह नही सका। इसीलिए वह यों उपसर्ग करने आया।

उपासक कामदेव का मन उपासना में रमा था। जब उसने उपसर्ग को समाप्त हुआ जाना, तो स्वीकृत प्रतिमा का पारण—समापन किया।

शुभ सयोग ऐसा बना, भगवान् महावीर अपने जनपद-विहार के बीच चम्पा नगरी में पधार गए। कामदेव ने यह सुना तो सोचा, कितना अच्छा हो, मैं भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर, पोषध का समापन करूं। तदनुसार वह पूर्णभद्र चैत्य, जहाँ भगवान् विराजित थे, पहुँचा। भगवान् के दर्शन किए, अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भगवान् तो सर्वज्ञ थे। जो कुछ घटित हुआ, जानते ही थे। उन्होंने कामदेव को सम्बोधित कर उन तीनों उपसर्गों का जिक्र किया, जिन्हे कामदेव निर्भय भाव से झेल चुका था। भगवान् ने कामदेव को सम्बोधित कर कहा—कामदेव! क्या यह सब घटित हुआ? कामदेव ने विनीत भाव से उत्तर दिया—भन्ते! ऐसा ही हुआ।

भगवान् महावीर ने कामदेव के साथ हुई इस घटना को दृष्टि में रखते हुए उपस्थित साधु-साध्वियो को सम्बोधित करते हुए कहा—एक श्रमणोपासक गृहस्थी में रहते हुए भी जब धर्माराधना

में इतनी दृढता बनाए रख सकता है तो आप सबका तो ऐसा करना कर्त्तव्य है ही। साधक को कभी कष्टों से घबराना नहीं चाहिए, उनको दृढता से झेलते रहना चाहिए। इससे साधना निर्मल और उज्ज्वल बनती है।

भगवान् की दृष्टि में कामदेव का आचरण धार्मिक दृढता के सन्दर्भ में एक प्रेरक उदाहरण था, इसलिए उन्होंने सार्वजनिक रूप में उसकी चर्चा करना उपयोगी समझा।

कामदेव ने जिज्ञासा से भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे, समाधान प्राप्त किया, वन्दन-नमस्कार कर वापस लौट आया। पोषध का समापन किया।

कामदेव अपने को उत्तरोत्तर, अधिकाधिक साधना में जोड़ता गया। उसके परिणाम उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होते गए, भावना अध्यात्म में रमती गई। उसके उपासनामय जीवन का संक्षिप्त विवरण यों है—

कामदेव ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक-धर्म का सम्यक् परिपालन किया, ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की, एक मास की अन्तिम संलेखना तथा अनशन द्वारा समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह सौधर्म कल्प के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम आयुस्थितिक देव हुआ।

द्वितीय अध्ययन : कामदेव

९१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[1] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासग-दसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दोच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा--यावत् सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने सातवे अग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यदि यह अर्थ—आशय प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया है ?

श्रमणोपासक कामदेव

९२. एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। जियसत्तू राया। कामदेवे गाहावई। भद्दा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। समोसरणं। जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ।

सा चेव वत्तव्वया जाव[2] जेट्ठ-पुत्तं, मित्त-नाइं आपुच्छित्ता, जेणेव पोसह-साला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जहा आणंदो जाव (पोसह-सालं पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भ-संथारयं संथरइ, संथरेत्ता दब्भ-संथारयं दुरुहइ, दुरुहित्ता-पोसह-सालाए पोसहिए दब्भ-संथारोवगए) समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त मे, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी। पूर्णभद्र नामक चैत्य था। वहा के राजा का नाम जितशत्रु था। वहा कामदेव नामक गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। गाथापति कामदेव का छ करोड स्वर्ण- -स्वर्ण-मुद्राए खजाने मे रखी थी, छह करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार में लगी थी तथा छह करोड स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थी। उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल मे दस हजार गाये थी।

भगवान् महावीर पधारे। समवसरण हुआ। गाथापति आनन्द की तरह गाथापति कामदेव भी अपने घर से चला--भगवान् के पास पहुंचा, श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

आगे की घटना भी वैसी ही है, जैसी आनन्द की। अपने बडे पुत्र, मित्रों तथा जातीय जनो की अनुमति लेकर कामदेव जहा पोषध-शाला थी, वहा आया, (आकर आनन्द की तरह पोषध-शाला का प्रमार्जन किया—सफाई की, शौच एव लघुशका के स्थान का प्रतिलेखन किया, प्रतिलेखन कर कुश का बिछौना लगाया, उस पर स्थित हुआ। वैसा कर पोषध-शाला में पोषध

---

१. देखें सूत्र सख्या २

२ देखें सूत्र सख्या ६६

स्वीकार किया,) श्रमण भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हो गया ।

देव द्वारा पिशाच के रूप में उपसर्ग

९३. तए णं तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयंसि एगे देवे मायी-मिच्छद्दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए ।

(तत्पश्चात् किसी समय) आधी रात के समय श्रमणोपासक कामदेव के समक्ष एक मिथ्यादृष्टि, मायावी देव प्रकट हुआ ।

विवेचन

उत्कृष्ट तपश्चरण, साधना एव धर्मानुष्ठान के सन्दर्भ मे भयोत्पादक तथा मोहोत्पादक—दोनों प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहने का वर्णन भारतीय वाङ्मय में बहुलता से प्राप्त होता है । साधक के मन में भय उत्पन्न करने के लिए जहा राक्षसो तथा पिशाचो के क्रूर एव नृशस कर्मों का उल्लेख है, वहा काम व भोग की ओर आकृष्ट करने के लिए, मोहित करने के लिए वैसे वासना-प्रधान पात्र भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं ।

वैदिक वाङ्मय में ऋषियो के तप एव यज्ञानुष्ठान मे विघ्न डालने, उन्हे दूषित करने हेतु राक्षसो द्वारा उपद्रव किये जाने के वर्णन अनेक पुराण-ग्रन्थो तथा दूसरे साहित्य मे प्राप्त होते हैं । दूसरी ओर सुन्दर देवागनाओ द्वारा उन्हे मोहित कर धर्मानुष्ठान से विचलित करने के उपक्रम भी मिलते है ।

बौद्ध वाङ्मय में भी भगवान् बुद्ध के 'मार-विजय' प्रभृति अनेक प्रसगो मे इस कोटि के वर्णन उपलब्ध है ।

जैन साहित्य में भी ऐसे वर्णन-क्रम की अपनी परम्परा है । उत्तम, प्रशस्त धर्मोपासना को खण्डित एव भग्न करने के लिए देव, पिशाच आदि द्वारा किये गये उपसर्गों—उपद्रवो का बडा सजीव एव रोमाचक वर्णन अनेक आगम-ग्रन्थो तथा इतर साहित्य में प्राप्त होता है, जहा रौद्र, भयानक एव वीभत्स—तीनो रस मूर्तिमान् प्रतीत होते है ।

प्रस्तुत वर्णन इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

९४. तए णं से देवे एगं महं पिसाय-रूवं विउव्वइ । तस्स णं देवस्स पिसाय-रूवस्स इमे एयारूवे वण्णा-वासे पण्णत्ते—सीसं से गो-किलिंज-संठाण-संठियं सालिभसेल्ल-सरिसा से केसा कविल-तेएणं दिप्पमाणा, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं, मुगुंस-पुच्छं व तस्स भुमगाओ फुग्ग-फुग्गाओ विगय-बीभच्छ-दंसणाओ, सीस-घडि-विणिग्गयाइं अच्छीणि विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, कण्णा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, उरब्भ-पुड-संनिभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली-संठाण-संठिया दो वि तस्स नासा-पुडया, घोडय-पुच्छंव तस्स मंसूइं कविल-कविलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, उट्ठा उट्टस्स चेव लंबा, फाल-सरिसा से दंता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, हल-कुद्दाल-संठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्लं व तस्स खड्डं फुट्टं कविलं फरुसं

महल्लं, मुइंगाकारोवमे से खंधे, पुरवरकवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स बाहा, निसापाहाण-संठाण-संठिया दो वि तस्स अग्गहत्था, निसालोढ-संठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पि-पुडगसंठिया से नक्खा, ण्हाविय-पसेवओ व्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया, पोट्टं अयकोट्ठओ व्व वट्टं, पाणकलंदसरिसा से नाही, सिक्कगसंठाणसंठिए से नेत्ते, किण्णपुड-संठाण-संठिया दो वि तस्स वसणा, जमल-कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स ऊरू, अज्जुणगुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरीसंठाण-संठिया दो वि तस्स पाया, अहरीलोढसंठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से नक्खा।

उस देव ने एक विशालकाय पिशाच का रूप धारण किया। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

उस पिशाच का सिर गाय को चारा देने की (औंधी की हुई) बास की टोकरी जैसा था। बाल धान—चावल की मजरी के तन्तुओं के समान रूखे और मोटे थे, भूरे रग के थे, चमकीले थे। ललाट बड़े मटके के खप्पर या ठीकरे जैसा बडा और उभरा हुआ था। भौंहे गिलहरी की पूछ की तरह बिखरी हुई थी, देखने में बडी विकृत—भद्दी और बीभत्स—घृणोत्पादक थी। "मटकी" जैसी आँखें, सिर से बाहर निकली थी, देखने में विकृत और बीभत्स थी। कान टूटे हुए सूप—छाजले के समान बड़े भद्दे और खराब दिखाई देते थे। नाक मेंढे की नाक की तरह थी—चपटी थी। गड्ढो जैसे दोनो नथुने ऐसे थे, मानों जुड़े हुए दो चूल्हे हो। घोड़े की पूछ जैसी उसकी मूछे भूरी थी, विकृत और बीभत्स लगती थीं। उसके होठ ऊट के होठो की तरह लम्बे थे। दात हल के लोहे की कुश जैसे थे। जीभ सूप के टुकड़े जैसी थी, देखने में विकृत तथा बीभत्स थी। ठुड्डी हल की नोक की तरह आगे निकली थी। कढाही की ज्यों भीतर धसे उसके गाल खड्डो जैसे लगते थे, फटे हुए, भूरे रग के, कठोर तथा विकराल थे। उसके कन्धे मृदंग जैसे थे। वक्षस्थल—छाती नगर के फाटक के समान चौडी थी। दोनो भुजाएं कोष्ठिका—लोहा आदि धातु गलाने मे काम आने वाली मिट्टी की कोठी के समान थी। उसकी दोनो हथेलिया मूंग आदि दलने की चक्की के पाट जैसी थी। हाथो की अगुलिया लोढी के समान थी। उसके नाखून सीपियो जैसे थे—तीखे और मोटे थे। दोनो स्तन नाई की उस्तरा आदि राछ डालने की चमड़े की थैली—रछानी की तरह छाती पर लटक रहे थे। पेट लोहे के कोष्ठक—कोठे के समान गोलाकार था। नाभि कपडों में पॉलिश देने हेतु जुलाहो द्वारा प्रयोग मे लिये जाने वाले माड के बर्तन के समान गहरी थी। उसका नेत्र—लिंग छीके की तरह था—लटक-रहा था। दोनों अण्डकोष फैले हुए दो थैलों या बोरियो जैसे थे। उसकी दोनो जघाए एक जैसी दो कोठियो के समान थी। उसके घुटने अर्जुन—तृण-विशेष या वृक्ष-विशेष के गुट्ठे—स्तम्ब—गुल्म या गाठ जैसे, टेढे, देखने में विकृत व बीभत्स थे। पिंडलिया कठोर थी, बालों से भरी थी। उसके दोनो पैर दाल आदि पीसने की शिला के समान थे। पैर की अगुलिया लोढी जैसी थी। अगुलियों के नाखून सीपियों के सदृश थे।

९५. लडहमडहजाणुए, विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए, अवदालिय-वयणविवर-निल्लालियग्ग-जीहे, सरडकयमालियाए, उंदुरमाला-परिणद्धसुकय-चिंधे, नउलकयकण्णपूरे, सप्पकयवेगच्छे, अप्फोडंते, अभिगज्जंते, भीममुक्कट्टहासे, नाणाविहपंचवण्णेहिं लोमेहिं उवचिए एगं महं नीलुप्पल-

गवल-गुलिय-अयसिकुसुमप्पगासं असिं खुर-धारं गहाय, जेणेव पोसहसाला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आसु-रत्ते, रुट्ठे, कुविए, चंडिक्किए, मिसिमिसियमाणे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो कामदेवा ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! दुरंतपंत-लक्खणा ! हीण-पुण्ण-चाउद्दसिया ! हिरि-सिरि-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया ! धम्म-कामया ! पुण्ण-कामया ! सग्गकामया ! मोक्खकामया ! धम्मकंखिया ! पुण्णकंखिया ! सग्ग-कंखिया ! मोक्खकंखिया ! धम्मपिवासिया ! पुण्णपिवासिया ! सग्गपिवासिया ! मोक्खपिवासिया ! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया ! जं सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं चालित्तए वा खोभित्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा । तं जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, जाव (वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं) पोसहोववसाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो तं अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल-जाव (गवल-गुलिय-अयसि-कुसुमप्पगासेण, खुरधारेण) असिणा खंडाखंडि करेमि, जहा णं तुमं देवाणुप्पिया ! अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ।

उस पिशाच के घुटने मोटे एव ओछे थे, गाडी के पीछे ढीले बधे काठ की तरह लड़खडा रहे थे । उसकी भौहे विकृत—बेडौल, भग्न—खण्डित, भुग्न—कुटिल या टेढी थी । उसने अपना दरार जैसा मु ह फाड रखा था, जीभ बाहर निकाल रक्खी थी । वह गिरगिटो की माला पहने था । चूहो की माला भी उसने धारण कर रक्खी थी, जो उसकी पहचान थी । उसके कानों में कुण्डलों के स्थान पर नेवले लटक रहे थे । उसने अपनी देह पर सापो को दुपट्टे की तरह लपेट रक्खा था । वह भुजाओ पर अपने हाथ ठोक रहा था, गरज रहा था, भयकर अट्टहास कर रहा था । उसका शरीर पाचों रगो के बहुविध केशों से व्याप्त था ।

वह पिशाच नीले कमल, भैसे के सीग तथा अलसी के फूल जैसी गहरी नीली, तेज धार वाली तलवार लिये, जहाँ पोषधशाला थी, श्रमणोपासक कामदेव था, वहाँ आया । आकर अत्यन्त क्रुद्ध, रुष्ट, कुपित तथा विकराल होता हुआ, मिसमिसाहट करता हुआ—तेज सास छोड़ता हुआ श्रमणो-पासक कामदेव से बोला—अप्रार्थित—जिसे कोई नही चाहता, उस मृत्यु को चाहने वाले ! दु:खद अन्त तथा अशुभ लक्षणवाले, पुण्यचतुर्दशी जिस दिन हीन—असम्पूर्ण थी—घटिकाओं में अमावस्या आ गई थी, उस अशुभ दिन मे जन्मे हुए अभागे ! लज्जा, शोभा, धृति तथा कीर्ति से परिवर्जित ! धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष की कामना, इच्छा एव पिपासा—उत्कण्ठा रखने वाले ! देवानुप्रिय ! शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास से विचलित होना, विक्षुभित होना, उन्हे खण्डित करना, भग्न करना, उज्झित करना—उनका त्याग करना, परित्याग करना तुम्हे नही कल्पता है—इनका पालन करने मे तुम कृतप्रतिज्ञ हो । पर, यदि तुम आज शील, (व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान) एव पोषधोपवास का त्याग नही करोगे, उन्हे नही तोड़ोगे तो मै (नीले कमल, भैसे के सीग तथा अलसी के फूल के समान गहरी नीली, तेज धारवाली) इस तलवार से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दू गा, जिससे हे देवानुप्रिय ! तुम आर्तध्यान एव विकट दु:ख से पीडित होकर असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—प्राणों से हाथ धो बैठोगे ।

९६. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं पिसाय-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए, अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ।

उस पिशाच द्वारा यो कहे जाने पर भी श्रमणोपासक कामदेव भीत, त्रस्त, उद्विग्न, क्षुभित एव विचलित नही हुआ, घबराया नही। वह चुपचाप—शान्त भाव से धर्म-ध्यान मे स्थित रहा।

९७. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं, जाव (अतत्थं, अणुव्विग्गं, अखुभियं, अचलियं, असंभंतं, तुसिणीयं), धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुमं अज्ज जाव (सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासेण खुरधारेण असिणा खंडाखंडिं करेमि जहा णं तुमं देवाणुप्पिया ! अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

पिशाच का रूप धारण किये हुए देव ने श्रमणोपासक कामदेव को यो निर्भय (त्रास, उद्वेग तथा क्षोभ रहित, अविचल, अनाकुल एव शान्त) भाव से धर्म-ध्यान मे निरत देखा। तब उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर कहा—मौत को चाहने वाले श्रमणोपासक कामदेव ! आज (यदि तुम शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास को नही छोडोगे, नही तोडोगे तो नीले कमल, भैसे के सीग तथा अलसी के फूल के समान गहरी नीली तेज धार वाली इस तलवार से तुम्हारे टुकडे-टुकडे कर दूगा, जिससे हे देवानुप्रिय ! तुम आर्तध्यान एव विकट दुख से पीडित होकर असमय मे ही) प्राणो से हाथ धो बैठोगे।

९८. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव (अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए) धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ।

श्रमणोपासक कामदेव उस देव द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर भी अभीत (अत्रस्त, अनुद्विग्न, अक्षुभित, अविचलित, अनाकुल एव शान्त) रहा, अपने धर्मध्यान मे उपगत—सलग्न रहा।

९९. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ (रुट्ठे कुविए चंडिक्किए) ति-वलियं भिउडिं निडाले साहट्टु, कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल जाव[2] असिणा खंडाखंडिं करेइ।

जब पिशाच रूप धारी उस देव ने श्रमणोपासक कामदेव को निर्भय भाव से उपासना-रत देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, उसके ललाट मे त्रिबलिक—तीन बल चढी भृकुटि तन गई। उसने तलवार से कामदेव पर वार किया और उसके टुकड़े-टुकडे कर डाले।

१००. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं, जाव (विउलं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं) दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ, जाव (खमइ, तितिक्खइ,) अहियासेइ।

---

१. देखे सूत्र-सख्या ९७

२. देखें सूत्र-सख्या ९५

श्रमणोपासक कामदेव ने उस तीव्र (विपुल—अत्यधिक, कर्कश—कठोर, प्रगाढ, रौद्र, कष्टप्रद) तथा दु.सह वेदना को सहनशीलता (क्षमा और तितिक्षा) पूर्वक झेला।

हाथी के रूप में उपसर्ग

१०१. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] विहरमाणं पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा, खोभित्तए वा, विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं पिसाय-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं हत्थि-रूवं विउव्वइ, सत्तंग-पइट्ठियं, सम्मं संठियं, सुजायं, पुरओ उदग्गं, पिट्ठओ वराहं, अया-कुच्छिं, अलंब-कुच्छिं, पलंब-लंबोदराधर- करं, अब्भुग्गय-मउल-मल्लिया-विमल-धवल-दंतं, कंचणकोसी-पविट्ठ-दंतं, आणामिय-चाव-ललिय-संवल्लियग्ग-सोण्डं, कुम्म-पडिपुण्ण-चलणं, वीसइ-नक्खं अल्लीण-पमाण-जुत्तपुच्छं, मत्तं मेहमिव गुलगुलेन्तं मण-पवण-जइणवेगं दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ।

जब पिशाच रूप धारी देव ने देखा, श्रमणोपासक कामदेव निर्भीक भाव से उपासना में रत है, वह श्रमणोपासक कामदेव को निर्ग्रन्थ प्रवचन—जिन-धर्म से विचलित, क्षुभित, विपरिणामित—विपरीत परिणाम युक्त नहा कर सका है, उसके मनोभावो को नही बदल सका है, तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर धीरे-धीरे पीछे हटा। पीछे हटकर पोषधशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर देवमायाजन्य (विक्रिया-विनिर्मित) पिशाच-रूप का त्याग किया। वैसा कर एक विशालकाय, देवमाया-प्रसूत हाथी का रूप धारण किया। वह हाथी सुपुष्ट सात अगो (चार पैर, सू ड, जननेन्द्रिय और पू छ) से युक्त था। उसकी देह-रचना सुन्दर और सुगठित थी। वह आगे से उदग्र—ऊचा या उभरा हुआ था, पीछे से सूअर के समान झुका हुआ था। उसकी कुक्षि—जठर बकरी की कुक्षि की तरह सटी हुई थी। उसका नीचे का होठ और सू ड लम्बे थे। मु ह से बाहर निकले हुए दात बेले की अधखिली कली के सदृश उजले और सफेद थे। वे सोने की म्यान में प्रविष्ट थे अर्थात् उन पर सोने की खोल चढी थी। उसकी सू ड का अगला भाग कुछ खीचे हुए धनुष की तरह सुन्दर रूप मे मुडा हुआ था। उसके पैर कछुए के समान प्रतिपूर्ण—परिपुष्ट और चपटे थे। उसके बीस नाखून थे। उसकी पू छ देह से सटी हुई—सुन्दर तथा प्रमाणोपेत—समुचित लम्बाई आदि आकार लिए हुए थी। वह हाथी मद से उन्मत्त था। बादल की तरह गरज रहा था। उसका वेग मन और पवन के वेग को जीतने वाला था।

१०२. विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव (जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, वयाइं वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं न छड्डेसि,) न भंजेसि, तो ते अज्ज अहं सोंडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसह-सालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहित्ता, तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

---

१ देखें सूत्र सख्या ९७

ऐसे हाथी के रूप की विक्रिया करके पूर्वोक्त देव जहां पोषधशाला थी, जहा श्रमणोपासक कामदेव था, वहां आया। आकर श्रमणोपासक कामदेव से पूर्ववर्णित पिशाच की तरह बोला—यदि तुम अपने व्रतों का (शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास का त्याग नही करते हो,) भग नही करते हो तो मैं तुमको अपनी सूंड से पकड लूंगा। पकड कर पोषधशाला से बाहर ले जाऊंगा। बाहर ले जा कर ऊपर आकाश में उछालूंगा। उछाल कर अपने तीखे और मूसल जैसे दातों से झेलूंगा। झेल कर नीचे पृथ्वी पर तीन बार पैरों से रौदूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान और विकट दुःख से पीड़ित होते हुए असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—मर जाओगे।

१०३. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव[1] विहरइ।

हाथी का रूप धारण किए हुए देव द्वारा यो कहे जाने पर भी श्रमणोपासक कामदेव निर्भय भाव से उपासना-रत रहा।

१०४. तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[2] विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा! तहेव जाव[3] सो वि विहरइ।

हस्तीरूपधारी देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भीकता से अपनी उपासना मे निरत देखा, तो उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर श्रमणोपासक कामदेव को वैसा ही कहा, जैसा पहले कहा था। पर, श्रमणोपासक कामदेव पूर्ववत् निर्भीकता से अपनी उपासना मे निरत रहा।

१०५. तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[4] विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, गेण्हेत्ता उड्ढं वेहासं उव्विहइ, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छइ, पडिच्छेत्ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ।

हस्तीरूपधारी उस देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भीकता से उपासना मे लीन देखा तो अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी सूंड से उसको पकडा। पकड़कर आकाश मे ऊंचा उछाला। उछालकर फिर नीचे गिरते हुए को अपने तीखे और मूसल जैसे दातों से झेला और झेल कर नीचे जमीन पर तीन वार पैरों से रौंदा।

१०६. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव (विउयं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं, दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ, खमइ, तितिक्खइ,) अहियासेइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने (सहनशीलता, क्षमा एव तितिक्षापूर्वक तीव्र, विपुल, कठोर, प्रगाढ, रौद्र तथा कष्टप्रद) वेदना झेली।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९८
२. देखें सूत्र-सख्या ९७
३ देखें सूत्र-सख्या ९८
४ देखें सूत्र-सख्या ९७

सर्प के रूप में उपसर्ग

१०७. तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ जाव (निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा, खोभित्तए वा, विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते) सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं हत्थि-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं सप्प-रूवं विउव्वइ, उग्ग-विसं, चंड-विसं, घोर-विसं, महाकायं, मसी-मूसा-कालगं, नयण-विस-रोस-पुण्णं, अंजण-पुंज-निगरप्पगासं, रत्तच्छं लोहिय-लोयणं, जमल-जुयल-चंचल-जीहं, धरणीयल-वेणीभूयं, उक्कड-फुड-कुडिल-जडिल-कक्कस-वियड-फुडाडोव-करण-दच्छं, लोहागर-धम्ममाण-धमधमेंतघोसं, अणागलिय-तिव्व-चंड-रोसं सप्प-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! जाव (सीलाइं वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि,) न भंजेसि, तो ते अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं, वेढेमि, वेढित्ता तिक्खाहिं विस-परिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ।

जब हस्तीरूपधारी देव श्रमणोपासक कामदेव को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित नही कर सका, तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर धीरे-धीरे पीछे हटा । पीछे हट कर पोषधशाला से बाहर निकला । बाहर निकल कर विक्रियाजन्य हस्ति-रूप का त्याग किया । वैसा कर दिव्य, विकराल सर्प का रूप धारण किया ।

वह सर्प उग्रविष, प्रचण्डविष, घोरविष और विशालकाय था । वह स्याही और मूस-धातु गलाने के पात्र जैसा काला था । उसके नेत्रो में विष और क्रोध भरा था । वह काजल के ढेर जैसा लगता था । उसकी आखे लाल-लाल थी । उसकी दुहरी जीभ चचल थी—बाहर लपलपा रही थी । कालेपन के कारण वह पृथ्वी (पृथ्वी रूपी नारी) की वेणी—चोटी—जैसा लगता था । वह अपना उत्कट—उग्र, स्फुट—देदीप्यमान, कुटिल—टेढा, जटिल—मोटा, कर्कश—कठोर, विकट—भयकर फन फैलाए हुए था । लुहार की धौकनी की तरह वह फुकार कर रहा था । उसका प्रचण्ड क्रोध रोके नही रुकता था ।

वह सर्परूपधारी देव जहां पोषधशाला थी, जहा श्रमणोपासक कामदेव था, वहा आया । आकर श्रमणोपासक कामदेव से बोला—अरे—कामदेव ! यदि तुम शील, व्रत (विरमण, प्रत्याख्यान, पोषधोपवास का त्याग नही करते हो,) भग नही करते हो, तो मैं अभी सर्राट करता हुआ तुम्हारे शरीर पर चढूंगा । चढ कर पिछले भाग से—पूछ की ओर से तुम्हारे गले में तीन लपेट लगाऊगा । लपेट लगाकर अपने तीखे, जहरीले दांतो से तुम्हारी छाती पर डक मारूंगा, जिससे तुम आर्त ध्यान और विकट दुःख से पीडित होते हुए असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—मर जाओगे ।

१०८. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं सप्प-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरइ । सो वि दोच्चंपि तच्चंपि भणइ । कामदेवो वि जाव[2] विहरइ ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९८

२. देखें सूत्र-सख्या ९८

सर्परूपधारी उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी कामदेव निर्भीकता से उपासनारत रहा। देव ने दूसरी बार फिर तीसरी बार भी वैसा ही कहा, पर कामदेव पूर्ववत् उपासना में लगा रहा।

१०९. तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ कामदेवस्स सरसरस्स कायं दुरुहइ, दुरुहित्ता पच्छिम-भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेइ।

सर्परूपधारी देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भय देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सर्राटे के साथ उसके शरीर पर चढ गया। चढ कर पिछले भाग से उसके गले मे तीन लपेट लगा दिए। लपेट लगाकर अपने तीखे, जहरीले दातो से उसकी छाती पर डक मारा।

११०. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव[2] अहियासेइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने उस तीव्र वेदना को सहनशीलता के साथ झेला।

देव का पराभव : हिंसा पर अहिंसा की विजय

१११. तए णं से देवे सप्प-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[3] पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते[3] सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं सप्प-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं देव-रूवं विउव्वइ।

हार-विराइय-वच्छं जाव (कडग-तुडिय-थंभिय-भुयं, अंगय-कुंडल-मट्ठ-गंडकण्णपीढ-धारि, विचित्तहत्थाभरणं, विचित्तमाला-मउलि-मउडं, कल्लाणग-पवरवत्थ-परिहियं, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणं, भासुर-बोंदि, पलंब-वणमालधरं, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गन्धेणं, दिव्वेणं रूवेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघाएणं, दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए) दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं, पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसह-सालं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं पंच-वण्णाइं वत्थाइं पवर-परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा समणोवासया! धन्नेसि णं तुमं, देवाणुप्पिया! संपुण्णे, कयत्थे, कयलक्खणे, सुलद्धे णं तव देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ती लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया।

एवं खलु देवाणुप्पिया! सक्के, देविंदे, देव-राया जाव (वज्जपाणी, पुरंदरे, सयक्कऊ, सुहस्सक्खे, मघवं, पागसासणे, दाहिणड्ढलोगाहिवई, बत्तीस विमाण-सय-सहस्साहिवई, एरावणवाहणे, सुरिंदे, अरयंबर-वत्थधरे, आलइय-मालमउडे, नव-हेम-चारु-चित्त-चंचल-कुंडल-विलिहिज्जमाणगंडे, भासुरबोंदी, पलंब-वणमाले, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए) सक्कंसि

---

१ देखें सूत्र-सख्या ९७

२ देखें सूत्र-सख्या १०६

३ देखे सूत्र—सख्या ९७

सीहासणंसि चउरासीईए सामाणिय-साहस्सीणं जाव (तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं, अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउरासीणं आयरक्ख-देवसाहस्सीणं) अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवा! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसह-सालाए पोसहिए बंभयारी जाव (उम्मुक्क-मणि-सुवण्णे, ववगय-माला-वण्णग-विलेवणे, निक्खित्त-सत्थ-मुसले, एगे, अबीए) दब्भ-संथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव (जक्खेण वा, रक्खसेण वा, किन्नरेण वा, किंपुरिसेण वा, महोरगेण वा) गंधव्वेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा।

तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देव-रण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे, अपत्तियमाणे, अरोएमाणे इहं हव्वमागए। तं अहो णं, देवाणुप्पिया! इड्ढी, जुई, जसो, बलं, वीरियं, पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे, पत्ते, अभिसमण्णागए। तं दिट्ठा णं देवाणुप्पिया! इड्ढी जाव (जुई, जसो, बलं, वीरियं, पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे, पत्ते) अभिसमण्णागए। तं खामेमि णं, देवाणुप्पिया! खमंतु मज्झ देवाणुप्पिया! खंतुमरहंति णं देवाणुप्पिया! नाइं भुज्जो करणयाए त्ति कट्टु पाय-वडिए, पंजलि-उडे एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

सर्परूपधारी देव ने जब देखा—श्रमणोपासक कामदेव निर्भय है, वह उसे निर्ग्रन्थ—प्रवचन से विचलित, क्षुभित एव विपरिणामित नही कर सका है तो श्रान्त, क्लान्त खिन्न होकर वह धीरे-धीरे पीछे हटा। पीछे हटकर पोषध-शाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर देव-माया-जनित सर्प-रूप का त्याग किया। वैसा कर उसने उत्तम, दिव्य देव-रूप धारण किया।

उस देव के वक्षस्थल पर हार सुशोभित हो रहा था। (वह अपनी भुजाओ पर ककण तथा बाहुरक्षिका—भुजाओ को सुस्थिर बनाए रखनेवाली आभरणात्मक पट्टी, अगद—भुजबन्ध धारण किए था। उसके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलो पर कर्ण-भूषण, कुण्डल शोभित थे। वह विचित्र--विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथो के आभूषण धारण किए था। उसके मस्तक पर तरह-तरह की मालाओ से युक्त मुकुट था। वह कल्याणकृत्—मागलिक, अनुपहत या अखण्डित प्रवर—उत्तम पोशक पहने था। वह मागलिक तथा उत्तम मालाओ एव अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त था। उसका शरीर देदीप्यमान था। सभी ऋतुओ के फूलो से बनी माला उसके गले से घुटनो तक लटकती थी। उसने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, सघात—दैहिक गठन, सस्थान—दैहिक अवस्थिति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्म-परिणति—तदनुरूप भामडल से दसो दिशाओ को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभा युक्त करते हुए, प्रसादित—प्रसाद या आह्लाद युक्त, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेनेवाला, प्रतिरूप—मन मे बस जाने वाला दिव्य देवरूप धारण किया। वैसा कर,) श्रमणोपासक कामदेव की पोषधशाला में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर आकाश

मे अवस्थित हो छोटी-छोटी घण्टिकाओं से युक्त पांच[1] वर्णों के उत्तम वस्त्र धारण किए हुए वह श्रमणोपासक कामदेव से यो बोला—श्रमणोपासक कामदेव ! देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, पुण्यशाली हो, कृत-कृत्य हो, कृतलक्षण—शुभलक्षण वाले हो। देवानुप्रिय ! तुम्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ऐसी प्रतिपत्ति—विश्वास—आस्था सुलब्ध है, सुप्राप्त है, स्वायत्त है, निश्चय ही तुमने मनुष्य-जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त कर लिया।

देवानुप्रिय ! बात यो हुई—शक्र—शक्तिशाली, देवेन्द्र—देवो के परम ईश्वर—स्वामी, देवराज—देवो में सुशोभित, (वज्रपाणि—हाथ मे वज्र धारण किए, पुरन्दर—पुर—असुरो के नगरविशेष के दारक—विध्वसक, शतक्रतु—पूर्वजन्म मे कार्तिक श्रेष्ठी के भव में सौ बार विशिष्ट अभिग्रहो के परिपालक, सहस्राक्ष—हजार आखों वाले—अपने पाच सौ मन्त्रियो की अपेक्षा हजार आखों वाले, मघवा—मेघो—बादलों के नियन्ता, पाकशासन—पाक नामक शत्रु के नाशक, दक्षिणार्द्ध-लोकाधिपति—लोक के दक्षिण भाग के स्वामी, बत्तीस लाख विमानो के अधिपति, ऐरावत नामक हाथी पर सवारी करने वाले, सुरेन्द्र—देवताओ के प्रभु, आकाश की तरह निर्मल वस्त्रधारी, मालाओ से युक्त मुकुट धारण किए हुए, उज्ज्वल स्वर्ण के सुन्दर, चित्रित, चचल—हिलते हुए कु डलो से जिनके कपोल सुशोभित थे, देदीप्यमान शरीरधारी, लम्बी पुष्पमाला पहने हुए इन्द्र ने सौधर्म कल्प के अन्तर्गत सौधर्मावतसक विमान में, सुधर्मा सभा में) इन्द्रासन पर स्थित होते हुए चौरासी हजार सामानिक देवो (तेतीस गुरुस्थानीय त्रायस्त्रिश देवो, चार लोकपाल, परिवार सहित आठ अग्र-महिषियों—प्रमुख इंद्राणियो, तीन परिषदो, सात अनीको—सेनाओ, सात अनीकाधिपतियो—सेनापतियो, तीन लाख छत्तीस हजार अगरक्षक देवो) तथा बहुत से अन्य देवो और देवियो के बीच यो आख्यात, भाषित, प्रज्ञप्त या प्ररूपित किया—कहा—

देवो ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र में, चपा नगरी मे श्रमणोपासक कामदेव पोषधशाला में पोषध स्वीकार किए, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ (मणि-रत्न, सुवर्णमाला, वर्णक—सज्जा-हेतु मडन—आलेखन एव चन्दन, केसर आदि के विलेपन का त्याग किए हुए, शस्त्र, दण्ड आदि से रहित, एकाकी, अद्वितीय—बिना किसी दूसरे को साथ लिए) कुश के बिछौने पर अवस्थित हुआ श्रमण भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप उपासनारत है। कोई देव, दानव, (यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग), गन्धर्व द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से वह विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित नही किया जा सकता।

शक्र, देवेन्द्र, देवराज के इस कथन मे मुझे श्रद्धा, प्रतीति—विश्वास नही हुआ। वह मुझे अरुचिकर लगा। मैं शीघ्र यहा आया। देवानुप्रिय ! जो ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषोचित पराक्रम तुम्हें उपलब्ध—प्राप्त तथा अभिसमन्वागत—अधिगत है, वह सब मैंने देखा। देवानुप्रिय ! मैं तुमसे क्षमा-याचना करता हूं। देवानुप्रिय ! मुझे क्षमा करो। देवानुप्रिय ! आप क्षमा करने मे समर्थ हैं। मैं फिर कभी ऐसा नही करूगा। यों कहकर पैरों मे पडकर, उसने हाथ जोड़कर बार-बार क्षमा-याचना की। क्षमा-याचना कर, जिस दिशा से आया था, उसी दिशा की ओर चला गया।

---

१. श्वेत. पीत. रक्त. नील. कृष्ण।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में देव द्वारा पिशाच, हाथी तथा सर्प का रूप धारण करने के प्रसंग में 'विकुव्वइ'—विक्रिया या विकुर्वणा करना—क्रिया का प्रयोग है, जो उसकी देव-जन्मलभ्य वैक्रिय देह का सूचक है।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है—जैन-दर्शन में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण—ये पांच प्रकार के शरीर माने गए हैं। वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है—औपपातिक और लब्धि-प्रत्यय। औपपातिक वैक्रिय शरीर देव-योनि और नरक-योनि में जन्म से ही प्राप्त होता है। पूर्व-संचित कर्मों का ऐसा योग वहां होता है, जिसकी फल-निष्पत्ति इस रूप में जन्म-जात होती है। लब्धि-प्रत्यय वैक्रिय शरीर तपश्चरण आदि द्वारा प्राप्त लब्धि-विशेष से मिलता है। यह मनुष्य-योनि एवं तिर्यञ्च योनि में होता है।

वैक्रिय शरीर में अस्थि, मज्जा, मांस, रक्त आदि अशुचि-पदार्थ नही होते। एतद्वर्जित इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, प्रिय एवं श्रेष्ठ पुद्गल देह के रूप में परिणत होते हैं। मृत्यु के बाद वैक्रिय-देह का शव नही बचता। उसके पुद्गल कपूर की तरह उड़ जाते हैं। जैसा कि वैक्रिय शब्द से प्रकट है—इस शरीर द्वारा विविध प्रकार की विक्रियाएं—विशिष्ट क्रियाएं की जा सकती हैं, जैसे—एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटी देह को बड़ी बनाना, बड़ी को छोटी बनाना, पृथ्वी एव आकाश में चलने योग्य विविध प्रकार के शरीर धारण करना, अदृश्य रूप बनाना इत्यादि।

सौधर्म आदि देवलोकों के देव एक, अनेक, संख्यात, असंख्यात, स्व-सदृश, विसदृश सब प्रकार की विक्रियाए या विकुर्वणाए करने में सक्षम होते हैं। वे इन विकुर्वणाओं के अन्तर्गत एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सब प्रकार के रूप धारण कर सकते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में श्रमणोपासक कामदेव को कष्ट देने के लिए देव ने विभिन्न रूप धारण किए। यह उसके उत्तरवैक्रिय रूप थे, अर्थात् मूल वैक्रिय शरीर के आधार पर बनाए गए वैक्रिय शरीर थे।

श्रमणोपासक कामदेव को पीड़ित करने के लिए देव ने क्यों इतने उपद्रव किए, इसका समाधान इसी सूत्र में है। वह देव मिथ्यादृष्टि था। मिथ्यात्वी होते हुए भी पूर्व जन्म में अपने द्वारा किए गए तपश्चरण से देव-योनि तो उसे प्राप्त हो सकी, पर मिथ्यात्व के कारण निर्ग्रन्थ-प्रवचन या जिन-धर्म के प्रति उसमें जो अश्रद्धा थी, वह देव होने पर भी विद्यमान रही। इन्द्र के मुख से कामदेव की प्रशंसा सुन कर तथा, उत्कट धर्मोपासना में कामदेव को तन्मय देख उसका विद्वेष भभक उठा, जिसका परिणाम कामदेव को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित करने के लिए क्रूर तथा उग्र कष्ट देने के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

पिशाचरूपधर देव द्वारा तेज तलवार से कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए, कामदेव अपनी उपासना से नहीं हटा। तब देव ने दुर्दान्त, विकराल हाथी का रूप धारण कर उसे आकाश में उछाला, दांतों से झेला, पैरों से रौंदा। उसके बाद भयावह सर्प के रूप में उसे उत्पीडित किया। यह सब कैसे संभव हो सका? देह के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाने पर कामदेव इस

योग्य कैसे रहा कि उसे आकाश में फेंका जा सके, रौंदा जा सके, कुचला जा सके। यहां ऐसी बात है—वह मिथ्यात्वी देव कामदेव को घोर कष्ट देना चाहता था, ताकि कामदेव अपना धर्म छोड़ दे। अथवा उसकी धार्मिक दृढता की परीक्षा करना चाहता था। उसे मारना नहीं चाहता था। वैक्रिय-लब्धिधारी देवों की यह विशेषता होती है, वे देह के पुद्‌गलों को जिस त्वरा से विच्छिन्न करते हैं—काट डालते हैं, तोड़-फोड़ कर देते हैं, उसी त्वरा से तत्काल उन्हें यथावत् संयोजित भी कर सकते हैं। यह सब इतनी शीघ्रता से होता है कि आक्रान्त व्यक्ति को घोर पीडा का तो अनुभव होता है, यह भी अनुभव होता है कि वह काट डाला गया है, पर देह के पुद्‌गलों की विच्छिन्नता या पृथक्ता की दशा अत्यन्त अल्पकालिक होती है। इसलिए स्थूल रूप में शरीर वैसा का वैसा स्थित प्रतीत होता है। कामदेव के साथ ऐसा ही घटित हुआ।

कामदेव ने घोर कष्ट सहे, पर वह धर्म से विचलित नही हुआ। तब देव अपने मूल रूप मे उपस्थित हुआ और उसने वह सब कहा, जिससे विद्वेषवश कामदेव को कष्ट देने हेतु वह दुष्प्रेरित हुआ था। वहां इन्द्र तथा उसके देव-परिवार के वर्णन में तीन परिषदें, आठ पटरानियो के परिवार, सात सेनाएं आदि का उल्लेख है, जिनका विस्तार इस प्रकार है—

सौधर्म देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र की तीन परिषदें होती हैं—शमिता—आभ्यन्तर, चण्डा—मध्यम तथा जाता—बाह्य। आभ्यन्तर परिषद् में बारह हजार देव और सात सौ देविया, मध्यम परिषद् में चौदह हजार देव और छह सौ देविया तथा बाह्य परिषद् में सोलह हजार देव और पांच सौ देविया होती हैं। आभ्यन्तर परिषद् में देवों की स्थिति पाच पल्योपम, देवियो की स्थिति तीन पल्योपम, मध्यम परिषद् में देवों की स्थिति चार पल्योपम, देवियों की स्थिति दो पल्योपम तथा बाह्य परिषद् में देवों की स्थिति तीन पल्योपम, देवियों को स्थिति एक पल्योपम होती है।

अग्रमहिषी-परिवार—प्रत्येक अग्रमहिषी—पटरानी के परिवार में पाच हजार देविया होती है। यो इन्द्र के अन्तःपुर मे चालीस हजार देवियों का परिवार माना जाता है।

सेनाएँ—हाथी, घोड़े, बैल, रथ तथा पैदल—ये पाँच सेनाएँ लड़ने हेतु होती हैं तथा दो सेनाए—गन्धर्वानीक—गाने-बजाने वालों का दल और नाट्यानीक-नाटक करने वालों का दल—आमोद-प्रमोदपूर्वक तदर्थ उत्साह बढ़ाने हेतु होती हैं।

इस सूत्र में शतक्रतु तथा सहस्राक्ष आदि इन्द्र के कुछ ऐसे नाम आए हैं, जो वैदिक परम्परा मे भी विशेष प्रसिद्ध हैं। जैनपरम्परा के अनुसार इन नामो का कारण एव इनकी सार्थकता पहले अर्थ में बतलायी जा चुकी हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार इन नामों का कारण दूसरा है। वह इस प्रकार है :—

शतक्रतु—क्रतु का अर्थ यज्ञ है। सौ यज्ञ सम्पूर्ण रूप में सम्पन्न कर लेने पर इन्द्र-पद प्राप्त होता है, वैदिक परम्परा में ऐसी मान्यता है। अतः शतक्रतु सौ यज्ञ पूरे कर इन्द्र पद पाने के अर्थ में प्रचलित है।

सहस्राक्ष—इसका शाब्दिक अर्थ हजार नेत्रवाला है। इन्द्र का यह नाम पड़ने के पीछे एक पौराणिक कथा बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में उल्लेख है—इन्द्र एक बार मन्दाकिनी के तट पर स्नान करने गया। वहाँ उसने गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या को नहाते देखा। इन्द्र की बुद्धि

कामावेश से भ्रष्ट हो गई। उसने देव-माया से गौतम ऋषि का रूप बना लिया और अहल्या का शील-भंग किया। इसी बीच गौतम वहाँ पहुंच गए। वे इन्द्र पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए, उसे फटकारते हुए कहने लगे—तुम तो देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाते हो, ज्ञानी कहे जाते हो। पर, वास्तव में तुम नीच, अधम, पतित और पापी हो, योनि-लम्पट हो। इन्द्र की निन्दनीय योनि-लम्पटता जगत् के समक्ष प्रकट रहे, इसलिए गौतम ने उसकी देह पर सहस्र योनियां बन जाने का शाप दे डाला। तत्काल इन्द्र की देह पर हजार योनियां उद्भूत हो गईं। इन्द्र घबरा गया, ऋषि के चरणों में गिर पड़ा। बहुत अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने इन्द्र से कहा—पूरे एक वर्ष तक तुम्हें इस घृणित रूप का कष्ट झेलना ही होगा। तुम प्रतिक्षण योनि की दुर्गन्ध में रहोगे। तदनन्तर सूर्य की आराधना से ये सहस्र योनियां नेत्र रूप में परिणत हो जायेंगी—तुम सहस्राक्ष—हजार नेत्रों वाले बन जाओगे। आगे चल कर वैसा ही हुआ, एक वर्ष तक वैसा जघन्य जीवन बिताने के बाद इन्द्र सूर्य की आराधना से सहस्राक्ष बन गया।[1]

११२. तए णं से कामदेवे समणोवासए निरुवसग्गं इइ कट्टु पडिमं पारेइ।

तब श्रमणोपासक कामदेव ने यह जानकर कि अब उपसर्ग—विघ्न नहीं रहा है, अपनी प्रतिमा का पारण—समापन किया।

भगवान् महावीर का पदार्पण : कामदेव द्वारा वन्दन-गमन

११३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव (जेणेव चंपा नयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर (जहा चंपा नगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, पधारे, यथोचित स्थान ग्रहण किया, संयम एवं तप से) आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित हुए।

११४. तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव[2] विहरइ। तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता, नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं जाव (पवर-परिहिए) अप्प-महग्घा-जाव (-भरणालंकिय-सरीरे सकोरेण्ट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं) मणुस्स-वग्गुरा-परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नयरिं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखो जाव (जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए) पज्जुवासइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने जब यह सुना कि भगवान् महावीर पधारे हैं, तो सोचा, मेरे लिए यह श्रेयस्कर है, मैं श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार कर, वापस लौट कर पोषध का

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण ४.४.७. १९-३२
२. देखें सूत्र-संख्या ११३

धारण—समाचरण करूं । यों सोच कर उसने शुद्ध तथा सभा योग्य मांगलिक वस्त्र भली-भांति पहने, (थोड़े से बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, कुरंट पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण किए हुए पुरुषसमूह से घिरा हुआ) अपने घर से निकला । निकल कर चंपा नगरी के बीच से गुजरा, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, (जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे,) शंख श्रावक की तरह आया । आकर (तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, वंदन-नमस्कार किया । वंदन-नमस्कार कर त्रिविध—कायिक, वाचिक एवं मानसिक) पर्युपासना की ।

११५. तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव[1] धम्मकहा समत्ता ।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक कामदेव तथा परिषद् को धर्म-देशना दी ।

भगवान् द्वारा कामदेव की वर्धापना

११६. कामदेवा ! इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—से नूणं कामदेवा ! तुब्भं पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए । तए णं से देवे एगं महं दिव्वं पिसाय-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरत्ते एगं महं नीलुप्पल जाव (-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासं, खुरधारं) असिं गहाय तुमं एवं वयासी—हं भो कामदेवा ! जाव[2] जीवियाओ ववरोविज्जसि । तं तुमं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरसि ।

एवं वण्णगरहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ ।

से नूणं कामदेवा ! अट्ठे समट्ठे ?

हंता, अत्थि ।

श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव से कहा—कामदेव ! आधी रात के समय एक देव तुम्हारे सामने प्रकट हुआ था । उस देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण किया । वैसा कर, अत्यन्त क्रुद्ध हो, उसने (नीले कमल, भैंसे के सींग तथा अलसी के फूल जैसी गहरी नीली तेज धार वाली) तलवार निकाल कर तुम से कहा—कामदेव ! यदि तुम अपने शील आदि व्रत भग्न नहीं करोगे तो जीवन से पृथक् कर दिए जाओगे । उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी तुम निर्भय भाव से उपासनारत रहे ।

तीनों उपसर्ग विस्तृत वर्णन रहित, देव के वापस लौट जाने तक पूर्वोक्त रूप में यहाँ कह लेने चाहिए ।

भगवान् महावीर ने कहा—कामदेव क्या यह ठीक है ?

कामदेव बोला—भगवन् ! ऐसा ही हुआ ।

११७. अज्जो इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं

---

१. देखें सूत्र-संख्या ११

२. देखें सूत्र-संख्या १०७

३. देखें सूत्र-संख्या ९८

वयासी—जइ ताव, अज्जो ! समणोवासगा, गिहिणो, गिहमज्झावसंता दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव (खमंति, तितिक्खंति) अहियासेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंग-गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए (उवसग्गे) सम्मं सहित्तए जाव (खमित्तए, तितिक्खित्तए) अहियासित्तए ।

भगवान् महावीर ने बहुत से श्रमणों और श्रमणियों को संबोधित कर कहा—आर्यो ! यदि श्रमणोपासक गृही घर में रहते हुए भी देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत—पशु पक्षीकृत उपसर्गों को भली भाँति सहन करते हैं (क्षमा एवं तितिक्षा भाव से झेलते हैं) तो आर्यो ! द्वादशांग-रूप गणिपिटक का—आचार आदि बारह अंगों का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यञ्चकृत उपसर्गों को सहन करना (क्षमा एव तितिक्षा-भाव से झेलना) शक्य है ही ।

११८. तओ ते बहवे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति ।

श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन उन बहु-संख्यक साधु-साध्वियों ने 'ऐसा ही है' भगवन् !' यों कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया ।

११९. तए णं कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव[1] समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, अट्ठमादियइ । समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं पडिगए ।

श्रमणोपासक कामदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसने श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे अर्थ—समाधान प्राप्त किया । श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वंदन-नमस्कार कर, जिस दिशा से वह आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया ।

१२०. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ।

श्रमण भगवान् महावीर ने एक दिन चम्पा से प्रस्थान किया । प्रस्थान कर वे अन्य जनपदों में विहार कर गए ।

कामदेव: स्वर्गारोहण

१२१. तए णं कामदेवे समणोवासए पढमं उवासग—पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक कामदेव ने पहली उपासकप्रतिमा की आराधना स्वीकार की ।

१२२. तए णं से कामदेवे समणोवासए बहूहिं जाव (सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं) भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासेत्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए

१. देखें सूत्र-संख्या १२

छेदेत्ता, आलोइयपडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ।

श्रमणोपासक कामदेव ने अणुव्रत (गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास) द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन किया । बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय—श्रावकधर्म का पालन किया । ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भली-भाँति अनुसरण किया । एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर आलोचना, प्रतिक्रमण कर मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया । देह-त्याग कर वह सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतसक महाविमान के ईशान-कोण में स्थित अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ । वहां अनेक देवो की आयु चार पल्योपम की होती है । कामदेव की आयु भी देवरूप में चार पल्योपम की बतलाई गई है ।

१२३. से णं भंते ! कामदेवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ।

निक्खेवो[1]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं बीयं अज्झयणं समत्तं ।।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते ! कामदेव उस देव-लोक से आयु, भव एवं स्थिति के क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहा जायगा ? कहां उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! कामदेव महाविदेह-क्षेत्र में सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा ।

।। निक्षेप[2] ।।

।। सातवे अग उपासकदशा का द्वितीय अध्ययन समाप्त ।।

---

१. एवं खलु जम्बू ! समणेण जाव सम्पत्तेण दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि ।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के द्वितीय अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है ।

तीसरा अध्ययन

सार : संक्षेप

सहस्राब्दियों से वाराणसी भारत की एक समृद्ध और सुप्रसिद्ध नगरी रही है। आज भी शिक्षा की दृष्टि से यह अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का स्थान है। भगवान् महावीर के समय की बात है, वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। जितशत्रु का राज्य काफी विस्तृत था। सम्बद्ध वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है, चम्पा आदि उस समय के बड़े-बड़े नगर उसके राज्य मे थे। उन दिनों नगरों के उपकण्ठ में चैत्य हुआ करते थे, जहां नगर में आने वाले आचार्य, साधु-संन्यासी आदि रुकते थे। वाराणसी में कोष्ठक नामक चैत्य था। आज भी नगरों के बाहर ऐसे बगीचे, बगीचियां, देवस्थान, विश्राम-स्थान आदि होते ही हैं।

वाराणसी में चुलनीपिता नामक एक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। चुलनीपिता अत्यन्त समृद्ध, धन्य-धान्य-सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी सम्पत्ति आनन्द तथा कामदेव से भी कहीं अधिक थी। आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राए उसके निधान में थी। ऐसा प्रतीत होता है, उन दिनो बड़े समृद्ध जन कुछ ऐसी स्थायी पूंजी रखते थे, जिसका वे किसी कार्य में उपयोग नहीं करते थे। प्रतिकूल समय मे काम लेने के लिए वह एक सुरक्षित निधि के रूप में होती थी। व्यापार-व्यवसाय में सम्पत्ति जहा खूब बढ सकती है, वहा कम भी हो सकती है, सारी की सारी समाप्त भी हो सकती है। इसलिए उनकी दृष्टि में यह आवश्यक था कि कुछ ऐसी पूंजी होनी ही चाहिए, जो अलग रखी रहे, समय पर काम आए। यह अच्छा विभाजन उन दिनों अपने पूंजी के उपयोग और विनियोग में था। चुलनीपिता ने आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राए व्यापार में लगा रखी थी। उसकी आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राए घर के उपकरण, साज-सामान तथा वैभव में प्रयुक्त थी। एक ऐसा सन्तुलित जीवन उस समय के समृद्ध जनों का था, वे जिस अनुपात में अपनी सम्पत्ति व्यापार मे लगाते, सुरक्षित रखते, उसी अनुपात में घर की शान, गरिमा, प्रभाव तथा सुविधा हेतु भी लगाते थे। उन दिनो देश की आबादी कम थी, भूमि बहुत थी, इसलिए भारत में गो-पालन का कार्य बडे व्यापक रूप में प्रचलित था। आनन्द और कामदेव के चार और छह गोकुल होने का वर्णन आया है, वहा चुलनीपिता के दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। इस साम्पत्तिक विस्तार और चल-अचल धन से यह स्पष्ट है कि चुलनीपिता उस समय का एक अत्यन्त वैभवशाली पुरुष था।

पुराने साहित्य को जब पढ़ते हैं तो एक बात सामने आती है। अनेक पुरुष बहुत वैभव और सम्पदा के स्वामी होते थे, सब तरह का भौतिक या लौकिक सुख उन्हे प्राप्त था, पर वे सुखों के उन्माद में बह नहीं जाते थे। वे समय पर उस जीवन के सम्बन्ध में भी सोचते थे; जो धन, सम्पत्ति वैभव, भोग तथा विलास से पृथक् है। पर, है वास्तविक और उपादेय।

भगवान् महावीर के आगमन पर जैसा आनन्द और कामदेव को अपने जीवन को नई दिशा देने का प्रतिबोध मिला, चुलनीपिता के साथ भी ऐसा ही घटित हुआ। भगवान् महावीर जब अपने जनपद-विहार के बीच वाराणसी पधारे तो चुलनीपिता ने भी भगवान् की धर्मदेशना सुनी, वह

अन्तःप्रेरित हुआ, उसने जीवन को व्रतों के सांचे में ढाला—श्रावक-धर्म स्वीकार किया। वह अपने जीवन को उत्तरोत्तर उपासना में लगाए रखने मे प्रयत्नशील रहने लगा।

एक दिन की बात है, वह ब्रह्मचर्य एवं पोषध-व्रत स्वीकार किए, पोषधशाला में उपासनारत था, आधी रात का समय था। उपसर्ग करने के लिए एक देव प्रकट हुआ। हाथ में तेज तलवार लिए उसने चुलनीपिता को कहा—तुम व्रतों को छोड़ दो, नही तो मैं तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से उठा लाऊंगा। तुम्हारे ही सामने उसको काटकर तीन टुकड़े कर डालूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में उन्हें खौलाऊंगा और तुम्हारे बेटे का उबलता हुआ मांस और रक्त तुम्हारे शरीर पर छिड़कूंगा।

चुलनीपिता के समक्ष एक भीषण दृश्य था। पुत्र की हत्या की विभीषिका थी। सांसारिक प्रिंटजनों में पुत्र का अपना असाधारण स्थान है। पुत्र के प्रति पिता के मन में कितनी ममता होती है, यह किसी से छिपा नहीं है। भारतीय साहित्य में तो यहाँ तक उल्लेख है—'सर्वेभ्यो जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' अर्थात् पिता यह कामना करता है, मेरा पुत्र इतनी उन्नति करे, इतना आगे बढ़ जाय कि मुझे वह पराजय दे सके। उसी प्रकार गुरु भी यह कामना करता है कि मेरा शिष्य इतना योग्य हो जाय कि मुझे वह पराभूत कर सके।

इस परिपार्श्व में जब हम सोचते हैं तो चुलनीपिता के सामने एक हृदय-द्रावक विभीषिका थी, पर उसने हृदय या भावुकता को विवेक पर हावी नहीं होने दिया, अपनी उपासना में अविचल भाव से लगा रहा। देव का क्रोध उबल पड़ा। उसने जैसा कहा था, देवमाया से क्षण भर में वैसा ही दृश्य उपस्थित कर दिया। उसी के बेटे का उबलता मास और रक्त उसकी देह पर छिड़का। बहुत भयानक और साथ ही साथ बीभत्स कर्म यह था। पत्थर का हृदय भी फट जाय, पर चुलनीपिता अडिग रहा।

देव और विकराल हो गया। उसने फिर धमकी दी—मैंने जैसा तुम्हारे बड़े बेटे के साथ किया है, वैसा तुम्हारे मंझले बेटे के साथ भी करता हूं, मान जाओ, आराधना से हट जाओ! पर, चुलनीपिता फिर भी घबराया नही। तब देव ने बड़े बेटे की तरह मझले बेटे के साथ भी वैसा ही किया।

देव ने तीसरी बार फिर चुलनीपिता को धमकी दी—तुम्हारे दो बेटे समाप्त किए जा चुके हैं, अब छोटे की बारी है। उसकी भी यही हालत होने वाली है। अब भी मान जाओ। पर, चुलनीपिता अविचल रहा। देव ने छोटे बेटे का भी काम तमाम कर दिया और वैसा ही क्रूर और नृशंस व्यवहार किया। चुलनीपिता उपासना में इतना रम गया था कि हृदय की दुर्बलताएं वह काफी हद तक जीत चुका था। इसलिए, देव का यह नृशस कर्म उसे अपने पथ से डिगा नही सका।

जब देव ने देखा कि तीनों पुत्रों की नृशस हत्या के बावजूद श्रमणोपासक चुलनीपिता निश्चल भाव से धर्मोपासना में लगा है तो उसने एक और अत्यन्त भीषण उपाय सोचा। उसने धमकी भरे शब्दों में उससे कहा—तुम यों नही मानोगे, अब मैं तुम्हारी माता भद्रा सार्थवाही को यहाँ लाता हूं, जो तुम्हारे लिए देव और गुरु की तरह पूजनीय है, जिसने तुम्हारे लालन-पालन में अनेक कष्ट झेले हैं, जो परम धार्मिक है। मैं तुम्हारे सामने इस तेज तलवार से काटकर उसके तीन टुकड़े कर डालूंगा। जैसे तुम्हारे पुत्रों को उबलते पानी की कढ़ाही में खौलाया, उसे भी खौलाऊंगा तथा उसी तरह उसके उबलते हुए मांस और रक्त से तुम्हारा शरीर छींटूंगा।

अपने तीनों बेटों की नृशंस हत्या के समय जिसका हृदय जरा भी विचलित नहीं हुआ, अत्यन्त दृढता और तन्मयता के साथ धर्म-ध्यान मे लगा रहा, जब उसके समक्ष उसकी श्रद्धेया और ममतामयी माता की हत्या का प्रश्न आया, उसके धीरज का बांध टूट गया। उसे मन ही मन लगा, यह दुष्ट मेरी आंखो के देखते ऐसा नीच कार्य करेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं अभी इस दुष्ट को पकड़ता हू। यों क्रुद्ध होकर चुलनीपिता उसे पकड़ने को उठा, हाथ फैलाए। वह तो देव का षड्यंत्र था। वह देव आकाश मे अन्तर्धान हो गया और चुलनीपिता के हाथ में पोषधशाला का खभा आ गया, जो उसके सामने था। चुलनीपिता हक्का-बक्का रह गया। वह जोर जोर से चिल्लाने लगा।

भद्रा सार्थवाही ने जब यह शोर सुना तो वह झट वहाँ आई और अपने पुत्र से बोली—क्या हुआ, ऐसा क्यों करते हो ? चुलनीपिता ने वह सारी घटना बतलाई, जो घटित हुई थी। उसकी माता ने कहा—बेटा ! यह देव द्वारा किया गया उपसर्ग था, यह सारी देवमाया थी। सब सुरक्षित हैं, किसी की हत्या नही हुई। क्रोध करके तुमने अपना व्रत तोड दिया। तुमसे यह भूल हो गई, तुम्हें इसके लिए प्रायश्चित्त करना होगा, जिससे तुम शुद्ध हो सको। चुलनीपिता ने मां का कथन शिरोधार्य किया। प्रायश्चित्त स्वीकार किया।

मानव-मन बड़ा दुर्बल है। उपासक को क्षण-क्षण सावधान रहना अपेक्षित है। थोड़ी सी सावधानी टूटते ही हृदय मे दुर्बलता उभर आती है। उपासक अपने मार्ग से चलित हो जाता है। किसी से भूल होना असभव नही है, पर जब भूल मालूम हो जाय तो व्यक्ति को तत्क्षण जागरूक हो जाना चाहिए, उस भूल के लिए आन्तरिक खेद अनुभव करना चाहिए। पुन· वैसा न हो, इसके लिए सकल्पबद्ध होना चाहिए। उक्त घटना इन्ही सब बातो पर प्रकाश डालती है। अस्तु।

चुलनीपिता धर्म की उपासना मे उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया। उसने व्रताराधना से आत्मा को भावित करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक प्रतिमाओं की सम्यक् आराधना की, एक मास की अन्तिम सलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर, समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक में अरुणप्रभ विमान में वह देव रूप में उत्पन्न हुआ।

तृतीय अध्ययन : चुलनीपिता

१२४. उक्खेवो तइयस्स अज्झयणस्स[1]। एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया।

उपक्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक तृतीय अध्ययन का प्रारम्भ यों है :—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, बाराणसी नामक नगरी थी। कोष्ठक नामक चैत्य था, वहा के राजा का नाम जितशत्रु था।

श्रमणोपासक चुलनीपिता

१२५. तत्थ णं वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जाव[3] अपरिभूए। सामा भारिया। अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। जहा आणंदो राईसर जाव[4] सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। चुलणीपिया वि, जहा आणंदो तहा निग्गओ। तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। गोयम-पुच्छा। तहेव सेसं जहा कामदेवस्स जाव[5] पोसह-सालाए पोसहिए बंभयारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

वाराणसी नगरी मे चुलनीपिता नामक गाथापति निवास करता था। वह अत्यन्त समृद्ध एव प्रभावशाली था। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। आठ करोड स्वर्ण-मुद्राए स्थायी पूंजी के रूप मे उसके खजाने में थी, आठ करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार-व्यवसाय मे लगी थी तथा आठ करोड स्वर्णमुद्राए घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री मे लगी थी। उसके आठ गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल मे दस-दस हजार गाए थी। गाथापति आनन्द की तरह वह राजा, ऐश्वर्यशाली पुरुष आदि विशिष्ट जनो के सभी प्रकार के कार्यों का सत्परामर्श आदि द्वारा वर्धापक—आगे बढाने वाला था।

---

१ जइ ण भते ! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाण दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स ण भते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२ आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के द्वितीय अध्ययन का यदि यह अर्थ—आशय प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होने तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहे।)

३ देखें सूत्र-सख्या ३

४. देखें सूत्र-सख्या ५

५. देखें सूत्र-सख्या ९२

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। भगवान् की धर्म-देशना सुनने परिषद् जुडी। आनन्द की तरह चुलनीपिता भी घर से निकला—भगवान् की सेवा मे आया। आनन्द की तरह उसने भी श्रावकधर्म स्वीकार किया।

गौतम ने जैसे आनन्द के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किए थे, उसी प्रकार चुलनीपिता के भावी जीवन के सम्बन्ध में भी किए। भगवान् ने समाधान दिया।

आगे की घटना गाथापति कामदेव की तरह है। चुलनीपिता पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एव पोषध स्वीकार कर, श्रमण भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

उपसर्गकारी देव : प्रादुर्भाव

१२६. तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए।

आधी रात के समय श्रमणोपासक चुलनीपिता के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

पुत्र-वध की धमकी

१२७. तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[1] असिं गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो चुलणीपिया ! समणोवासया ! जहा कामदेवो जाव[2] न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि घाएत्ता तओ मंस-सोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

उस देव ने एक बडी नीली तेज धार वाली तलवार निकाल कर जैसे पिशाच रूप धारी देव ने कामदेव से कहा था, वैसे ही श्रमणोपासक चुलनीपिता को कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! व्रतों से हट जाओ। यदि तुम अपने व्रत नही तोडोगे, तो मैं आज तुम्हारे बडे पुत्र को घर से निकाल लाऊगा। निकाल कर तुम्हारे आगे उसे मार डालूगा। मारकर उसके तीन मांस-खड करूंगा, उबलते आद्रहण—पानी या तैल से भरी कढ़ाही में खौलाऊगा। उसके मास और रक्त से तुम्हारे शरीर को सीचूंगा—छींटूगा। जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दु:ख से पीडित होकर असमय में ही प्राणो से हाथ धो बैठोगे।

चुलनीपिता की निर्भीकता

१२८. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ११६

२. देखें सूत्र-संख्या १०७

३. देखें सूत्र-सख्या ९८

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुलनीपिता निर्भय भाव से धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

१२९. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! तं चेव भणइ, सो जाव[2] विहरइ।

जब उस देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को निर्भय देखा, तो उसने उससे दूसरी बार और फिर तीसरी बार वैसा ही कहा। पर, चुलनीपिता पूर्ववत् निर्भीकता के साथ धर्म-ध्यान मे स्थित रहा।

बड़े पुत्र की हत्या

१३०. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[3] पासित्ता आसुरत्ते ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता अग्गओ घाएइ, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ।

देव ने चुलनीपिता को जब इस प्रकार निर्भय देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। वह चुलनीपिता के बडे पुत्र को उसके घर से उठा लाया और उसके सामने उसे मार डाला। मारकर उसके तीन मांस-खड किए, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाया। उसके मास और रक्त से चुलनीपिता के शरीर को सींचा—छीटा।

१३१. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तं उज्जलं जाव[4] अहियासेइ।

चुलनीपिता ने वह तीव्र वेदना तितिक्षापूर्वक सहन की।

मंझले व छोटे पुत्र की हत्या

१३२. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[5] पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो चुलणीपिया समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! जाव[6] न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि जहा जेट्ठं पुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ। एवं तच्चंपि कणीयसं जाव अहियासेइ।

देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को जब यो निर्भीक देखा तो उसने दूसरी-तीसरी बार कहा—

१. देखें सूत्र-सख्या ९७
२. देखें सूत्र-संख्या ९७
३. देखें सूत्र-संख्या ९७
४. देखें सूत्र-सख्या १०६
५. देखें सूत्र-सख्या ९७
६. देखें सूत्र-सख्या १०७

मौत को चाहनेवाले चुलनीपिता ! यदि तुम अपने व्रत नही तोड़ोगे, तो मैं तुम्हारे मंझले पुत्र को घर से उठा लाऊंगा और तुम्हारे सामने तुम्हारे बड़े बेटे की तरह उसकी भी हत्या कर डालूंगा। इस पर भी चुलनीपिता जब अविचल रहा तो देव ने वैसा ही किया। उसने तीसरी बार फिर छोटे लड़के के सम्बन्ध में वैसा ही करने को कहा। चुलनीपिता नही घबराया। देव ने छोटे लडके के साथ भी वैसा ही किया। चुलनीपिता ने वह तीव्र वेदना तितिक्षापूर्वक सहन की।

मातृ-वध की धमकी

१३३. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता चउत्थं पि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुमं जाव[2] न भंजेसि, तओ अहं अज्ज जा इमा तव माया भद्दा सत्थवाही देवयगुरुजणणी, दुक्करदुक्करकारिया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

देव ने जब श्रमणोपासक चुलनीपिता को इस प्रकार निर्भय देखा तो उसने चौथी बार उससे कहा—मौत को चाहने वाले चुलनीपिता ! यदि तुम अपने व्रत नही तोड़ोगे तो मैं तुम्हारे लिए देव और गुरु सदृश पूजनीय, तुम्हारे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली अथवा अति कठिन धर्म-क्रियाए करने वाली तुम्हारी माता भद्रा सार्थवाही को घर से यहाँ ले आऊगा। लाकर तुम्हारे सामने उसकी हत्या करूंगा, उसके तीन मांस-खड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा। उसके मास और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूगा—छींटूगा, जिससे तुम आर्तध्यान एव विकट दु.ख से पीड़ित होकर असमय मे ही प्राणों में हाथ धो बैठोगे।

विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासक चुलनीपिता की माता भद्रा सार्थवाही का एक विशेषण देव-गुरु-जननी आया है, जो भारतीय आचार-परम्परा में माता के प्रति रहे सम्मान, आदर और श्रद्धा का द्योतक है। माता का सन्तति पर निश्चय ही अपनी सेवाओ का एक ऐसा ऋण होता है, जिसे किसी भी तरह उतारा जाना सम्भव नही है। इसलिए यहा माता की देवतुल्य पूजनीयता एव सम्मान-नीयता की ओर सकेत है।

डॉ. रुडोल्फ हॉर्नले ने एक पुरानी व्याख्या के आधार पर देव-गुरु का अर्थ देवताओं के गुरु-बृहस्पति किया है। यों उनके अनुसार माता बृहस्पति के समान पूजनीय है।[3]

भारत की सभी परम्पराओं के साहित्य में माता का असाधारण महत्त्व स्वीकार किया गया हैं। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के अनुसार माता और मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढकर माना है। मनु ने तो माता का बहुत अधिक गौरव स्वीकार किया है। उन्होंने माता को पिता से

१. देखें सूत्र-सख्या ९७
२. देखें सूत्र-सख्या १०७
३. The Uvāsagadasāo Lecture III Page 94

हजार गुना अधिक महत्त्व दिया है ।[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख है, अध्ययन सम्पन्न कराने के पश्चात् आचार्य जब शिष्य को भावी जीवन के लिए उपदेश करता है, तो वहाँ वह उसे विशेष रूप से कहता है, तुम अपनी माता को देवता के तुल्य समझना, पिता को देवता के तुल्य समझना, आचार्य को देवता के तुल्य समझना, अतिथि को देवता के तुल्य समझना, अनवद्य—अनिंद्य या निर्दोष कर्म करना, इतर—निंद्य या सदोष कर्म मत करना, गुरुजनो द्वारा सेवित शुभ आचरण या उत्तम चरित्र का पालन करना ।[2]

जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य में भी माता का बहुत उच्च स्थान माना गया है । यहाँ प्रयुक्त इस विशेषण मे भारतीय चिन्तनधारा के इस पक्ष की स्पष्ट झलक है ।

१३४. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरइ ।

उस देव द्वारा यो कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुलनीपिता निर्भयता से धर्मध्यान में स्थित रहा ।

१३५. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[4] विहरमाणं पासइ, पासित्ता चुलणीपियं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! तहेव जाव (अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि ।

उस देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को निर्भय देखा तो दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! तुम (आर्तध्यान एव विकट दु ख से पीडित होकर असमय में ही) प्राणो से हाथ धो बैठोगे ।

चुलनीपिता का क्षोभ : कोलाहल

१३६. तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५, अहो णं इमे पुरिसे अणारिए, अणारिय-बुद्धी, अणारियाइं, पावाइं कम्माइं समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाएत्ता जहा कयं तहा चिंतेइ जाव (तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता) ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जेणं ममं मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ जाव

---

१ उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणा शत पिता ।
सहस्त्र तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।
—मनुस्मृति २ १४५

२ मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माक सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि ।
—तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १ अनुवाक् ११ २

३. देखें सूत्र-सख्या ९८

४. देखें सूत्र-सख्या ९७

(नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाएत्ता तओ मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता) ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव[1] आयंचइ, जा वि य णं इमा ममं माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी, दुक्कर-दुक्कर-कारिया तं पि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेणं च खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस देव ने जब दूसरी बार, तीसरी बार ऐसा कहा, तब श्रमणोपासक चुलनीपिता के मन में विचार आया—यह पुरुष बडा अधम है, नीच-बुद्धि है, नीचतापूर्ण पाप-कार्य करने वाला है, जिसने मेरे बड़े पुत्र को घर से लाकर मेरे आगे मार डाला (उसके तीन मास-खण्ड किए, उबलते पानी से भरी कढाही मे खौलाया) उसके मास और रक्त से मेरे शरीर को सीचा—छीटा, जो मेरे मझले पुत्र को घर से ले आया, (लाकर मेरे सामने उसकी हत्या की, उसके तीन मास-खण्ड किए, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाया, उसके मास और रक्त से मेरे शरीर को सीचा—छीटा,) जो मेरे छोटे पुत्र को घर से ले आया, उसी तरह उसके मास और रक्त से मेरा शरीर सीचा, जो देव और गुरु सदृश पूजनीय, मेरे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली, अति कठिन क्रियाएं करने वाली मेरी माता भद्रा सार्थवाही को भी घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इसलिए, अच्छा यही है, मै इस पुरुष को पकड लूं। यो विचार कर वह पकडने के लिए दौडा। इतने में देव आकाश में उड गया। चुलनीपिता के पकडने को फैलाए हाथों मे खम्भा आ गया। वह जोर-जोर से शोर करने लगा।

माता का आगमन जिज्ञासा

१३७. तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहल-सद्दं सोच्चा, निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—किण्णं पुत्ता! तुमं महया महया सद्देणं कोलाहले कए?

भद्रा सार्थवाही ने जब वह कोलाहल सुना, तो जहाँ श्रमणोपासक चुलनीपिता था, वहाँ वह आई, उससे बोली—पुत्र! तुम जोर-जोर से यो क्यो चिल्लाए?

चुलनीपिता का उत्तर

१३८. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी—एवं खलु अम्मो! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरत्ते ४, एगं महं नीलुप्पल जाव[2] असिं गहाय ममं एवं वयासी—हं भो! चुलणीपिया! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया! ४. जइ णं तुमं जाव (अज्ज सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो जाव तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

अपनी माता भद्रा सार्थवाही से श्रमणोपासक चुलनीपिता ने कहा—मा! न जाने कौन

---

१ देखें सूत्र-सख्या १३६

२. देखें सूत्र-सख्या ११६

पुरुष था, जिसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक बड़ी नीली तलवार निकाल कर मुझे कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक चुलनीपिता ! यदि तुम आज शील, (व्रत, विमरण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास) का त्याग नही करोगे, भग नही करोगे तो तुम आर्तध्यान एव विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही प्राणो से हाथ धो बैठोगे ।

१३९. तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरामि ।

उस पुरुष द्वारा यो कहे जाने पर भी मैं निर्भीकता के साथ अपनी उपासना में निरत रहा ।

१४०. तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव[2] विहरमाणं पासइ, पासित्ता ममं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! तहेव जाव[3] गायं आयंचइ ।

जब उस पुरुष ने मुझे निर्भयतापूर्वक उपासनारत देखा तो उसने मुझे दूसरी बार, तीसरी बार फिर कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! जैसा मैंने तुम्हे कहा है, मैं तुम्हारे शरीर को मास और रक्त से सीचता हूँ और उसने वैसा ही किया ।

१४१. तए णं अहं उज्जलं, जाव (विउलं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं, दुरहियासं वेयणं सम्मं सहामि, खमामि, तितिक्खामि, अहियासेमि । एवं तहेव उच्चारेयव्वं सव्वं जाव कणीयसं जाव[4] आयंचइ । अहं तं उज्जलं जाव[5] अहियासेमि ।

मैंने (सहनशीलता, क्षमा और तितिक्षापूर्वक वह तीव्र, विपुल—अत्यधिक, कर्कश—कठोर, प्रगाढ, रौद्र, कष्टप्रद तथा दुःसह) वेदना झेली ।

छोटे पुत्र के मास और रक्त से शरीर सीचने तक सारी घटना उसी रूप मे घटित हुई । मैं वह तीव्र वेदना सहता गया ।

१४२. तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव[6] पासइ, पासित्ता ममं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! जाव[7] न भंजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया गुरु जाव (जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९८
२. देखें सूत्र-संख्या ९७
३. देखें सूत्र-सख्या १३६
४. देखें सूत्र-सख्या १३६
५ देखें सूत्र यही
६. देखें सूत्र-सख्या ९७
७ देखें सूत्र-संख्या १०७

उस पुरुष ने जब मुझे निडर देखा तो चौथी बार उसने कहा—मौत को चाहने वाले श्रमणोपासक चुलनीपिता ! तुम यदि अपने व्रत भंग नहीं करते हो तो आज (तुम्हारे लिए देव और गुरु सदृश पूजनीय, तुम्हारे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली—अति कठिन धर्म-क्रियाएं करने वाली तुम्हारी माता को घर से ले आऊंगा। लाकर तुम्हारे सामने उसका वध करूंगा, उसके तीन मांस-खण्ड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊगा, उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दुःखों से पीड़ित होकर असमय में ही) प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

१४३. तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरामि।

उस पुरुष द्वारा यों कहे जाने पर भी मैं निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

१४४. तए णं से पुरिसे दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अज्ज जाव[2] ववरोविज्जसि।

उस पुरुष ने दूसरी बार, तीसरी बार मुझे फिर कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! आज तुम प्राणो से हाथ धो बैठोगे।

१४५. तए णं तेणं पुरिसेणं दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४, अहो णं ! इमे पुरिसे अणारिए जाव (अणारिय-बुद्धी, अणारियाइं, पावाइं कम्माइं) समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयसं जाव[3] आयंचइ, तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए, मए वि य खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस पुरुष द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर मेरे मन में ऐसा विचार आया, अरे ! इस अधम, नीचबुद्धि पुरुष ने ऐसे नीचतापूर्ण पापकर्म किए, मेरे ज्येष्ठ पुत्र को, मझले पुत्र को और छोटे पुत्र को घर से ले आया, उनकी हत्या की, उसके मास और रक्त से मेरे शरीर को सींचा। अब तुमको भी (माता को भी) घर से लाकर मेरे सामने मार डालना चाहता है। इसलिए अच्छा यही है, मैं इस पुरुष को पकड लूं। यो विचार कर मैं उसे पकडने के लिये उठा, इतने में वह आकाश में उड गया। उसे पकडने को फैलाये हुए मेरे हाथों मे खम्भा आ गया। मैंने जोर-जोर से शोर किया।

चुलनीपिता द्वारा प्रायश्चित्त

१४६. तए णं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—नो खलु केइ पुरिसे तव जाव (जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, नो खलु केइ पुरिसे तव मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, नो खलु केइ पुरिसे तव) कणीयसं

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९८
२. देखें सूत्र-संख्या १३५
३. देखें सूत्र-संख्या १३६

पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे विदरिसणे दिट्ठे। तं णं तुमं इयाणिं भग्ग-व्वए भग्ग-नियमे भग्ग-पोसहे विहरसि। तं णं तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव (पडिक्कमाहि, निंदाहि, गरिहाहि, विउट्टाहि, विसोहेहि अकरणयाए, अब्भुट्ठाहि अहारिहं पायच्छित्तं तवो-कम्मं) पडिवज्जाहि।

तब भद्रा सार्थवाही श्रमणोपासक चुलनीपिता से बोली - पुत्र! ऐसा कोई पुरुष नही था, जो (तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे आगे उसका वध किया हो, तुम्हारे मंझले पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे आगे उसे मारा हो,) तुम्हारे छोटे पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे आगे उसकी हत्या की हो। यह तो तुम्हारे लिए कोई देव-उपसर्ग था। इसलिए, तुमने यह भयंकर दृश्य देखा। अब तुम्हारा व्रत, नियम और पोषध भग्न हो गया है—खण्डित हो गया है। इसलिए पुत्र! तुम इस स्थान—व्रत-भंग रूप आचरण की आलोचना करो, (प्रतिक्रमण करो—पुन. शुद्ध अन्त-स्थिति मे लौटो, इस प्रवृत्ति की निन्दा करो, गर्हा करो—आन्तरिक खेद अनुभव करो, इसे वित्रोटित करो--विच्छिन्न करो या मिटाओ, इस अकरणता या अकार्य का विशोधन करो —इससे जनित दोष का परिमार्जन करो, यथोचित प्रायश्चित्त के लिए अभ्युत्थित-उद्यत हो जाओ,) तदर्थ तप कर्म स्वीकार करो।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे देव द्वारा श्रमणोपासक चुलनीपिता के तीनो पुत्रो को उसकी आखो के सामने तलवार से काट डाले जाने तथा उबलते पानी की कढाही से खौलाए जाने के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है वह कोई वास्तविक घटना नही थी, देव-उपसर्ग था। इसका स्पष्टीकरण कामदेव के प्रकरण मे किया जा चुका है। विशेषता यह है कि अन्तत चुलनीपिता अपने व्रतो से विचलित हो गया।

व्रती या उपासक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रतिक्षण सावधान रहे, अपने नियमो के यथावत् पालन में जागरूक रहे। ऐसा होते हुए भी कुछ ऐसी मानवीय दुर्बलताए है, उपासक की दृढता कभी-कभी टूट जाती है।

गुरु, पूज्य जन आदि से उद्बोधित होकर अथवा आत्म-प्रेरित होकर उपासक सहसा सावधान होता है, जीवन में वैसा अवाछनीय प्रसग फिर न आए। वह अपने सकल्प को स्मरण करता है। पूर्ववत् दृढता आ जाए, वह (सकल्प-व्रत) आगे फिर न टूटे, इसके लिए शास्त्रों मे प्रायश्चित्त का विधान है। उपासक वहा अपने भीतर पैठ कर अपने स्वरूप, आचार, व्रत, स्थिति का ध्यान करता है। इस सन्दर्भ में आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा आदि शब्दो का विशेष रूप से प्रयोग है जो यहा भी हुआ है। वैसे साधारणतया ये शब्द समानार्थक जैसे है, परन्तु सूक्ष्मता मे जाए तो प्रत्येक शब्द की अपनी विशेषता है। जैन परम्परा मे आत्म-शोधनमूलक इस उपक्रम का अपना विशेष प्रकार है, जिसके पीछे बडा मनोवैज्ञानिक चिन्तन है। आलोचना करने का आशय गुरु के सम्मुख अपनी भूल निवेदित करना है। यह बहुत लाभप्रद है। इससे भीतर का मल धुल जाता है। प्रतिक्रमण शब्द का भी अपना महत्त्व है। उपासक अपने आप को सम्बोधित कर कहता है— आत्मन्! वापस अपने आप में लौटो, बहिर्मुख हो तुम कहा चले गये थे? फिर निन्दा की बात आती है, उपासक आत्मा की साक्षी से भीतर ही भीतर अपनी भूल की निन्दा करता है। विचार

करता है कि कैसा बुरा कार्य उससे बन पड़ा। गुरु को प्रत्यक्ष रूप में या भाव रूप में साक्ष्य बनाकर वह अपनी भूल की प्रकट रूप में निन्दा करता है, जिसे गर्हा कहा जाता है, जो आन्तरिक खेद अनुभव करने का बहुत ही प्रेरणाप्रद रूप है। जिस विचारधारा के कारण भूल बनी, उस विचारधारा को सर्वथा उच्छिन्न कर देने हेतु उपासक सकल्पबद्ध होता है। अन्ततः वह प्रायश्चित्त के रूप में कुछ तपश्चरण स्वीकार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह एक ऐसा सुन्दर क्रम है, जिससे पुनः वैसी भूल यथासम्भव नही होती। जिन दुर्बलताओ के कारण वैसी भूल बनती है, वे दुर्बलताए किसी न किसी रूप में दूर हो जाती हैं।

प्रस्तुत मे चुलनीपिता की माता ने उसे कहा है—'तुम्हारा व्रत, नियम और पोषध भग्न हो गया है।' टीकाकार ने व्रतादि के भंग होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—साधारणतया श्रावक अहिंसाणुव्रत मे निरपराध जीव की हिंसा का त्याग करता है किन्तु पोषध मे निरपराध के साथ सापराध की हिंसा का भी त्याग होता है। चुलनीपिता ने क्रोधपूर्वक उपसर्गकारी के विनाश के लिए दौड़कर भावत स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत का उल्लघन किया। यह उसके व्रतभग का कारण हुआ। पोषध मे क्रोध करने का भी परित्याग किया जाता है, किन्तु क्रोध करने के कारण उत्तरगुणरूप नियम का भग हुआ। अव्यापार के त्याग का उल्लघन करने के कारण पोषध-भंग हुआ। इस प्रकार व्रत, नियम और पोषध भग होने के कारण, पुनः विशुद्धि के लिए आलोचना आदि करना अनिवार्य था।

१४७. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मयाए भद्दाए सत्थवाहीए 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव[1] पडिवज्जइ।

श्रमणोपासक चुलनीपिता ने अपनी माता भद्रा सार्थवाही का कथन 'आप ठीक कहती हैं' यों कहकर विनयपूर्वक सुना। सुनकर उस स्थान—व्रत-भग, नियमभग और पोषधभंग रूप आचरण की आलोचना की, (यावत्) प्रायश्चित्त के रूप में तदनुरूप तप.क्रिया स्वीकार की।

जीवन का उपासनामय अन्त

१४८. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ, पढमं उवासग-पडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो जाव (दोच्चं उवासग-पडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं,) एक्कारसमं वि।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक चुलनीपिता ने आनन्द की तरह क्रमशः पहली, (दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवीं, छठी, सातवी, आठवी, नौवी, दसवी तथा) ग्यारहवी उपासक-प्रतिमा की यथाविधि आराधना की।

१४९. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं उरालेणं जहा कामदेवो जाव (बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासग-परियायं

---

१. देखें सूत्र-संख्या ८७

पउणित्ता, एक्कारस य उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा) सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं तइयं अज्झयणं समत्तं ॥

श्रमणोपासक चुलनीपिता (अणुव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा को भावित कर, बीस वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन कर, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की भली-भांति आराधना कर एक मास की सलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देहत्याग कर—यों उग्र तपश्चरण के फल स्वरूप) सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण मे स्थित अरुणप्रभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी आयु-स्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप[2] ॥

॥ सातवें अंग उपासकदशा का तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू! समणेण जाव संपत्तेणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के तृतीय अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

चौथा अध्ययन

सार : संक्षेप

वाराणसी नगरी में सुरादेव नामक गाथापति था । वह बहुत समृद्धिशाली था । छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राए उसके निधान में थी, छह करोड व्यापार में तथा छह करोड घर के वैभव में । उसकी पत्नी का नाम धन्या था ।

शुभ संयोगवश एक बार भगवान् महावीर वाराणसी में पधारे—समवसरण हुआ । आनन्द की तरह सुरादेव ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया । वह धर्माराधना में उत्तरोत्तर बढ़ता गया ।

एक दिन की घटना है, सुरादेव पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एव पोषध स्वीकार किए उपासनारत था । आधी रात का समय हुआ था, एक देव उसके सामने प्रकट हुआ । उसके हाथ मे तेज तलवार थी । उसने सुरादेव को उपासना से हट जाने के लिए बहुत डराया-धमकाया । न मानने पर उसने उसके तीनो पुत्रो की क्रमशः उसी प्रकार हत्या कर दी, जिस प्रकार चुलनीपिता के कथानक में देव ने उसके पुत्रो को मारा था । हर बार हर पुत्र के शरीर को पाच-पांच मांस-खंडों मे काटा, उबलते पानी की कढाही में खौलाया और वह उबलता मास व रक्त सुरादेव पर छिड़का । पर, सुरादेव की दृढता नही टूटी । वह निर्भीकता के साथ अपनी उपासना में लगा रहा ।

देव ने सोचा, पुत्रो के प्रति रही ममता पर चोट करने से यह विचलित नही हो रहा है, इसलिए मुझे अब इसके शरीर की ही दुर्दशा करनी होगी । मनुष्य को शरीर से अधिक प्रिय कुछ भी नही होता, यह सोचकर देव ने सुरादेव को अत्यन्त कठोर शब्दों में कहा कि तुम्हारे सामने मैंने तुम्हारे पुत्रो को मार डाला, तुमने परवाह नही की । अब देखो, मैं तुम्हारी खुद की कैसी बुरी हालत करता हूं । फिर कहता हू, तुम व्रतो का त्याग कर दो, नही तो मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ दमा, खासी, बुखार, जलन, कुक्षि-शूल, भगदर, बवासीर, अजीर्ण, दृष्टि-रोग, शिरः-शूल, अरुचि, अक्षि-वेदना, कर्ण-वेदना, खुजली, उदर-रोग और कुष्ठ—ये सोलह भयानक बीमारिया पैदा किए देता हू । इन बीमारियो से तुम्हारा शरीर सड जायगा, इनकी बेहद पीडा से तुम जीर्ण हो जाओगे ।

अपनी आखो के सामने बेटो की हत्या देख, जो सुरादेव विचलित नही हुआ था, अपने पर आने वाले रोगों का नाम सुनते ही उसका मन कांप गया । यह सोचते ही कि मेरा शरीर इन भीषण रोगो से असीम वेदना-पीडित होकर जीवित ही मृत जैसा हो जायगा, सहसा उसका धैर्य टूट गया । वैसे रोगाक्रान्त जीवन की विभीषिका ने उसे दहला दिया । उसने सोचा, जो दुष्ट मुझे ऐसा बना देना चाहता है, उसे पकड़ लेना चाहिए । पकड़ने के लिए उसने हाथ फैलाए । वह तो देवमाया का षड्यन्त्र था, कैसे पकड़ में आता ? देव आकाश में लुप्त हो गया । पोषधशाला का जो खंभा सुरादेव के सामने था, उसके हाथों में आ गया । सुरादेव हक्का-बक्का रह गया । वह समझ नही सका, यह क्या हुआ ? वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा ।

सुरादेव की पत्नी धन्या ने जब यह चिल्लाहट सुनी तो वह तुरन्त पोषधशाला में आई और

अपने पति से पूछने लगी—क्या बात है ? आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इस पर सुरादेव ने वह सारी घटना धन्या को बतलाई। धन्या बड़ी बुद्धिमती थी। उसने अपने पति से कहा—आपको धर्म से डिगाने के लिए यह देव-उपसर्ग था। आपके पुत्र सकुशल हैं। आपकी देह में रोग पैदा करने की बात धमकी के सिवाय कुछ नही थी। भयभीत होकर आपने अपना व्रत खण्डित कर दिया, यह दोष हुआ, प्रायश्चित्त लेकर आपको शुद्ध होना चाहिए। सुरादेव ने अपनी पत्नी की बात सहर्ष स्वीकार की। अपनी भूल के लिए आलोचना की, प्रायश्चित्त ग्रहण किया।

सुरादेव का उत्तरवर्ती जीवन चुलनीपिता की तरह धर्मोपासना मे अधिकाधिक गतिशील रहा। उसने व्रतो का भली-भाँति अनुसरण करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओ की सम्यक् आराधना की, एक मास की अन्तिम सलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर समाधि-पूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक मे अरुणकान्त विमान में वह देव-रूप में उत्पन्न हुआ।

चतुर्थ अध्ययन : सुरादेव

श्रमणोपासक सुरादेव

१५०. उक्खेवओ[1] चउत्थस्स अज्झयणस्स। एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई अड्ढे। छ हिरण्ण-कोडीओ जाव (निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ।) छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया।

सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव पडिवज्जए गिहि-धम्मं। जहा कामदेवो जाव[2] समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

उपक्षेप[3]—उपोद्घातपूर्वक चतुर्थ अध्ययन का प्रारम्भ यो है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, वाराणसी नामक नगरी थी। कोष्ठक नामक चैत्य था। वहा के राजा का नाम जितशत्रु था। वहा सुरादेव नामक गाथापति था। वह अत्यन्त समृद्ध था। छह करोड स्वर्ण-मुद्राए स्थायी पू जी के रूप में उसके खजाने में थी, (छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राए व्यापार-व्यवसाय मे लगी थी, छ करोड स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री मे लगी थी)। उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गाये थी। उसकी पत्नी का नाम धन्या था।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। आनन्द की तरह सुरादेव ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। कामदेव की तरह वह भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

देव द्वारा पुत्रो की हत्या

१५१. तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[4] असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी- -हं भो ! सुरादेवा समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ४। जइ णं तुमं सीलाइं जाव[5] न भंजेसि, तो ते

---

१. जइ ण भते ! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाण तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, चउत्थस्स ण भते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२ देखें सूत्र-सख्या ९२

३ आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के तृतीय अध्ययन का यदि यह अर्थ—आशय प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होने चतुर्थ अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें।)

४ देखें सूत्र-सख्या ११६

५ देखें सूत्र-सख्या १०७

जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पंच सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ।

एवं मज्झिमयं, कणीयसं; एक्केक्के पंच सोल्लया । तहेव करेइ जहा चुलणीपियस्स, नवरं एक्केक्के पंच सोल्लया ।

एक दिन की बात है, आधी रात के समय श्रमणोपासक सुरादेव के समक्ष एक देव प्रकट हुआ । उसने नीली, तेज धार वाली तलवार निकालकर श्रमणोपासक सुरादेव से कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक सुरादेव ! यदि तुम आज शील, व्रत आदि का भंग नही करते हो तो मैं तुम्हारे बड़े बेटे को घर से उठा लाऊंगा । लाकर तुम्हारे सामने उसे मार डालूंगा । मारकर उसके पाच मास-खण्ड करुंगा, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाऊगा, उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा, जिससे तुम असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे ।

इसी प्रकार उसने मझले और छोटे लडके को भी मार डालने, उनको पाच-पाच मास-खडों में काट डालने की धमकी दी । सुरादेव के अविचल रहने पर जैसा चुलनीपिता के साथ देव ने किया था, वैसा ही उसने किया, उसके पुत्रों को मार डाला । इतना भेद रहा, वहाँ देव ने तीन-तीन मास खड किये थे, यहाँ देव ने पाच-पाच मास-खड किए ।

भीषण व्याधियों की धमकी

१५२. तए णं देवे सुरादेवं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो ! सुरादेवा समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ४ ! जाव[1] न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस-रोगायंके पक्खिवामि, तं जहा—सासे, कासे जाव (जरे, दाहे, कुच्छिसूले, भगंदरे, अरिसए, अजीरए, दिट्ठिसूले, मुद्धसूले, अकारिए, अच्छिवेयणा, कण्णवेयणा, कंडुए, उदरे) कोढे, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव (-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि ।

तब उस देव ने श्रमणोपासक सुरादेव को चौथी बार भी ऐसा कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक सुरादेव ! यदि अपने व्रतो का त्याग नही करोगे तो आज मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ श्वास—दमा, कास—खासी, (ज्वर—बुखार, दाह-देह में जलन, कुक्षि-शूल—पेट में तीव्र पीडा, भगदर—गुदा पर फोड़ा, अर्श—बवासीर, अजीर्ण—बदहजमी, दृष्टिशूल-नेत्र में शूल चुभने जैसी तेज पीडा, मूर्द्ध-शूल—मस्तक-पीड़ा, अकारक—भोजन मे अरुचि या भूख न लगना, अक्षि-वेदना—आख दुखना, कर्ण-वेदना—कान दुखना, कण्डू—खुजली, उदर-रोग—जलोदर आदि पेट की बीमारी तथा) कुष्ठ—कोढ़, ये सोलह भयानक रोग उत्पन्न कर दूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान तथा विकट दु.ख से पीडित होकर असमय मे ही जीवन से हाथ धो बैठोगे ।

१५३. तए णं से सुरादेवे समणोवासए जाव (तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए, अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए) विहरइ । एवं देवो दोच्चंपि

---

१. देखें सूत्र-सख्या १०७

तच्चं पि भणइ जाव (जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस रोगायंके पक्खिवामि जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

श्रमणोपासक सुरादेव (उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी जब भयभीत, त्रस्त, उद्विग्न, क्षुभित, चलित तथा आकुल नहीं हुआ, चुपचाप—शान्त-भाव से) धर्म-ध्यान में लगा रहा तो उस देव ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा—(यदि तुम आज शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास का त्याग नहीं करते हो—भंग नहीं करते हो तो मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ सोलह भयानक रोग पैदा कर दूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान और विकट दुःख से पीड़ित होकर) असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।

सुरादेव का क्षोभ

१५४. तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जाव[1] समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं जाव (साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जे णं ममं मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच-मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता मम गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जे णं ममं कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता मम गायं मंसेण य सोणिएण य) आयंचइ, जे वि य इमे सोलस रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए। तेण य खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस देव द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर श्रमणोपासक सुरादेव के मन में ऐसा विचार आया, यह अधम पुरुष (जो मेरे बड़े लडके को घर से उठा लाया, मेरे आगे उसकी हत्या की, उसके पाच मास-खड किए, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाया, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा, जो मेरे मंझले लडके को घर से उठा लाया, मेरे आगे उसको मारा, उसके पाच मास-खंड किए, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाया, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा— छींटा, जो मेरे छोटे लड़के को घर से उठा लाया, मेरे सामने उसका वध किया, उसके पाच मांस-खंड किए, उसके मास और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा,) मेरे शरीर में सोलह भयानक रोग उत्पन्न कर देना चाहता है। अतः मेरे लिए यही श्रेयस्कर है, मैं इस पुरुष को पकड़ लू। यों सोचकर वह पकडने के लिए उठा। इतने में वह देव आकाश में उड गया। सुरादेव के पकड़ने को फैलाए हाथों में खम्भा आ गया। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

१५५. तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा, निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए,

---

१. देखें सूत्र-संख्या १४५।

तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एवं वयासी—किण्णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं महया महया सद्देणं कोलाहले कए?

सुरादेव की पत्नी धन्या ने जब यह कोलाहल सुना तो जहाँ सुरादेव था, वह वहाँ आई। आकर पति से बोली—देवानुप्रिय! आप जोर-जोर से क्यों चिल्लाए?

जीवन का उपसंहार

१५६. तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए! के वि पुरिसे, तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया। धन्ना वि पडिभणइ, जाव[1] कणीयसं। नो खलु देवाणुप्पिया! तुब्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमग-समगं सोलस रोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ। सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ।

एवं सेसं जहा चुलणीपियस्स निरवसेसं जाव[2] सोहम्मे कप्पे अरुणकंते विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[3]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥

श्रमणोपासक सुरादेव ने अपनी पत्नी धन्या से सारी घटना उसी प्रकार कही, जैसे चुलनीपिता ने कही थी। धन्या बोली—देवानुप्रिय! किसी ने तुम्हारे बडे, मझले और छोटे लडके को नही मारा। न कोई पुरुष तुम्हारे शरीर में एक ही साथ सोलह भयानक रोग ही उत्पन्न कर रहा है। यह तो तुम्हारे लिए किसी ने उपसर्ग किया है। उसने और सब वैसा ही कहा, जैसा चुलनीपिता को कहा गया था।

आगे की सारी घटना चुलनीपिता की ही तरह है। अन्त मे सुरादेव देह-त्याग कर सौधर्म-कल्प मे अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुआ। उसकी आयु-स्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। महाविदेह-क्षेत्र मे वह सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप[4] ॥

॥ सातवे अग उपासकदशा का चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. देखें सूत्र-सख्या १५४।

२. देखें सूत्र-सख्या १४९।

३ एव खलु जम्बू! समणेण जाव सपत्तेण चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

४ निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के चौथे अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

पांचवां अध्ययन

सार : संक्षेप

उत्तर भारत मे ग्रालभिका नामक नगरी थी। शंखवन नामक वहाँ उद्यान था। जितशत्रु वहाँ का राजा था। उस नगरी में चुल्लशतक नामक एक समृद्धिशाली गाथापति निवास करता था। उसकी छह करोड स्वर्ण-मुद्राए खजाने मे सुरक्षित थी, उतनी ही व्यापार मे लगी थी ग्रौर उतनी ही घर के वैभव तथा उपकरणो में उपयोग मे ग्रा रही थी। दस-दस हजार गायो के छह गोकुल उसके यहा थे।

श्रमण भगवान् महावीर ग्रपने जनपद-विहार के बीच एक बार ग्रालभिका पधारे। ग्रन्य लोगो की तरह चुल्लशतक भी उनके दर्शन हेतु पहुंचा। उनकी धर्म-देशना से प्रभावित हुग्रा ग्रौर उसने गृहस्थ-धर्म या श्रावक-व्रत स्वीकार किए।

गृहस्थ मे रहते हुए भी चुल्लशतक व्रतों की ग्राराधना, धर्म की उपासना में पूरी रुचि लेता था। लोक ग्रौर ग्रध्यात्म का सुन्दर समन्वय उसके जीवन में था। व्रत, साधना, ग्रभ्यास ग्रादि वह यथाविधि, यथासमय करता रहता था। एक दिन वह पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एव पोषध-व्रत स्वीकार किए धर्मोपासना में तन्मय था। ग्राधी रात का समय था, ग्रचानक एक देव उसके सामने प्रकट हुग्रा। वह चुल्लशतक को साधना से विचलित करना चाहता था। चुलनीपिता के साथ जैसा घटित हुग्रा था, यहाँ भी इस देव के हाथों चुल्लशतक के साथ घटित हुग्रा। देव ने उसके तीनो पुत्रो को उसके देखते-देखते मार डाला, उनके सात-सात टुकडे कर डाले। उनका रक्त ग्रौर मास उस पर छिडका। पर, ममता ग्रौर क्रोध दोनो से ही चुल्लशतक काफी ऊचा उठा हुग्रा था। इसलिए वह ग्रपने व्रत से नही डिगा। धर्म-ध्यान में तन्मय रहा।

देव ने तब यह सोचकर कि ससार मे हर किसी की धन के प्रति ग्रत्यन्त ग्रासक्ति ग्रौर ममता होती है, मनुष्य ग्रौर सब सह जाता है, पर धन की चोट उसके लिए भारी पडती है, इसलिए मुझे ग्रब इसके साथ ऐसा ही करना चाहिए। देव क्रुद्ध ग्रौर कर्कश स्वर में चुल्लशतक से बोला—मान जाग्रो, ग्रपने व्रतों को तोड दो, देख लो—यदि नही तोड़ोगे, तो मैं खजाने मे रखी तुम्हारी छह करोड स्वर्ण-मुद्राग्रो को घर से निकाल लाऊगा ग्रौर उन्हें ग्रालभिका नगरी की सड़कों ग्रौर चौराहो पर चारो तरफ बिखेर दूंगा। तुम ग्रकिंचन ग्रौर दरिद्र बन जाग्रोगे। इतने व्याकुल ग्रौर दुःखी हो जाग्रोगे कि जीवित नही रह सकोगे। चुल्लशतक ऐसा कहने पर भी धर्मसाधना में स्थिर रहा।

देव ने कडकती ग्रावाज में दूसरी बार ऐसा कहा, तीसरी बार ऐसा कहा। चुल्लशतक, जो ग्रब तक उपासना में स्थिर था, सहसा चौंक पड़ा। उसके सारे शरीर में बिजली-सी कौंध गई ग्रौर ग्राशकित दरिद्रता का भयानक दृश्य उसकी ग्रांखों के सामने नाचने लगा। वह घबरा गया। उसके मन में बार-बार ग्राने लगा—इस जगत् में ऐसा कुछ नही है, जो धन से न सध सके। जिसके पास

धन होता है, उसी के मित्र होते हैं, उसी के बन्धु-बान्धव होते हैं, वही मनुष्य माना जाता है, उसी को सब बुद्धिमान् कहते हैं।[1]

धन की गर्मी एक विचित्र गर्मी है, जो मानव को ओजस्वी, तेजस्वी, साहसी—सब कुछ बनाए रखती है, उसके निकल जाते ही; वही इन्द्रिया, वही नाम, वही बुद्धि, वही वाणी—इन सबके रहते मनुष्य और ही कुछ हो जाता है।[2]

घबराहट में चुल्लशतक को यह भान नही रहा कि वह व्रत में है। इसलिए अपना धन नष्ट कर देने पर उतारू उस पुरुष पर इसको बड़ा क्रोध आया और वह हाथ फैलाकर उसे पकड़ने के लिए झपटा। पोषधशाला में खड़े खंभे के सिवाय उसके हाथ कुछ नही आया। देव अन्तर्धान हो गया। चुल्लशतक किंकर्त्तव्यविमूढ-सा बन गया। वह समझ नही सका, यह क्या घटित हुआ। व्याकुलता के कारण वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। चिल्लाहट सुनकर उसकी पत्नी बहुला वहाँ आई और जब उसने अपने पति से सारी बात सुनी तो बोली—यह आपकी परीक्षा थी। देवकृत उपसर्ग था। आप खूब दृढ रहे। पर, अन्त में फिसल गए। आपका व्रत भग्न हो गया। आलोचना, प्रतिक्रमण कर, प्रायश्चित्त स्वीकार कर आत्मशोधन करे। चुल्लशतक ने वैसा ही किया और भविष्य में धर्मोपासना में सदा सुदृढ बने रहने की प्रेरणा प्राप्त की।

चुल्लशतक का उत्तरवर्ती जीवन चुलनीपिता की तरह व्रताराधना मे उत्तरोत्तर उन्नतिशील रहा। उसने अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि की सम्यक् उपासना करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया। ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं की भली-भाति आराधना की। एक मास की अन्तिम सलेखना अनशन और समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक मे अरुणसिद्ध विमान मे वह देव-रूप में उत्पन्न हुआ।

---

१ न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्धयति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत्॥
यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवा।
यस्याऽर्था स पुमाँल्लोके, यस्याऽर्था स च पण्डित॥
पंचतन्त्र १.२, ३

२ तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचन तदेव।
अर्थोष्मणा विरहित पुरुष. स एव,
अन्य क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥
हितोपदेश १.१२७

पांचवां अध्ययन : चुल्लशतक

श्रमणोपासक चुल्लशतक

१५७. उक्खेवो पंचमस्स अज्झयणस्स। एवं खलु, जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी। संखवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। चुल्लसए गाहावई अड्ढे जाव[1], छ हिरण्ण-कोडीओ जाव (निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ,) छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। बहुला भारिया।

सामी समोसढे। जहा आणंदो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। सेसं जहा कामदेवो जाव[2] धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

उत्क्षेप[3]—उपोद्घातपूर्वक पाचवे अध्ययन का आरम्भ यो है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, आलभिका नामक नगरी थी। वहाँ शंखवन उद्यान था। वहाँ के राजा का नाम जितशत्रु था। उस नगरी में चुल्लशतक नामक गाथापति निवास करता था। वह बड़ा समृद्ध एव प्रभावशाली था। (छह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ उसके खजाने में रखी थी, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ व्यापार में लगी थी तथा छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव एवं साज-सामान में लगी थी।) उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गाये थी। उसकी पत्नी का नाम बहुला था।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। आनन्द की तरह चुल्लशतक ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। आगे का घटना-क्रम कामदेव की तरह है। वह उसी की तरह भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

देव द्वारा विघ्न

१५८. तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतियं जाव[4] असिं गहाय एवं वयासी—हं भो! चुल्लसयगा समणोवासया। जाव [5] न भंजेसि तोते अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि। एवं जहा चुलणीपियं, नवरं एक्केक्के सत्त मंससोल्लया

---

१ जइ ण भते! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, पचमस्स णं भते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?

२. देखें सूत्र-सख्या ३

३. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के चतुर्थ अध्ययन का यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन्! उन्होंने पचम अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया? (कृपया कहे।)

४. देखें सूत्र-संख्या ११६

५ देखें सूत्र-सख्या १०७

जाव[1] कणीयसं जाव[2] आयंचामि ।

एक दिन की बात है, आधी रात के समय चुल्लशतक के समक्ष एक देव प्रकट हुआ । उसने तलवार निकाल कर कहा—अरे श्रमणोपासक चुल्लशतक ! यदि तुम अपने व्रतों का त्याग नहीं करोगे तो मैं आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से उठा लाऊगा ।

चुलनीपिता के साथ जैसा हुआ था, वैसा ही घटित हुआ । देव ने बड़े, मझले तथा छोटे—तीनों पुत्रो को क्रमशः मारा, मांस-खण्ड किए । मांस और रक्त से चुल्लशतक की देह को छींटा ।

इतना ही भेद रहा, वहाँ देव ने पाच-पाच मास-खंड किए थे, यहाँ देव ने सात-सात मास-खड किए ।

१५९. तए णं से चुल्लसयए समणोवासए जाव[3] विहरइ ।

श्रमणोपासक चुल्लशतक निर्भय भाव से उपासनारत रहा ।

सम्पत्ति-विनाश की धमकी

१६०. तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो ! चुल्लसयगा ! समणोवासया ! जाव न भंजेसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडय जाव (तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-) पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ।

देव ने श्रमणोपासक चुल्लशतक को चौथी बार कहा—अरे श्रमणोपासक चुल्लशतक ! तुम अब भी अपने व्रतो को भंग नही करोगे तो मैं खजाने में रखी तुम्हारी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओ, व्यापार में लगी तुम्हारी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओ तथा घर के वैभव और साज-सामान मे लगी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओ को ले आऊगा । लाकर आलभिका नगरी के शृ गाटक-तिकोने स्थानो, त्रिक—तिराहो, चतुष्क—चौराहो, चत्वर—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हो—ऐसे स्थानो, चतुर्मु ज—जहाँ से चार रास्ते निकलते हो, ऐसे स्थानों तथा महापथ—बडे रास्तो या राजमार्गों में सब तरफ—चारों ओर बिखेर दू गा । जिससे तुम आर्तध्यान एव विकट दु ख से पीडित होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे ।

१६१. तए णं से चुल्लसयए समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[4] विहरइ ।

---

१ देखें सूत्र-सख्या १५४
२. देखें सूत्र-सख्या १५४
३. देखें सूत्र-सख्या ९८
४ देखें सूत्र-सख्या १५३

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुल्लशतक निर्भीकतापूर्वक अपनी उपासना में लगा रहा।

१६२. तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता दोच्चं पि तच्चं पि तहेव भणइ, जाव ववरोविज्जसि।

जब उस देव ने श्रमणोपासक चुल्लशतक को यों निर्भीक देखा तो उससे दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा और धमकाया—अरे ! प्राण खो बैठोगे !

विचलन : प्रायश्चित्त

१६३. तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ जाव[2] कणीयसं जाव[3] आयंचइ, जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव[4] विप्पइरित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो। तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ।

उस देव ने जब दूसरी बार, तीसरी बार श्रमणोपासक चुल्लशतक को ऐसा कहा, तो उसके मन मे चुलनीपिता की तरह विचार आया, इस अधम पुरुष ने मेरे बड़े, मझले और छोटे—तीनो पुत्रो को बारी-बारी से मार कर, उनके मास और रक्त से सींचा। अब यह मेरी खजाने में रखी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओ, व्यापार मे लगी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर के वैभव एव साज-सामान मे लगी छह करोड स्वर्ण-मुद्राओ को निकाल लाना चाहता है और उन्हें आलभिका नगरी के तिकोने आदि स्थानो मे बिखेर देना चाहता है। इसलिए, मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस पुरुष को पकड लूं। यो सोचकर वह उसे पकडने के लिए सुरादेव की तरह दौड़ा।

आगे वैसा ही घटित हुआ, जैसा सुरादेव के साथ घटित हुआ था। सुरादेव की पत्नी की तरह उसकी पत्नी ने भी उससे सब पूछा। उसने सारी बात बतलाई।

दिव्य-गति

१६४. सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव[5] सोहम्मे कप्पे अरुणसिद्धे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। सेसं तहेव जाव (से णं भंते ! चुल्लसयए ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ? गोयमा !) महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९७
२. देखें सूत्र-सख्या १५४
३. देखें सूत्र-सख्या १५४
४. देखें सूत्र-सख्या १६०
५. देखें सूत्र-संख्या १४९

निक्खेवो[1]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पंचमं अज्झयणं समत्तं ।।

आगे की घटना चुलनीपिता की तरह है। देह-त्याग कर चुल्लशतक सौधर्म देवलोक में अरुण-सिद्ध विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहा उसकी आयुस्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। आगे की घटना भी वैसी ही है। (भगवन् ! चुल्लशतक उस देवलोक से आयु, भव एव स्थिति का क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहां जायगा ? कहां उत्पन्न होगा ? गौतम !) वह महाविदेहक्षेत्र में सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

।। निक्षेप[2] ।।

।। सातवें अग उपासकदशा का पाचवा अध्ययन समाप्त ।।

---

१. एवं खलु जम्बू ! समणेण जाव सपत्तेण पचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के पांचवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

छठा अध्ययन

सार : संक्षेप

काम्पिल्यपुर में कु ंडकौलिक नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम पूषा था। काम्पिल्यपुर भारत का एक प्राचीन नगर था। भगवान् महावीर के समय में वह बहुत समृद्ध एवं प्रसिद्ध था। उत्तरप्रदेश मे बूढी गंगा के किनारे बदायू ं और फर्रुखाबाद के बीच कम्पिल नामक आज भी एक गाव है, जो इतिहासकारो के अनुसार काम्पिल्यपुर का वर्तमान रूप है। काम्पिल्यपुर आगम-वाङ्मय में अनेक स्थानों पर सकेतित, भगवान् महावीर के समसामयिक राजा जितशत्रु के राज्य में था। वहाँ सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। सभवत: आम के हजार पेड़ होने के कारण उद्यानों के ऐसे नाम रखे जाते रहे हो।

गाथापति कु ंडकौलिक एक समृद्ध एव सुखी गृहस्थ था। उसकी अठारह करोड स्वर्ण-मुद्राओं में छह करोड मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थी, छह करोड़ व्यापार में एव छह करोड़ घर के वैभव तथा साज-सामान में लगी थी। दस-दस हजार गायो के छह गोकुल उसके पास थे।

ऐसा प्रसग बना, एक समय भगवान् महावीर काम्पिल्यपुर पधारे। अन्यान्य लोगो की तरह गाथापति कु डकौलिक भी भगवान् के सान्निध्य में पहुंचा, धर्मदेशना सुनी, प्रभावित हुआ, श्रावक-धर्म स्वीकार किया। जहा जीवन मे, अब से पूर्व लौकिक भाव था, उसमें अध्यात्म का समावेश हुआ। कु डकौलिक स्वीकृत व्रतो का भली-भाति पालन करता हुआ एक उत्तम धार्मिक गृहस्थ का जीवन जीने लगा।

एक दिन की बात है, वह दोपहर के समय धर्मोपासना की भावना से अशोकवाटिका में गया। वहा अपनी अगूठी और उत्तरीय उतार कर पृथ्वीशिलापट्टक पर रखे, स्वय धर्म-ध्यान में सलग्न हो गया। उसको श्रद्धा को विचलित करने के लिए एक देव वहा प्रकट हुआ। उसका ध्यान बँटाने के लिए देव ने वह अगूठी और दुपट्टा उठा लिया और आकाश में स्थित हो गया। देव ने कु ंडकौलिक से कहा—देखो, मंखलिपुत्र गोशालक के धर्म-सिद्धान्त बहुत सुन्दर हैं। वहा प्रयत्न, पुरुषार्थ, कर्म—इनका कोई महत्त्व नही है। जो कुछ होने वाला है, सब निश्चित है। भगवान् महावीर के धार्मिक सिद्धान्त उत्तम नही हैं। वहां तो उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ—सबका स्वीकार है, और जो कुछ होता है, वह सब उनके अनुसार नियत नहीं है। अब दोनो का अन्तर तुम स्वयं देख लो। गोशालक के सिद्धान्त के अनुसार पुरुषार्थ, प्रयत्न आदि जो कुछ किया जाता है, सब निरर्थक है, करने की कोई आवश्यकता नही। क्योंकि अन्त में होगा वही, जो होने वाला है।

यह सुनकर कु ंडकौलिक बोला—देव ! जरा एक बात बतलाओ। तुमने यह जो दिव्य ऋद्धि, द्युति, कान्ति, वैभव, प्रभाव प्राप्त किया है, वह सब क्या पुरुषार्थ एव प्रयत्न से प्राप्त किया अथवा अपुरुषार्थ व अप्रयत्न से ? क्या प्रयत्न एवं पुरुषार्थ किए बिना ही यह सब पाया है ?

देव बोला—कु डकौलिक ! यह मैंने बिना पुरुषार्थ और बिना प्रयत्न ही पाया है।

इस पर कु ंडकौलिक ने कहा—देव ! यदि ऐसा हुआ है तो बतलाओ, जो अन्य प्राणी पुरुषार्थ एवं प्रयत्न नहीं करते रहे हैं, वे तुम्हारी तरह देव क्यों नहीं हुए ? यदि तुम कहो कि यह

दिव्य ऋद्धि एवं वैभव तुम्हें पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से मिला है, तो फिर तुम गोशालक के सिद्धान्त को, जिसमें पुरुषार्थ व प्रयत्न का स्वीकार नहीं है, सुन्दर कैसे कह सकते हो ? और भगवान् महावीर के सिद्धान्त को, जिसमें पुरुषार्थ व प्रयत्न का स्वीकार है, असुन्दर कैसे बतला सकते हो ? तुम्हारा कथन मिथ्या है।

कुंडकौलिक का युक्तियुक्त एव तर्कपूर्ण कथन सुनकर देव से कुछ उत्तर देते नहीं बना। वह सहम गया। उसने वह अंगूठी एव दुपट्टा चुपचाप पृथ्वीशिलापट्टक पर रख कर और अपना-सा मुंह लिए वापस लौट गया।

शुभ संयोगवश भगवान् महावीर अपने जनपद-विहार के बीच पुनः काम्पिल्यपुर पधारे। ज्योंही कुंडकौलिक को ज्ञात हुआ, वह भगवान् को वंदन करने गया। उनका सान्निध्य प्राप्त किया, धर्म-देशना सुनी।

भगवान् महावीर तो सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी थे। जो कुछ घटित हुआ था, उन्हे सब ज्ञात था। उन्होंने कुंडकौलिक को सम्बोधित कर अशोकवाटिका में घटित सारी घटना बतलाई और उससे पूछा—क्यों ? क्या यह सब घटित हुआ ? कुंडकौलिक ने अत्यन्त विनय और आदरपूर्वक कहा—प्रभो ! आप सब कुछ जानते हैं। जैसा आपने कहा—अक्षरश वैसा ही हुआ।

कुंडकौलिक की धार्मिक आस्था और तत्त्वज्ञता पर भगवान् प्रसन्न थे। उन्होने उसे वर्धापित करते हुए कहा—कुंडकौलिक ! तुम धन्य हो, तुमने बहुत अच्छा किया।

वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों को प्रेरणा देने हेतु भगवान् ने उनसे कहा—गृहस्थ मे रहते हुए भी कुंडकौलिक कितना सुयोग्य तत्त्ववेत्ता है ! इसने अन्य मतानुयायी को युक्ति और न्याय से निरुत्तर किया।

भगवान् ने यह आशा व्यक्त की कि बारह अगों का अध्ययन करने वाले साधु-साध्वी तो ऐसा करने में सक्षम हैं ही। उनमें तो ऐसी योग्यता होनी ही चाहिए।

कुंडकौलिक की घटना को इतना महत्त्व देने का भगवान् का यह अभिप्राय था, प्रत्येक धर्मोपासक अपने धर्म-सिद्धान्तों पर दृढ तो रहे ही, साथ ही साथ उसे अपने सिद्धान्तो का ज्ञान भी हो तथा उन्हें औरों के समक्ष उपस्थित करने की योग्यता भी, ताकि उनके साथ धार्मिक चर्चा करने वाले अन्य मतानुयायी व्यक्ति उन्हे प्रभावित न कर सकें। प्रत्युत उनके युक्तियुक्त एव तर्कपूर्ण विश्लेषण पर वे निरुत्तर हो जाएं। वास्तव मे भगवान् महावीर द्वारा सभी धर्मोपासको को तत्त्वज्ञान में गतिमान रहने की यह प्रेरणा थी।

कुंडकौलिक भगवान् को वंदन, नमन कर वापस अपने स्थान पर लौट आया। भगवान् महावीर अन्य जनपदो में विहार कर गए। कुंडकौलिक उत्तरोत्तर साधना-पथ पर अग्रसर होता रहा। यों चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वर्ष उसने अपने बड़े पुत्र को गृहस्थ एव परिवार का उत्तरदायित्व सौंप कर अपने आपको सर्वथा साधना में लगा दिया। उसके परिणाम उत्तरोत्तर पवित्र होते गए। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ की उपासना की। अन्ततः एक मास की संलेखना और एक मास के अनशन द्वारा समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ है।

छठा अध्ययन : कुंडकौलिक

श्रमणोपासक कुंडकौलिक

१६५. छट्ठस्स उक्खेवओ[1] । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे सहस्संबवणे उज्जाणे । जियसत्तू राया । कुंडकोलिए गाहावई । पूसा भारिया । छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं ।

सामी समोसढे । जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ । सा चेव वत्तव्वया जाव[2] पडिलाभेमाणे विहरइ ।

उपक्षेप[3]—उपोद्घातपूर्वक छठे अध्ययन का प्रारम्भ यों है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, काम्पिल्यपुर नामक नगर था। वहाँ सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। जितशत्रु वहां का राजा था। उस नगर में कुंडकौलिक नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम पूषा था। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ सुरक्षित धन के रूप में उसके खजाने मे थी, छह करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल मे दस-दस हजार गाये थी।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। कामदेव की तरह कुंडकौलिक ने भी श्रावक धर्म स्वीकार किया।

श्रमण निर्ग्रन्थो को शुद्ध आहार-पानी आदि देते हुए धर्माराधना में निरत रहने तक का घटनाक्रम पूर्ववर्ती वर्णन जैसा ही है। यों कुण्डकौलिक धर्म की उपासना में निरत था।

विवेचन

काम्पिल्यपुर भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। महाभारत आदिपर्व (१३७·७३), उद्योग-पर्व (१८९·१३, १९२·१४), शान्तिपर्व (१३९·५) में काम्पिल्य का उल्लेख आया है। आदिपर्व और उद्योगपर्व के अनुसार यह उस समय के दक्षिण पांचाल प्रदेश का एक नगर था। यह राजा द्रुपद की राजधानी था। द्रौपदी का स्वयंवर यहीं हुआ था।

नायाधम्मकहाओ (१६वें अध्ययन) में भी पांचाल देश के राजा द्रुपद के यहा काम्पिल्यपुर

---

१. जइ ण भंते ! समणेण भगवया जाव संपत्तेण उवासगदसाणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स ण भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. देखें सूत्र—संख्या ६४

३. आर्य सुधर्मा ने जम्बू से पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के पांचवें अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने छठे अध्ययन का क्या अर्थ—भाव बतलाया ? (कृपया कहें।)

में द्रौपदी के जन्म आदि का वर्णन है ।

इस समय यह बदायूं और फर्रुखाबाद के बीच बूढी गंगा के किनारे कम्पिल नामक ग्राम के रूप में अवस्थित है । कभी यह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा था । आगमों में प्राप्त संकेतों से प्रकट होता है, भगवान् महावीर के समय में यह बहुत ही समृद्ध नगर था ।

अशोकवाटिका में ध्यान-निरत

१६६. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि-सिला-पट्टए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

एक दिन श्रमणोपासक कुंडकौलिक दोपहर के समय अशोकवाटिका में गया । उसमें जहाँ पृथ्वी-शिलापट्टक था, वहाँ पहुंचा । अपने नाम से अंकित अंगूठी और दुपट्टा उतारा । उन्हें पृथ्वी-शिलापट्टक पर रखा । रखकर, श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति— धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ ।

देव द्वारा नियतिवाद का प्रतिपादन

१६७. तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक के समक्ष एक देव प्रकट हुआ ।

१६८. तए णं से देवे नाम-मुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गेण्हित्ता सखिंखिणिं अंतलिक्ख-पडिवन्ने कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! कुंडकोलिया ! समणोवासया ! सुन्दरी णं देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा, नियया सव्व-भावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव (कम्मे इ वा, बले इ वा, पुरिसक्कार-) परक्कमे इ वा, अणियया सव्व-भावा ।

उस देव ने कुंडकौलिक की नामांकित मुद्रिका और दुपट्टा पृथ्वीशिलापट्टक से उठा लिया । वस्त्रों में लगी छोटी-छोटी घंटियों की झनझनाहट के साथ वह आकाश में अवस्थित हुआ, श्रमणोपासक कुंडकौलिक से बोला—कुंडकौलिक ! देवानुप्रिय ! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा सुन्दर है । उसके अनुसार उत्थान—साध्य के अनुरूप ऊर्ध्वगामी प्रयत्न, कर्म, बल—दैहिक शक्ति, वीर्य—आन्तरिक शक्ति, पुरुषकार—पौरुष का अभिमान, पराक्रम—पौरुष के अभिमान के अनुरूप उत्साह एवं ओजपूर्ण उपक्रम—इनका कोई स्थान नहीं है । सभी भाव—होनेवाले कार्य नियत—निश्चित हैं । उत्थान, (कर्म, बल, वीर्य, पौरुष,) पराक्रम इन सबका अपना अस्तित्व है, सभी भाव नियत नहीं हैं—भगवान् महावीर की यह धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-प्ररूपणा असुन्दर या अशोभन है ।

विवेचन

मंखलिपुत्र गोशालक का भगवतीसूत्र के १५वें शतक में विस्तार से वर्णन है। आगमोत्तर साहित्य में भी आवश्यक-नियुक्ति आदि में उससे सम्बद्ध घटनाओं का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, संयुत्तनिकाय आदि ग्रन्थों में उसका वर्णन है। दीघनिकाय पर बुद्धघोष द्वारा रचित सुमंगलविलासिनी टीका के 'सामञ्ञफलसुत्तवण्णन' में गोशालक के सिद्धान्तों की विशद चर्चा है। गोशालक भगवान् महावीर के समसामयिक अवैदिक परम्परा के छह प्रमुख आचार्यों में था।

भगवतीसूत्र में उल्लेख है, मंख (डाकोत) जातीय मंखलि नामक एक व्यक्ति था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। मखलि भिक्षोपजीवी था। वह इस निमित्त एक चित्रपट हाथ में लिए रहता था। अपनी गर्भवती पत्नी भद्रा के साथ भिक्षार्थ घूमता हुआ वह एक बार सरवण नामक गांव में पहुँचा। वहाँ और स्थान न मिलने से वह चातुर्मास व्यतीत् करने के लिए गोबहुलनामक ब्राह्मण की गोशाला में टिका। गर्भकाल पूरा होने पर भद्रा ने एक सुन्दर एव सुकुमार शिशु को जन्म दिया। गोबहुल की गोशाला में जन्म लेने के कारण शिशु का नाम गोशाल या गोशालक रखा गया।

गोशालक क्रमशः बडा हुआ, पढ-लिखकर योग्य हुआ। वह भी स्वतन्त्र रूप से चित्रपट हाथ में लिए भिक्षा द्वारा अपनी आजीविका चलाने लगा।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा के बुनकरों की तन्तुवायशाला के एक भाग मे अपना चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। संयोगवश गोशालक भी वहाँ पहुँचा। अन्य स्थान न मिलने पर उसने उसी तन्तुवायशाला मे चातुर्मास किया। वहाँ रहते वह भगवान् के अनुपम अतिशय-शाली व्यक्तित्व तथा समय-समय पर घटित दिव्य घटनाओ से विशेष प्रभावित हुआ। उसने भगवान् के पास दीक्षित होना चाहा। भगवान् ने उसे दीक्षा देना स्वीकार नही किया। जब उसने आगे भी निरन्तर अपना प्रयास चालू रखा और पीछे ही पड गया, तब भगवान् ने उसे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया। वह छह वर्ष तक भगवान् के साथ रहा। उनसे विपुल तेजोलेश्या प्राप्त की, फिर वह भगवान् से पृथक् हो गया। स्वय अपने को अर्हत्, तीर्थंकर, जिन और केवली कहने लगा।

आगे चलकर एक ऐसा प्रसंग बना, द्वेष एव जलनवश उसने भगवान् पर तेजोलेश्या का प्रक्षेप किया। सर्वथा सम्पूर्ण रूप मे अहिंसक होने के कारण भगवान् समभाव से उसे सह गए। तेजोलेश्या भगवान् महावीर को पराभूत नही कर सकी। वापस लौटी, गोशालक की देह में प्रविष्ट हो गई। गोशालक पित्तज्वर और घोर दाह से युक्त हो सात दिन बाद मर गया।

भगवती मे आए वर्णन का यह अतिसक्षिप्त साराश है।

प्रस्तुत प्रसग मे आई कुंडकौलिक की घटना तब की है, जब गोशालक भगवान् महावीर से पृथक् था तथा अपने को अर्हत्, जिन, केवली कहता हुआ जनपद विहार करता था।

कुंडकौलिक का प्रश्न

१६९. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव (कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा), नियया सव्व-भावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

धम्मपण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[1] अणियया सव्व-भावा। तुमे णं देवा! इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देव-ज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमन्नागए ? किं उट्ठाणेणं जाव (कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं) पुरिसक्कारपरक्कमेणं ? उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव (अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं) अपुरिसक्कारपरक्कमेणं ?

तब श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने देव से कहा—उत्थान, (कर्म, बल, वीर्य, पौरुष एव पराक्रम) का कोई अस्तित्व नही है, सभी भाव नियत हैं—गोशालक की यह धर्म-शिक्षा यदि उत्तम है और उत्थान आदि का अपना महत्त्व है, सभी भाव नियत नही हैं—भगवान् महावीर की यह धर्म-प्ररूपणा अनुत्तम है—अच्छी नहीं है, तो देव! तुम्हे जो ऐसी दिव्य ऋद्धि, द्युति तथा प्रभाव उपलब्ध, संप्राप्त और स्वायत्त है, वह सब क्या उत्थान, (कर्म, बल, वीर्य), पौरुष और पराक्रम से प्राप्त हुआ है, अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपौरुष या अपराक्रम से ? अर्थात् कर्म, बल आदि का उपयोग न करने से ये मिले हैं ?

देव का उत्तर

१७०. तए णं से देवे कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव[2] अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया।

वह देव श्रमणोपासक कुंडकौलिक से बोला—देवानुप्रिय! मुझे यह दिव्य ऋद्धि, द्युति एवं प्रभाव—यह सब बिना उत्थान, पौरुष एव पराक्रम से ही उपलब्ध हुआ है।

कुंडकौलिक द्वारा प्रत्युत्तर

१७१. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—जइ णं देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव[3] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया, जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणे इ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा ? अह णं, देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव[4] परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव[5] नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव[6] अणियया सव्व-भावा, तं ते मिच्छा।

तब श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने उस देव से कहा—देव! यदि तुम्हे यह दिव्य ऋद्धि प्रयत्न, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि किए बिना ही प्राप्त हो गई, तो जिन जीवो में उत्थान, पराक्रम आदि

---

१. देखें सूत्र-संख्या १६८
२. देखें सूत्र-संख्या १६९
३. देखें सूत्र-संख्या १६९
४. देखें सूत्र-संख्या १६९
५. देखें सूत्र-संख्या १६९
६. देखें सूत्र-संख्या १६८

नहीं हैं, वे देव क्यों नहीं हुए ? देव ! तुमने यदि दिव्य ऋद्धि, उत्थान, पराक्रम आदि द्वारा प्राप्त की है तो "उत्थान आदि का जिसमें स्वीकार नहीं है, सभी भाव नियत हैं, गोशालक की यह धर्म-शिक्षा सुन्दर है तथा जिसमें उत्थान आदि का स्वीकार है, सभी भाव नियत नहीं हैं, भगवान् महावीर की वह शिक्षा असुन्दर है" तुम्हारा यह कथन असत्य है।

देव की पराजय

१७२. तए णं से देवे कुंडकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए, जाव (कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने,) कलुस-समावन्ने नो संचाएइ कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्ख-माइक्खित्तए; नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक द्वारा यों कहे जाने पर वह देव शंका, (कांक्षा व संशय) युक्त तथा कालुष्ययुक्त—ग्लानियुक्त या हतप्रभ हो गया, कुछ उत्तर नहीं दे सका। उसने कुंडकौलिक की नामांकित अंगूठी और दुपट्टा वापस पृथ्वीशिलापट्टक पर रख दिया तथा जिस दिशा से आया था, वह उसी दिशा की ओर लौट गया।

भगवान् द्वारा कुंडकौलिक की प्रशंसा : श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रेरणा

१७३. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे।

उस काल और उस समय भगवान् महावीर का काम्पिल्यपुर में पदार्पण हुआ।

१७४. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ जहा कामदेवो तहा निग्गच्छइ जाव[1] पज्जुवासइ। धम्मकहा।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने जब यह सब सुना तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और भगवान् के दर्शन के लिए कामदेव की तरह गया, भगवान् की पर्युपासना की, धर्म-देशना सुनी।

१७५. 'कुंडकोलिया !' इ समणे भगवं महावीरे कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी— से नूणं कुंडकोलिया ! कल्लं तुब्भं पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि असोग-वणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे नाम-मुद्दं च तहेव जाव (नो संचाएइ तुब्भे किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए, नाममुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढविसिलापट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव (दिसं) पडिगए। से नूणं कुंडकोलिया ! अट्ठे समट्ठे ? हन्ता अत्थि। तं धन्नेसि णं तुमं कुंडकोलिया ! जहा कामदेवो।

अज्जो ! इ समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी— जइ ताव, अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झावसंता णं अन्न-उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निप्पट्ठ-पसिणवागरणे करेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं

१. देखें सूत्र-संख्या ११४

दुवालसंगं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं अन्न-उत्थिया अट्ठेहि य जाव (हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य) निप्पट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए।

भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक कुंडकौलिक से कहा—कुंडकौलिक ! कल दोपहर के समय अशोकवाटिका मे एक देव तुम्हारे समक्ष प्रकट हुआ। वह तुम्हारी नामांकित अगूठी और दुपट्टा लेकर आकाश में चला गया। आगे जैसा घटित हुआ था, भगवान् ने बतलाया। (जब वह देव तुमको कुछ उत्तर नही दे सका तो तुम्हारी नामांकित अगूठी और दुपट्टा वापस रख कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया।)

कुंडकौलिक ! क्या यह ठीक है ? कुंडकौलिक ने कहा—भगवन् ! ऐसा ही हुआ। तब भगवान् ने जैसा कामदेव से कहा था, उसी प्रकार उससे कहा—कुंडकौलिक ! तुम धन्य हो।

श्रमण भगवान् महावीर ने उपस्थित श्रमणों और श्रमणियो को सम्बोधित कर कहा—आर्यो ! यदि घर मे रहने वाले गृहस्थ भी अन्य मतानुयायियों को अर्थ, हेतु, प्रश्न, युक्ति तथा उत्तर द्वारा निरुत्तर कर देते हैं तो आर्यो ! द्वादशागरूप गणिपिटक का—आचार आदि बारह अंगो का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ तो अन्य मतानुयायियो को अर्थ, (हेतु, प्रश्न, युक्ति तथा विश्लेषण) द्वारा निरुत्तर करने में समर्थ हैं ही।

१७६. तए णं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति।

श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन उन साधु-साध्वियो ने 'ऐसा ही है भगवन् !'—यों कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया।

१७७. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, अट्ठमादित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने श्रमण भगवान् महावीर को वदन-नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, समाधान प्राप्त किया तथा जिस दिशा से वह आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया।

१७८. सामी बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

भगवान् महावीर अन्य जनपदों में विहार कर गए।

शान्तिमय देहावसान

१७९. तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव[1] भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ जहा कामदेवो तहा जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता तहा पोसहसालाए जाव[2] धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। एवं एक्कारस

१. देखें सूत्र-संख्या १२२

२. देखें सूत्र-संख्या १४९

उवासग-पडिमाओ तहेव जाव[1] सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव (से णं भंते ! कुंडकोलिए ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, (मुच्चिहिइ, सव्वदुक्खाण) अंतं काहिइ ।

निक्खेवो[2]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ।।

तदनन्तर श्रमणोपासक कुंडकौलिक को व्रतो की उपासना द्वारा आत्म-भावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए । जब पन्द्रहवां वर्ष आधा व्यतीत हो चुका था, एक दिन आधी रात के समय उसके मन में विचार आया, जैसा कामदेव के मन मे आया था । उसी की तरह अपने बड़े पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त कर वह भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप पोषध-शाला में उपासनारत रहने लगा । उसने ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की आराधना की । आगे का वृत्तान्त भी कामदेव जैसा ही है । अन्त में देह-त्याग कर वह अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ । (भगवन् ! कुडकौलिक उस देवलोक से आयु, भव एव स्थिति का क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहाँ जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ? गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त होगा, सब दुखो का) अन्त करेगा ।

।। निक्षेप[3] ।।

।। सातवे अग उपासकदशा का छठा अध्ययन समाप्त ।।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९२

२. एव खलु जम्बू ! समणेणं जाव सपत्तेणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ।

३. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के छठे अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है ।

सातवां अध्ययन

सार : संक्षेप

भगवान् महावीर का समय विभिन्न धार्मिक मतवादों, विविध सम्प्रदायों तथा बहुविध कर्म-कांडों से सकुल था। उत्तर भारत में उस समय अवैदिक विचारधारा के अनेक आचार्य थे, जो अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते हुए घूमते थे। उनमे से अनेक अपने आपको अर्हत्, जिन, केवली या सर्वज्ञ कहते थे। सुत्तनिपात सभियसुत्त में वैसे ६३ सम्प्रदाय होने का उल्लेख है। जैनो के दूसरे अंग सूत्रकृताग आगम में भगवान् महावीर के समसामयिक सैद्धान्तिको के चार वर्ग बतलाए हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी। कहा गया है कि वे अपने समवसरण—सिद्धान्त या वाद का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन करते थे।[1] सूत्रकृतागवृत्ति में ३६३ धार्मिक मतवादो के होने का उल्लेख है। अर्थात् ये विभिन्न मतवादी प्रायश· इन चार वादो मे बटे हुए थे।

बौद्ध वाङ्मय में मुख्य रूप से छह श्रमण सम्प्रदायो का उल्लेख है, जिनके निम्नाकित आचार्य या सचालक बतलाए गए हैं—

पूरणकस्सप, मखलिगोसाल, अजितकेसकबलि, पकुध कच्चायन, निगंठनातपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त।

इनके सैद्धान्तिक वाद क्रमश· अक्रियावाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, चातुर्याम-संवरवाद तथा विक्षेपवाद बतलाए गए हैं। बौद्ध साहित्य मे भगवान् महावीर के लिए 'निगठनातपुत्त' का प्रयोग हुआ है।

मखलिपुत्र गोशालक का जैन और बौद्ध दोनो साहित्यों में नियतिवादी के रूप मे विस्तार से वर्णन हुआ है। पाचवे अग व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में १५वे शतक मे गोशालक का विम्तार से वर्णन है।

गोशालक को अष्टाग निमित्त का कुछ ज्ञान था। उसके द्वारा वह लोगो को लाभ, अलाभ, सुख, दु:ख, जीवन एव मरण के विषय में सही उत्तर दे सकता था। अत जो भी उसके पास आते, वह उन्हे उस प्रकार की बाते बताता। लोगो को तो चमत्कार चाहिए।

यों प्रभावित हो उसके सहस्रो अनुयायी हो गए थे। पोलासपुर मे सकडालपुत्र नामक एक कु भकार गोशालक के प्रमुख अनुयायियो मे था।

सकडालपुत्र एक समृद्ध एव सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी एक करोड स्वर्ण-मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में खजाने मे रखी थी, एक करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार मे लगी थी, एक करोड स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव एव उपकरणो मे लगी थी। उसके दस हजार गायों का एक गोकुल था।

सकडालपुत्र का प्रमुख व्यवसाय मिट्टी के बर्तन तैयार कराना और बेचना था। पोलासपुर

---

१ चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइ पुढो वयति।
किरिय अकिरिय बिणिय ति तइय अन्नाणमाहसु चउत्थमेव॥
—सूत्रकृताग १.१२.१

नगर के बाहर उसकी पाच सौ कर्मशालाएं थी, जहा अनेक वैतनिक कर्मचारी काम करते थे। प्रातः काल होते ही वे वहां आ जाते और अनेक प्रकार के छोटे-बड़े बर्तन बनाने में लग जाते। बर्तनों की बिक्री की दूसरी व्यवस्था थी। सकडालपुत्र ने अनेक ऐसे व्यक्ति वेतन पर नियुक्त कर रखे थे, जो नगर के राजमार्गों, चौराहों, मैदानो तथा सार्वजनिक स्थानो में बर्तनों की बिक्री करते थे।

सकडालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। वह गृहकार्य में सुयोग्य तथा अपने पति के सुखदुःख में सहभागिन थी।

सकडालपुत्र अपने धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् था, तदनुसार धर्मोपासना में भी अपना समय लगाता था। [वह युग ही कुछ ऐसा था, जो व्यक्ति जिन विचारों में आस्था रखता, तदनुसार जीवन में साधना भी करता। आस्था केवल कहने की नही होती।]

एक दिन की घटना है, सकडालपुत्र दोपहर के समय अपनी अशोकवाटिका मे गया और वहा अपनी मान्यता के अनुसार धर्माराधना में निरत हो गया। थोडी ही देर बाद एक देव वहा प्रकट हुआ। सकडालपुत्र के सामने अन्तरिक्ष-स्थित देव ने उसे सम्बोधित कर कहा—कल प्रात यहां महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, त्रैलोक्यपूजित, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आएगे। तुम उनकी वदना-पर्युपासना करना और उन्हें स्थान, पाट, बाजोट आदि हेतु आमन्त्रित करना। देव यो कहकर चला गया। सकडालपुत्र ने सोचा—देव ने बडी अच्छी सूचना की। मेरे धर्माचार्य मखलिपुत्र गोशालक कल यहा आएगे। वे ही तो जिन, अर्हत् और केवली हैं, इसलिए मैं अवश्य ही उनकी वन्दना एव पर्युपासना करूगा। उनके उपयोग की वस्तुओ हेतु उन्हे आमन्त्रित करूगा।

दूसरे दिन प्रात.काल भगवान् महावीर वहा पधारे। सहस्राम्रवन उद्यान में टिके। अनेक श्रद्धालु जन उनके दर्शन हेतु गए। सकडालपुत्र भी यह सोच कर कि उसके आचार्य गोशालक पधारे हैं, दर्शन हेतु गया।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश हुआ। अन्य लोगों के साथ सकडालपुत्र ने भी सुना। भगवान् जानते थे कि सकडालपुत्र सुलभबोधि है। उसे सद्धर्म की प्रेरणा देनी चाहिए। अत उन्होने उसे सम्बोधित कर कहा—कल दोपहर में अशोकवाटिका में देव ने तुम्हे जिसके आगमन की सूचना की थी, वहा देव का अभिप्राय गोशालक से नही था। सकडालपुत्र भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान से प्रभावित हुआ और मन ही मन प्रसन्न हुआ। वह उठा, भगवान् को विधिवत् वन्दन किया और अपनी कर्मशालाओ में पधारने तथा अपेक्षित सामग्री ग्रहण करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और वहा पधारे।

सकडालपुत्र भगवान् महावीर के व्यक्तित्व और उनके अतीन्द्रिय ज्ञान से प्रभावित तो था, पर उसकी सैद्धान्तिक आस्था मंखलिपुत्र गोशालक में थी, यह भगवान् जानते थे। भगवान् अनुकूल अवसर देख उसे सद्बोध देना चाहते थे। एक दिन की बात है, सकडालपुत्र अपनी कर्मशाला के भीतर हवा लगने हेतु रखे हुए बर्तनों को धूप में देने के लिए बाहर रखवा रहा था। भगवान् को यह अवसर अनुकूल प्रतीत हुआ। उन्होंने उससे पूछा—ये बर्तन कैसे बने? सकडालपुत्र बोला—भगवन्! पहले मिट्टी एकत्र की, उसे भिगोया, उसमें राख तथा गोबर मिलाया, गूधा, सबको एक किया, फिर उसे चाक पर चढाया और भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तन बनाए।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! एक बात बताम्रो । तुम्हारे ये बर्तन प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा उद्यम से बने हैं या अप्रयत्न, अपुरुषार्थ और अनुद्यम से ?

सकडालपुत्र—भगवन् ! अप्रयत्न, अपुरुषार्थ और अनुद्यम से । क्योंकि प्रयत्न, पुरुषार्थ और उद्यम का कोई महत्त्व नही है । जो कुछ होता है, सब निश्चित है ।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! जरा कल्पना करो कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे, सूखे बर्तनों को चुरा ले, उन्हें बिखेर दे, तोड दे, फोड दे या तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ बलात्कार करे, तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे !

सकडालपुत्र—भगवन् ! मैं उसको फटकारूंगा, बुरी तरह पीटूंगा, अधिक क्या, जान से मार डालूंगा ।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! ऐसा क्यो ? तुम तो प्रयत्न और पुरुषार्थ को नही मानते । सब भावो को नियत मानते हो । तब फिर जो पुरुष वैसा करता है, उसमें उसका क्या कर्तृत्व है ? वैसा तो पहले से ही नियत है । उसे दोषी भी कैसे मानोगे ? यदि तुम कहो कि वह तो प्रयत्नपूर्वक वैसा करता है, तो प्रयत्न और पुरुषार्थ को न मानने का, सब कुछ नियत मानने का तुम्हारा सिद्धान्त गलत है, असत्य है ।

सकडालपुत्र एक मेधावी और समझदार पुरुष था । इस थोड़ी सी बातचीत से यथार्थ तत्त्व उसकी समझ में आ गया । उसने संबोधि प्राप्त कर ली । उसका मस्तक श्रद्धा से भगवान् महावीर के चरणो में झुक गया । जैसा उस समय के विवेकी पुरुष करते थे, उसने भगवान् महावीर से बारह प्रकार का श्रावकधर्म स्वीकार किया । उसकी प्रेरणा से उसकी पत्नी अग्निमित्रा ने भी वैसा ही किया । यो पति-पत्नी सद्धर्म को प्राप्त हुए तथा अपने गृहस्थ जीवन के साथ-साथ धार्मिक आराधना में भी अपने समय का सदुपयोग करने लगे ।

सकडालपुत्र मखलिपुत्र गोशालक का प्रमुख श्रावक था । जब गोशालक ने यह सुना तो साम्प्रदायिक मोहवश उसे यह अच्छा नही लगा । उसने मन ही मन सोचा, मुझे सकडालपुत्र को पुन. समझाना चाहिए और अपने मत में वापस लाना चाहिए । इस हेतु वह पोलासपुर मे आया । आजीविकों के उपाश्रय में रुका । अपने पात्र, उपकरण आदि वहा रखे तथा अपने कुछ शिष्यों के साथ सकडालपुत्र के यहा पहुंचा । सकडालपुत्र तो सत् तत्त्व और सद्गुरु प्राप्त कर चुका था, इसलिए गोशालक के आने पर पहले वह जो श्रद्धा, आदर एव सम्मान दिखाता था, उसने वैसा नही किया, चुपचाप बैठा रहा । गोशालक खूब चालाक था, झट समझ गया । उसने युक्ति निकाली । सकडालपुत्र को प्रसन्न करने के लिए उसने भगवान् महावीर की खूब गुण-स्तवना की । गोशालक के इस कूटनीतिक व्यवहार को वह समझ नही सका । गोशालक की मंशा यह थी कि किसी प्रकार पुन· मुझे सकडालपुत्र के साथ धार्मिक बातचीत का अवसर मिल जाय तो मैं इसकी मति बदलू । सकडालपुत्र ने भगवान् महावीर के प्रति गोशालक द्वारा दिखाए गए आदर-भाव के कारण शिष्टतावश अनुरोध किया—आप मेरी कर्मशाला में रुकें, आवश्यक वस्तुएं ले । गोशालक तो बस यही चाहता था । उसने झट स्वीकार कर लिया और वहां गया । वहां के प्रवास के बीच उसको सकडालपुत्र के साथ तात्त्विक वार्तालाप करने का अनेक बार अवसर मिला । उसने सकडालपुत्र को बदलने का बहुत प्रयास किया, पर वह सर्वथा विफल रहा । सकडालपुत्र तो खूब विवेक और समझदारी के साथ

यथार्थ तत्त्व प्राप्त कर चुका था, वह विचलित कैसे होता ? निराश होकर गोशालक वहां से विहार कर गया । सकडालपुत्र पूर्ववत् अपने सांसारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह के साथ-साथ धर्मोपासना में लगा रहा ।

यों चौदह वर्ष व्यतीत हो गए । पन्द्रहवा वर्ष आधा बीत चुका था । एक बार आधी रात के समय सकडालपुत्र अपनी धर्माराधना मे निरत था, एक मिथ्यात्वी देव उसे व्रत-च्युत करने के लिए आया, व्रत छोड़ देने के लिए उसके पुत्रो को मार डालने की धमकी दी । सकडालपुत्र अविचल रहा तब उसने उसीके सामने क्रमशः उसके तीनों बेटों को मार-मार कर प्रत्येक के नौ-नौ मास-खड किए, उबलते पानी से भरी कढाही में खौलाया और उनका मास व रक्त उसके शरीर पर छींटा । पर, सकडालपुत्र आत्म-बल और धैर्य के साथ यह सब सह गया, उसकी आस्था नहीं डगमगाई ।

फिर भी देव निराश नही हुआ । उसने सोचा कि सकडालपुत्र के जीवन में अग्निमित्रा का बहुत बडा महत्त्व है, वह केवल पतिपरायणा पत्नी ही नही है, सुख दुःख मे सहयोगिनी है और सबसे बडी बात यह है कि वह उसके धार्मिक जीवन की अनन्य सहायिका है । यह सोचकर उसने सकडाल-पुत्र के समक्ष उसकी पत्नी अग्निमित्रा को मार डालने और वैसी ही दुर्दशा करने की धमकी दी । जो सकडालपुत्र तीनों बेटो की हत्या अपनी आखों के आगे देख अविचलित रहा, वह इस धमकी से क्षुभित हो गया । उसमे क्रोध जागा और उसने सोचा, इस दुष्ट को मुझे पकड लेना चाहिए । वह झट पकडने के लिए उठा, पर उस देव-षड्यन्त्र में कौन किसे पकडता ? देव लुप्त हो गया । सकडाल-पुत्र के हाथो में सामने का खम्भा आया । यह सब अनहोनी घटनाए देख सकडालपुत्र घबरा गया और उसने जोर से कोलाहल किया । अग्निमित्रा ने जब यह सुना तो तत्क्षण वहा आई, पति की सारी बात सुनी और बोली—परीक्षा की अन्तिम चोट मे आप हार गए । वह मिथ्यादृष्टि देव आखिर आपका व्रत भग करने में सफल हो गया । इस भूल के लिए आप प्रायश्चित्त कीजिए । सकडालपुत्र ने वैसा ही किया ।

सकडालपुत्र का अन्तिम जीवन भी बहुत ही प्रशस्त रहा । उसने एक मास की अन्तिम सलेखना और अनशन के साथ समाधि-मरण प्राप्त किया । देहत्याग कर वह अरुणभूत विमान में चार पल्योपमस्थितिक देव हुआ ।

सातवां अध्ययन : सकडालपुत्र

आजीविकोपासक सकडालपुत्र

१८०. सत्तमस्स उक्खेवो[1]। पोलासपुरे नामं नयरे। सहस्संबवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक सातवे अध्ययन का प्रारम्भ यो है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—पोलासपुर नामक नगर था। वहा सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। जितशत्रु वहा का राजा था।

१८१. तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नाम कुंभकारे आजीविओवासए परिवसइ। आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, विणिच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते य अयमाउसो! आजीविय-समए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति आजीविय-समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

पोलासपुर में सकडालपुत्र नामक कुम्हार रहता था, जो आजीविक-सिद्धान्त या गोशालक-मत का अनुयायी था। वह लब्धार्थ—श्रवण आदि द्वारा आजीविकमत के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किए हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किए हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थित किए हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप मे आत्मसात् किए हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किए हुए था। वह अस्थि और मज्जा पर्यन्त अपने धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा था। उसका यह निश्चित विश्वास था कि आजीविक मत ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय अन्य अनर्थ-अप्रयोजनभूत हैं। यों आजीविक मत के अनुसार वह आत्मा को भावित करता हुआ धर्मानुरत था।

विवेचन

इस सूत्र मे सकडालपुत्र के लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ तथा अभिगतार्थ विशेषण आए हैं, जिनसे प्रकट होता है कि वह जिस मत मे विश्वास करता था, उसने उसके सिद्धान्तों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। जिज्ञासाओ और प्रश्नो द्वारा उसने तत्त्व की गहराई तक पहुंचने का प्रयास किया था। उनके अपने विचारो के अनुसार आजीविकमत सत्य और यथार्थ था। इसीलिए वह उसके प्रति अत्यन्त आस्थावान् था, जो अस्थि-मज्जा-प्रेमानुरागरक्त विशेषण से प्रकट है। इससे यह भी अनुमित होता है कि उस समय के नागरिक अपने व्यावसायिक, लौकिक जीवन के संचालन के साथ-साथ तात्त्विक एव धार्मिक दृष्टि से भी गहराई में जाते थे।

---

१ जइ ण भंते! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाण छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते सत्तमस्स ण भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के छठे अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया, तो भगवन्! उन्होंने सातवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया (कृपया कहे।)

सम्पत्ति : व्यवसाय

१८२. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थर-पउत्ता, एक्के वए, दस-गोसाहस्सिएणं वएणं।

आजीविक मतानुयायी सकडालपुत्र की एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थी। एक करोड स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थी तथा एक करोड स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थी उसके एक गोकुल था, जिसमें दस हजार गायें थी।

१८३. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था।

१८४. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुंभकारावण-सया होत्था। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिंजरए य जंबूलए य उट्टियाओ य करेंति। अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य जाव (वारएहि य पिहडएहि य घडएहि य अद्ध-घडएहि य कलसएहि य अलिंजरएहि य जंबूलएहि य) उट्टियाहि य राय-मग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

पोलासपुर नगर के बाहर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के कुम्हारगिरी के पाच सौ आपण—व्यवसाय-स्थान—बर्तन बनाने की कर्मशालाएँ थी। वहाँ भोजन तथा मजदूरी रूप वेतन पर काम करने वाले बहुत से पुरुष प्रतिदिन प्रभात होते ही, करक—करवे, वारक—गडुए, पिठर—आटा गूंधने या दही जमाने के काम मे आने वाली पराते या कूंडे, घटक—तालाब आदि से पानी लाने के काम में आने वाले घडे, अर्द्धघटक—अधघडे—छोटे घड़े, कलशक—कलसे, बड़े घडे, अलिजर—पानी रखने के बडे मटके, जबूलक—सुराहियाँ, उष्ट्रिका—तैल, घी आदि रखने में प्रयुक्त लम्बी गर्दन और बडे पेट वाले बर्तन—कूपे बनाने के लग जाते थे। भोजन व मजदूरी पर काम करने वाले दूसरे बहुत से पुरुष सुबह होते ही बहुत से करवे (गडुए, पराते या कूंडे, घडे, अधघडे, कलसे, बडे मटके, सुराहियाँ) तथा कूपो के साथ सडक पर अवस्थित हो, उनकी बिक्री मे लग जाते थे।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र के सकडालपुत्र की कर्मशालाएँ नगर से बाहर होने का जो उल्लेख है, उससे यह प्रकट होता है कि कुम्हारों की कर्मशालाएँ व अलाव नगरो से बाहर होते थे, जिससे अलावो से उठने वाले धुंए के कारण वायु-दूषण न हो, नगरवासियो को असुविधा न हो। फिर सकडालपुत्र के तो पाच सौ कर्मशालाएँ थीं, बर्तन पकाने मे बहुत धुंआ उठता था, इसलिए निर्माण का सारा कार्य नगर से बाहर होता था। बिक्री का कार्य सड़को व चौराहो पर किया जाता था। आज भी प्राय ऐसा ही है। कुम्हारो के घर शहरों तथा गाँवों के एक किनारे होते हैं, जहाँ वे अपने बर्तन बनाते है, पकाते हैं। बर्तन बेचने का काम आज भी सड़को और चौराहों पर देखा जाता है।

देव द्वारा सूचना

१८५. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

एक दिन आजीविकोपासक सकडालपुत्र दोपहर के समय अशोकवाटिका में गया, मंखलिपुत्र गोशालक के पास अगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप वहा उपासनारत हुआ ।

१८६. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र के समक्ष एक देव प्रकट हुआ ।

१८७. तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिखिणियाइं जाव (पंचवण्णाइं वत्थाइं पवर) परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—एहिइ णं देवाणुप्पिया ! कल्लं इहं महामाहणे, उप्पन्नणाण-दंसणधरे, तीय-पडुप्पन्न-मणागय-जाणए, अरहा, जिणे, केवली, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, तेलोक्क-वहिय-महिय-पूइए, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे नमंसणिज्जे जाव (सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासणिज्जे, तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते । तं णं तुमं वंदेज्जाहि, जाव (णमंसेज्जाहि, सक्कारेज्जाहि, सम्माणेज्जाहि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि । दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ।

छोटी-छोटी घटियो से युक्त पाच वर्ण के उत्तम वस्त्र पहने हुए आकाश में अवस्थित उस देव ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—देवानुप्रिय ! कल प्रात.काल यहा महामाहन—महान् अहिंसक, अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों काल के ज्ञाता, अर्हत्—परम पूज्य, परम समर्थ, जिन—राग-द्वेष-विजेता, केवली-परिपूर्ण, शुद्ध एव अनन्त ज्ञान आदि से युक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीनो लोक अत्यन्त हर्षपूर्वक जिनके दर्शन की उत्सुकता लिए रहते है, जिनकी सेवा एव उपासना की वाछा लिए रहते हैं, देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय—अर्चायोग्य—पूजायोग्य, वन्दनीय—स्तवनयोग्य, नमस्करणीय, (सत्करणीय—सत्कार या आदर करने योग्य, सम्माननीय—सम्मान करने योग्य, कल्याणमय, मगलमय, इष्ट देव स्वरूप अथवा दिव्य तेज तथा शक्तियुक्त, ज्ञानस्वरूप) पर्युपासनीय—उपासना करने योग्य, तथ्य कर्म-सम्पदा-सप्रयुक्त—सत्कर्म रूप—सम्पत्ति से युक्त भगवान् पधारेंगे । इसलिए तुम उन्हे वन्दन करना (नमस्कार, सत्कार तथा सम्मान करना । वे कल्याणमय, मगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं । उनकी पर्युपासना करना), प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुए जिन्हे श्रमण उपयोग में लेकर वापस कर देते हैं, पीठ—पाट, फलक—बाजोट, शय्या—ठहरने का स्थान, संस्तारक—बिछाने के लिए घास आदि हेतु उन्हे आमंत्रित करना । यों दूसरी बार व तीसरी बार कह कर जिस दिशा से प्रकट हुआ था, वह देव उसी दिशा की ओर लौट गया ।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आए 'महामाहण' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि ने वृत्ति

में लिखा है—जो व्यक्ति यों निश्चय करता है, मैं किसी को नहीं मारूं, अर्थात् जो मन, वचन एवं काय द्वारा सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवों की हिंसा से निवृत्त हो जाता है तथा किसी की हिंसा मत करो यों दूसरों को उपदेश करता है, वह माहन कहा जाता है। ऐसा पुरुष महान् होता है, इसलिए वह महामाहन है, अर्थात् महान् अहिंसक है।

अन्य आगमों में भी जहा महामाहण शब्द आया है, इसी रूप में व्याख्या की गई है। इसकी व्याख्या का एक रूप और भी है। प्राकृत में 'ब्राह्मण' के लिए बम्हण तथा बम्भण के साथ-साथ माहण शब्द भी है। इसके अनुसार महामाहण का अर्थ महान् ब्राह्मण होता है। ब्राह्मण शब्द भारतीय साहित्य में गुण-निष्पन्नता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व लिए हुए है। ब्राह्मण में एक ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना है, जो पवित्रता, सात्त्विकता, सदाचार, तितिक्षा, तप आदि सद्गुणों के समवाय का प्रतीक हो। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ ज्ञानी है। व्याकरण मे कृदन्त के प्रकरण में अण् प्रत्यय के योग से इसकी सिद्धि होती है।[1] उसके अनुसार इसकी व्युत्पत्ति[2]—जो ब्रह्म—वेद या शुद्ध चैतन्य को जानता है अथवा उसका अध्ययन करता है, वह ब्राह्मण है। गुणात्मक दृष्टि से वेद, जो विद् धातु से बना है, उत्कृष्ट ज्ञान का प्रतीक है। यों ब्राह्मण एक उच्च ज्ञानी और चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व के रूप मे प्रस्तुत हुआ है।

जन्मगत जातीय व्यवस्था को एक बार हम छोड़ देते है, वह तो एक सामाजिक क्रम था। वस्तुत. इस उच्च और प्रशस्त अर्थ मे 'ब्राह्मण' शब्द को केवल वैदिक वाङ्मय मे ही नही, जैन और बौद्ध वाङ्मय मे भी स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसग है—

ब्राह्मण वश मे उत्पन्न जयघोष मुनि एक बार अपने जनपद-विहार के बीच वाराणसी आए। नगर के बाहर मनोरम नामक उद्यान मे रुके। उस समय विजयघोष नामक एक वेदवेत्ता ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। जयघोष मुनि एक मास की तपस्या के पारणे हेतु भिक्षा के लिए विजयघोष के यहा पहुचे। विजयघोष ने कहा—यहा बना भोजन तो ब्राह्मण को देने के लिए है। इस पर जयघोष मुनि ने उससे कहा—विजयघोष! तुम ब्राह्मणत्व का शुद्ध स्वरूप नही जानते। जरा सुनो, मैं बतलाता हू, ब्राह्मण कौन होता है—

जो अपने स्वजन, कुटुम्बी जन आदि में आसक्त नही होता, प्रव्रजित होने में अधिक सोच-विचार नही करता तथा जो आर्य—उत्तम धर्ममय वचनों में रमण करता है, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार अग्नि में तपाया हुआ सोना शुद्ध एव निर्मल होता है, उसी प्रकार जो राग, द्वेष तथा भय आदि से रहित है, हमारी दृष्टि में वही ब्राह्मण है।

जो इन्द्रिय-विजेता है, तपश्चरण में सलग्न है, फलत. कृश हो गया है, उग्र साधना के कारण जिसके शरीर में रक्त और मांस थोडा रह गया है, जो उत्तम व्रतों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने पर आरूढ है, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

जो त्रस—चलने फिरने वाले, स्थावर—एक जगह स्थित रहने वाले प्राणियों को सूक्ष्मता से जानकर तीन योग—मन, वचन एवं काया द्वारा उनकी हिंसा नही करता, वही ब्राह्मण है।

---

१. कर्मण्यण्। पाणिनीय अष्टाध्यायी। ३। २। १।

२. ब्रह्म-वेदं, शुद्ध चैतन्य वा वेत्ति अधीते वा इति ब्राह्मण·।

जो क्रोध, हास्य, लोभ तथा भय से असत्य भाषण नहीं करता, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं ।

जो सचित्त या अचित्त, थोड़ी या बहुत कोई भी वस्तु बिना दी हुई नही लेता, ब्राह्मण वहीं है ।

जो मन, वचन एव शरीर द्वारा देव, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन नही करता, वास्तव में वही ब्राह्मण है ।

कमल यद्यपि जल में उत्पन्न होता है, पर उसमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो काम-भोगों से अलिप्त रहता है, वही ब्राह्मण है ।

जो अलोलुप, भिक्षा पर निर्वाह करने वाला, गृह-त्यागी तथा परिग्रह-त्यागी होता है, गृहस्थों के साथ आसक्ति नहीं रखता, वही ब्राह्मण है ।

जो जातीय जनों और बन्धुजनो का पूर्व संयोग छोड़कर त्यागमय जीवन अपना लेता है, लौटकर फिर भोगों में आसक्त नही होता, हमारी दृष्टि में वही ब्राह्मण है ।[1]

यहां ब्राह्मण के व्यक्तित्व का जो शब्द-चित्र उपस्थित किया गया है, उससे स्पष्ट है, जयघोष मुनि के शब्दों में महान् त्यागी, आध्यात्मिक साधना के पथ पर सतत गतिशील, निरपवाद रूप मे व्रतो का परिपालक साधक ही वस्तुतः ब्राह्मण होता है ।

बौद्धो के धम्मपद का अन्तिम वर्ग या अध्याय ब्राह्मणवग्ग है, जिसमें ब्राह्मण के स्वरूप, गुण, चरित्र आदि का वर्णन है । वहां कहा गया है—

"जिसके पार—नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, काया तथा मन, अपार—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा पारापार—मैं और मेरा—ये सब नहीं हैं, अर्थात् जो एषणाओ और भोगों से ऊंचा उठा हुआ है, निर्भय है, अनासक्त है, वह ब्राह्मण है ।

ब्राह्मण के लिए यह बात कम श्रेयस्कर नहीं है कि वह अपना मन प्रिय भोगो से हटा लेता है । जहा मन हिंसा से निवृत्त हो जाता है, वहां दु:ख स्वय ही शान्त हो जाता है ।

जिसके मन, वचन तथा शरीर से दुष्कृत—अशुभ कर्म या पाप नही होते, जो इन तीनो ही स्थानो से संवृत—सयम युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

जो फटे-पुराने चिथडो को धारण किए रहता है, कृश है, उग्र तपश्चरण द्वारा जिसकी देह पर नाडिया उभर आई हैं, एकाकी वन में ध्यान-निरत रहता है, मेरी दृष्टि में वही ब्राह्मण है ।

जो सभी सयोजनो—बन्धनों को छिन्न कर डालता है, जो कही भी परित्रास—भय नही पाता, जो आसक्ति और ममता से अतीत है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ।

जो आक्रोश—क्रोध या गाली-गलौज, वध एवं बन्धन को, मन को जरा भी विकृत किए बिना सह जाता है, क्षमा-बल ही जिसकी बलवान् सेना है, वास्तव में वही ब्राह्मण है ।

जो क्रोध-रहित, व्रतयुक्त, शीलवान् बहुश्रुत, संयमानुरत तथा अन्तिम शरीरवान् है—शरीर त्याग कर निर्वाणगामी है, वही वास्तव में ब्राह्मण है ।

१. उत्तराध्ययन सूत्र २५ । २०-२९ ।

जो कमल के पत्ते पर पड़े जल और आरे की नोक पर पड़ी सरसों की तरह भोगों में लिप्त नही होता, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ।

जो गम्भीर-प्रज्ञाशील, मेधावी एवं मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता है, जिसने उत्तम अर्थ—सत्य को प्राप्त कर लिया है, वही वास्तव में ब्राह्मण है ।

जो त्रस और स्थावर—चर-अचर सभी प्राणियों की हिंसा से विरत है, न स्वय उन्हें मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ।"[1]

उत्तराध्ययन तथा धम्मपद के प्रस्तुत विवेचन की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही स्थानों पर ब्राह्मण के तपोमय, ज्ञानमय तथा शीलमय व्यक्तित्व के विश्लेषण में दृष्टिकोण की समानता रही है ।

गुण-निष्पन्न ब्राह्मणत्व के विवेचन में वैदिक वाङ्मय में भी हमे अनेक स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होते हैं । महाभारत के शान्तिपर्व में इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रसंगो में विवेचन हुआ है ।

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

ब्राह्मण गन्ध, रस, विषय-सुख एव आभूषणों की कामना न करे । वह सम्मान, कीर्ति तथा यश की चाह न रखे । द्रष्टा ब्राह्मण का यही आचार है ।

जो समस्त प्राणियों को अपने कुटुम्ब की भांति समझता है, जानने योग्य तत्त्व का ज्ञाता होता है, कामनाओ से वर्जित होता है, वह ब्राह्मण कभी मरता नही अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है ।

जब मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी के प्रति विकारयुक्त भाव नहीं करता, तभी व्यक्ति ब्रह्मभाव या ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है ।

कामना ही इस संसार में एकमात्र बन्धन है, अन्य कोई बन्धन नहीं है । जो कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह ब्रह्मभाव—ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है ।

जिससे बिना भोजन के ही मनुष्य परितृप्त हो जाता है, जिसके होने पर धनहीन पुरुष भी पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, घृत आदि स्निग्ध पौष्टिक पदार्थ सेवन किए बिना ही जहाँ मनुष्य अपने में अपरिमित शक्ति का अनुभव करता है, वैसे ब्रह्मभाव को जो अधिगत कर लेता है, वही वेदवेत्ता ब्राह्मण है ।

कर्मों का अतिक्रम कर जाने वाले—कर्मों से मुक्त, विषय-वासनाओं से रहित, आत्मगुण को प्राप्त किए हुए ब्राह्मण को जरा और मृत्यु नही सताते ।"[2]

इसी प्रकार इसी पर्व के ६२वें अध्याय में, ७६वें अध्याय में तथा और भी बहुत से स्थानों पर ब्राह्मणत्व का विवेचन हुआ है । प्रस्तुत विवेचन की गहराई में यदि हम जाएं तो स्पष्ट रूप में यह प्रतीत होगा कि महाभारतकार व्यासदेव की ध्वनि भी उत्तराध्ययन एवं धम्मपद से कोई भिन्न नहीं है ।

---

१. धम्मपद ब्राह्मणवग्गो ३, ८, ९, १३, १५, १७, १८, १९, २१, २३ ।

२. महाभारत शान्तिपर्व २५१. १, ३, ६, ७, १८, २२ ।

भारतीय समाज-व्यवस्था के नियामक मनु ने ब्राह्मण का अत्यन्त उत्तम चरित्रशील पुरुष के रूप में उल्लेख किया है तथा उसके चरित्र से शिक्षा लेने की प्रेरणा दी है ।[1]

इन विवेचनों को देखते समझा जा सकता है पुरातन भारतीय वर्णव्यवस्था का आधार गुण, कर्म था, आज की भांति वंशपरम्परा नही ।

सकडालपुत्र की कल्पना

१८८. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—चिंतिए, पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते, से णं महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव[2] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते, से णं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ । तए णं तं अहं वंदिस्सामि जाव (सक्कारेस्सामि, सम्माणेस्सामि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं जाव (पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं) उवनिमंतिस्सामि ।

उस देव द्वारा यो कहे जाने पर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के मन मे ऐसा विचार आया, मनोरथ, चिन्तन और सकल्प उठा—मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, महामाहन, अप्रतिम ज्ञान-दर्शन के धारक, (अतीत, वर्तमान एव भविष्य—तीनों काल के ज्ञाता, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीनों लोक अत्यन्त हर्षपूर्वक जिनके दर्शन की उत्सुकता लिए रहते हैं, जिनकी सेवा एव उपासना की वाछा लिए रहते हैं, देव, मनुष्य तथा असुर—सभी द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय, सत्करणीय, सम्माननीय, कल्याणमय, मगलमय, देवस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, पर्यु पासनीय,) सत्कर्म-सम्पत्तियुक्त मखलिपुत्र गोशालक कल यहा पधारेगे । तब मैं उनकी वदना, (सत्कार एव सम्मान करुंगा । वे कल्याणमय, मगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं) पर्यु पासना करु गा तथा प्रातिहारिक (पीठ, फलक, सस्तारक) हेतु आमंत्रित करु गा ।

भगवान् महावीर का सान्निध्य

१८९. तए णं कल्लं जाव[3] जलंते समणे भगवं महावीरे जाव[4] समोसरिए । परिसा निग्गया जाव[5] पज्जुवासइ ।

तत्पश्चात् अगले दिन प्रात काल भगवान् महावीर पधारे । परिषद् जुडी, भगवान् की पर्यु पासना की ।

१९०. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव (जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ,

---

१ मनुस्मृति २,२०

२. देखो सूत्र-सख्या १८७

३ देखें सूत्र-सख्या ६६

४ देखें सूत्र-सख्या ९

५ देखे सूत्र-सख्या ११

उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं, तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव (नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासामि एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए जाव (कयबलिकम्मे, कयकोउयमंगल-) पायच्छित्ते सुद्ध-प्पावेसाइं जाव (मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए) अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे, मणुस्सवग्गुरा-परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता, पोलासपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता जाव (पच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाण अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे) पज्जुवासइ ।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र ने यह सुना कि भगवान् महावीर पोलासपुर नगर में पधारे हैं । (सहस्राम्रवन उद्यान में यथोचित स्थान ग्रहण कर सयम एव तप से आत्मा को भावित करते हुए—अवस्थित हैं) । उसने सोचा—मैं जाकर भगवान् की वन्दना, (नमस्कार, सत्कार एव सम्मान करू । वे कल्याणमय, मगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं ।) पर्युपासना करु । यों सोच कर उसने स्नान किया, (नित्य-नैमित्तिक कार्य किए, देह-सज्जा तथा दुःस्वप्न आदि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि द्वारा मगल-विधान किया,) शुद्ध, सभायोग्य (मांगलिक एव उत्तम) वस्त्र पहने । थोडे से बहुमूल्य आभूषणो से देह को अलकृत किया, अनेक लोगो को साथ लिए वह अपने घर से निकला, पोलासपुर नगर के बीच से गुजरा, सहस्राम्रवन उद्यान मे, जहां भगवान् महावीर विराजित थे, आया । आकर तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया, (वन्दन-नमस्कार कर भगवान् के न अधिक निकट, न अधिक दूर, सम्मुख अवस्थित हो, नमन करते हुए, सुनने की उत्कठा लिए विनयपूर्वक हाथ जोडे,) पर्युपासना की ।

१९१. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव[1] धम्मकहा समत्ता ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र को तथा विशाल परिषद् को धर्म-देशना दी ।

१९२. सद्दालपुत्ता ! इ समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—से नूणं, सद्दालपुत्ता ! कल्लं तुम पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया जाव[2] विहरसि । तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने एवं वयासी—हं भो ! सद्दाल-पुत्ता ! तं चेव सव्वं जाव[3] पज्जुवासिस्सामि, से नूणं, सद्दालपुत्ता ! अट्ठे समट्ठे ? हंता ! अत्थि । नो खलु, सद्दालपुत्ता ! तेणं देवेणं गोसालं मंखलि-पुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते ।

श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडालपुत्र ! कल

---

१. देखें सूत्र-सख्या ११

२. देखें सूत्र-सख्या १८५

३ देखें सूत्र-सख्या १८८

दोपहर के समय तुम जब अशोकवाटिका में थे तब एक देव तुम्हारे समक्ष प्रकट हुआ, आकाशस्थित देव ने तुम्हें यों कहा—कल प्रातः अर्हत्, केवली आएंगे।

भगवान् ने सकडालपुत्र को उसके द्वारा वंदन, नमन, पर्युपासना करने के निश्चय तक का सारा वृत्तान्त कहा। फिर उससे पूछा—सकडालपुत्र! क्या ऐसा हुआ? सकडालपुत्र बोला—ऐसा ही हुआ। तब भगवान् ने कहा—सकडालपुत्र! उस देव ने मंखलिपुत्र गोशालक को लक्षित कर वैसा नहीं कहा था।

सकडाल पर प्रभाव

१९३. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ (चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे)—एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे, उप्पन्न-णाणदंसणधरे, जाव[1] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढ-फलग जाव (-सेज्जा-संथारएणं) उवनिमंतित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पंच कुंभकारावणसया। तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-) संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह।

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा यों कहे जाने पर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के मन मे ऐसा विचार आया—श्रमण भगवान् महावीर ही महामाहन, उत्पन्न ज्ञान, दर्शन के धारक तथा सत्कर्म-सम्पत्ति-युक्त हैं। अतः मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार कर प्रातिहारिक पीठ, फलक (शय्या तथा सस्तारक) हेतु आमन्त्रित करु। यों विचार कर वह उठा, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और बोला—भगवन्! पोलासपुर नगर के बाहर मेरी पाच-सौ कुम्हारगीरी को कर्मशालाए हैं। आप वहा प्रातिहारिक पीठ, (फलक, शय्या) सस्तारक ग्रहण कर विराजे।

भगवान् का कुंभकारापण में पदार्पण

१९४. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुंभकारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढ-फलग जाव (-सेज्जा) संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ।

भगवान् महावीर ने आजीविकापासक सकडालपुत्र का यह निवेदन स्वीकार किया तथा उसकी पाच सौ कुम्हारगीरी की कर्मशालाओं में प्रासुक, शुद्ध प्रातिहारिक पीठ, फलक (शय्या), संस्तारक ग्रहण कर भगवान् अवस्थित हुए।

नियतिवाद पर चर्चा

१९५. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलाल-भंडं अंतो सालाहितो बहिया नीणेइ, नीणेत्ता, आयवंसि दलयइ।

---

१ देखें सूत्र-संख्या १८८

एक दिन आजीविकोपासक सकडालपुत्र हवा लगे हुए मिट्टी के बर्तन कर्मशाला के भीतर से बाहर लाया और उसने उन्हें धूप में रखा।

१९६. तए णं से समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलालभंडे कओ[1] ?

भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडालपुत्र ! ये मिट्टी के बर्तन कैसे बने ?

१९७. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—एस णं भंते ! पुव्वि मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निमिज्जइ, निमिज्जित्ता छारेण य करिसेण य एगयाओ मीसिज्जइ, मीसिज्जित्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य जाव[2] उट्टियाओ य कज्जंति।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर से बोला—भगवन् ! पहले मिट्टी को पानी के साथ गूंधा जाता है, फिर राख और गोबर के साथ उसे मिलाया जाता है, यों मिला कर उसे चाक पर रखा जाता है, तब बहुत से करवे, (गडुए, पराते या कूंडे, घडे, अधघड़े, कलसे, बड़े मटके, सुराहियां) तथा कूपे बनाए जाते हैं।

१९८. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलाल-भंडे किं उट्ठाणेणं जाव[3] पुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव[4] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति ?

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से पूछा—सकडालपुत्र ! ये मिट्टी के बर्तन क्या प्रयत्न, पुरुषार्थ एव उद्यम द्वारा बनते हैं, अथवा प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम के बिना बनते हैं ?

१९९. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव[5] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं। नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[6] परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर से कहा—भगवन् ! प्रयत्न, पुरुषार्थ

१. 'कहकतो ? —अगसुत्ताणि पृ ४०५
२. देखें सूत्र १८४
३ देखें सूत्र-सख्या १६९
४. देखें सूत्र-सख्या १६९
५. देखें सूत्र-सख्या १६९
६. देखें सूत्र-संख्या १६९

तथा उद्यम के बिना बनते हैं। प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम का कोई अस्तित्व या स्थान नही है, सभी भाव--होने वाले कार्य नियत—निश्चित हैं।

२००. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरेज्जा वा विक्खरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि?

भंते! अहं णं तं पुरिसं निब्भच्छेज्जा वा हणेज्जा वा बंधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा।

सद्दालपुत्ता! नो खलु तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरइ वा जाव (विक्खरइ वा भिंदइ वा अच्छिंदइ वा) परिट्ठवइ वा, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव (बंधेज्जसि वा महेज्जसि वा तज्जेज्जसि वा तालेज्जसि वा निच्छोडेज्जसि वा निब्भच्छेज्जसि वा) अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि; जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[1] परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा।

अह णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं जाव (वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरइ वा विक्खरइ वा भिंदइ वा अच्छिंदइ वा) परिट्ठवेइ वा, अग्गिमित्ताए वा जाव (भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे) विहरइ, तुमं वा तं पुरिसं आओसेसि वा जाव (हणेसि वा बंधेसि वा महेसि वा तज्जेसि वा तालेसि वा निच्छोडेसि वा निब्भच्छेसि वा अकाले चेव जीवियाओ) ववरोवेसि। तो जं वदसि—नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[2] नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडालपुत्र! यदि कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप मे सुखाए हुए मिट्टी के बर्तनों को चुरा ले या बिखेर दे या उनमें छेद कर दे या उन्हे फोड दे या उठाकर बाहर डाल दे अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग भोगे, तो उस पुरुष को तुम क्या दड दोगे?

सकडालपुत्र बोला—भगवन्! मैं उसे फटकारूंगा या पीटूंगा या बांध दूंगा या रौंद डालूंगा या तर्जित करूंगा--धमकाऊंगा या थप्पड-घूंसे मारूंगा या उसका धन आदि छीन लूंगा या कठोर वचनो से उसकी भर्त्सना करूंगा या असमय में ही उसके प्राण ले लूंगा।

भगवान् महावीर बोले—सकडालपुत्र! यदि प्रयत्न, पुरुषार्थ एव उद्यम नही है, सभी होने वाले कार्य निश्चित हैं तो कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप मे सुखाए हुए मिट्टी के बर्तनो को नही चुराता है, (नही बिखेरता है, न उनमें छेद करता है, न उन्हे फोडता है), न उन्हें उठाकर बाहर डालता है और न तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग ही भोगता है, न तुम उस पुरुष को फटकारते हो, न पीटते हो, (न बांधते हो, न रौंदते हो, न तर्जित करते हो, न थप्पड-घूंसे मारते हो, न उसका धन छीनते हो, न कठोर वचनों से उसकी भर्त्सना करते हो), न असमय में ही उसके प्राण लेते हो (क्योंकि यह सब जो हुआ, नियत था)।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १६९

२. देखें सूत्र-संख्या १६९

यदि तुम मानते हो कि वास्तव में कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप में सुखाए मिट्टी के बर्तनो को (चुराता है या बिखेरता है या उनमें छेद करता है या उन्हें फोड़ता है या) उठाकर बाहर डाल देता है अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग भोगता है, तुम उस पुरुष को फटकारते हो (या पीटते हो या बाधते हो या रौंदते हो या तर्जित करते हो या थप्पड़-घूंसे मारते हो या उसका धन छीन लेते हो या कठोर वचनो से उसकी भर्त्सना करते हो) या असमय में ही उसके प्राण ले लेते हो, तब तुम प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि के न होने की तथा होने वाले सब कार्यों के नियत होने की जो बात कहते हो, वह असत्य है।

बोधिलाभ

२०१. एत्थ णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे।

इससे आजीविकोपासक सकडालपुत्र को सबोध प्राप्त हुआ।

२०२. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामेत्तए।

सकडालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और उनसे कहा—भगवन्! मै आपसे धर्म सुनना चाहता हू।

२०३. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव[1] धम्मं परिकहेइ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र को तथा उपस्थित परिषद् को धर्मोपदेश दिया।

सकडालपुत्र एवं अग्निमित्रा द्वारा व्रत-ग्रहण

२०४. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव[2] हियए जहा आणंदो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एगा हिरण्णकोडी वुड्ढि-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए, दस गो-साहस्सिएणं वएणं जाव समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गिमित्तं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे जाव[3] समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं, समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव[4] पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जाहि।

---

१. देखे सूत्र-सख्या ११
२. देखें सूत्र-सख्या १२
३. देखें सूत्र-संख्या ९
४. देखें सूत्र-सख्या ५८

आजीविकोपासक सकडालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर अत्यन्त प्रसन्न एवं संतुष्ट हुआ और उसने आनन्द की तरह श्रावक-धर्म स्वीकार किया। आनन्द से केवल इतना अन्तर था, सकडालपुत्र के परिग्रह के रूप में एक करोड स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार मे लगी थी तथा एक करोड स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके एक गोकुल था, जिसमें दस हजार गाये थी।

सकडालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वदन-नमस्कार किया। वदन-नमस्कार कर वह वहां से चला, पोलासपुर नगर के बीच से गुजरता हुआ, अपने घर अपनी पत्नी अग्निमित्रा के पास आया और उससे बोला—देवानुप्रिये! श्रमण भगवान् महावीर पधारे है, तुम जाओ, उनकी वदना, पर्युपासना करो, उनसे पाच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म स्वीकार करो।

२०५. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ।

श्रमणोपासक सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने 'आप ठीक कहते है' यो कहकर विनय-पूर्वक अपने पति का कथन स्वीकार किया।

२०६. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया! लहुकरण-जुत्त-जोइयं, समखुर-वालिहाण-समलिहिय-सिंगएहिं, जंबूणया-मय-कलाव-जोत्त-पइविसिट्ठएहिं, रययामय-घंटसुत्त-रज्जुग-वरकंचण-खइय-नत्था-पग्गहोग्गहियएहिं, नीलुप्पल-कयामेलएहिं, पवर-गोण-जुवाणएहिं, नाणा-मणि-कणग-घंटिया-जालपरिगयं, सुजाय-जुग-जुत्त, उज्जुग-पसत्थसुविरइय-निम्मियं, पवर-लक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाण-प्पवरं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

तब श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने अपने सेवको को बुलाया और कहा—देवानुप्रियो! तेज चलने वाले, एक जैसे खुर, पूंछ तथा अनेक रगो से चित्रित सीग वाले, गले में सोने के गहने और जोत धारण किए, गले से लटकती चाँदी की घटियों सहित नाक में उत्तम सोने के तारों से मिश्रित पतली सी सूत की नाथ से जुड़ी रास के सहारे वाहकों द्वारा सम्हाले हुए, नीले कमलो से बने आभरणयुक्त मस्तक वाले, दो युवा बैलो द्वारा खीचे जाते, अनेक प्रकार की मणियों और सोने की बहुत-सी घटियो से युक्त, बढिया लकडी के एकदम सीधे, उत्तम और सुन्दर बने हुए जुए सहित, श्रेष्ठ लक्षणो से युक्त धार्मिक—धार्मिक कार्यों मे उपयोग में आने वाला यानप्रवर—श्रेष्ठ रथ तैयार करो, तैयार कर शीघ्र मुझे सूचना दो।

२०७ तए णं ते कोडुंबिय-पुरिसा जाव (सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया, करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामि!' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं जाव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेत्ता तमाणत्तियं) पच्चप्पिणंति।

श्रमणोपासक सकडालपुत्र द्वारा यों कहे जाने पर सेवकों ने (अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव करते हुए, अतीव सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित हृदय हो, हाथ जोड़े, सिर के चारो ओर घुमाए तथा अंजलि बांधे 'स्वामी' यों आदरपूर्ण शब्द से सकडालपुत्र को सम्बोधित—प्रत्युत्तरित करते हुए उनका कथन स्वीकृतिपूर्ण भाव से विनयपूर्वक सुना। सुनकर तेज चलने वाले बैलों द्वारा खींचे जाते उत्तम यान को शीघ्र ही उपस्थित किया।

२०७. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव (कयबलिकम्मा, कयकोउय-मंगल-) पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव (मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया) अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा, चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडिया-चक्कवाल-परिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव (आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता) वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव (सुस्सूसमाणा, नमंसमाणा अभिमुहे विणएणं) पंजलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ।

तब सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने स्नान किया, (नित्य-नैमित्तिक कार्य किए, देह-सज्जा की, दु:स्वप्न आदि दोष-निवारण हेतु मगल-विधान किया), शुद्ध, सभायोग्य (मांगलिक, उत्तम) वस्त्र पहने, थोडे-से बहुमूल्य आभूषणो से देह को अलकृत किया। दासियो के समूह से घिरी वह धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई, सवार होकर पोलासपुर नगर के बीच से गुजरती सहस्राम्रवन उद्यान में आई, धार्मिक उत्तम रथ से नीचे उतरी, दासियो के समूह से घिरी जहाँ भगवान् महावीर विराजित थे, वहाँ गई, जाकर (तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की), वदन-नमस्कार किया, भगवान् के न अधिक निकट न अधिक दूर सम्मुख अवस्थित हो नमन करती हुई, सुनने की उत्कठा लिए, विनयपूर्वक हाथ जोडे पर्युपासना करने लगी।

२०९. तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य जाव[1] धम्मं कहेइ।

श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा को तथा उपस्थित परिषद् को धर्मोपदेश दिया।

२१०. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, निसम्म हट्ठ-तुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—सद्दहामि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं जाव (पत्तियामि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं, भंते!) से जहेयं तुब्भे वयह। जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा, भोगा जाव (राइण्णा, खत्तिया, माहणा, भडा, जोहा, पसत्थारो, मल्लई, लेच्छई, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा भवित्ता जाव

---

१. देखें सूत्र-संख्या ११

(अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ।) अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि ।

अहासुहं, देवाणुप्पिया ! मा पडिबधं करेह ।

सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हर्षित एव परितुष्ट हुई । उसने भगवान् को वदन-नमस्कार किया । वदन-नमस्कार कर वह बोली—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे श्रद्धा है, (विश्वास है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मुझे रुचिकर है, भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह तथ्य है, सत्य है, इच्छित है, प्रतीच्छित है, इच्छित-प्रतीच्छित है,) जैसा आपने प्रतिपादित किया, वैसा ही है । देवानुप्रिय ! जिस प्रकार आपके पास बहुत से उग्र—आरक्षक-अधिकारी, भोग—राजा के मन्त्री-मण्डल के सदस्य (राजन्य—राजा के परामर्शक मण्डल के सदस्य, क्षत्रिय—क्षत्रिय वंश के राज-कर्मचारी, ब्राह्मण, सुभट, योद्धा—युद्धोपजीवी—सैनिक, प्रशास्ता—प्रशासन-अधिकारी, मल्लकि—मल्ल-गणराज्य के सदस्य, लिच्छिवि—लिच्छिवि गणराज्य के सदस्य तथा अन्य अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, माडबिक, कौटुम्बिक, धनी, श्रेष्ठी सेनापति एवं सार्थवाह) आदि मु डित होकर, गृहवास का परित्याग कर अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित हुए, मैं उस प्रकार मु डित होकर (गृहवास का परित्याग कर अनगार-धर्म मे) प्रव्रजित होने मे असमर्थ हू । इसलिए आपके पास पाच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म ग्रहण करना चाहती हूं ।

अग्निमित्रा के यों कहने पर भगवान् ने कहा—देवानुप्रिये ! जिससे तुमको सुख हो, वैसा करो, विलम्ब मत करो ।

विवेचन

इस सूत्र में आए मल्लकि और लिच्छिवि नाम भारतीय इतिहास के एक बडे महत्त्वपूर्ण समय की ओर सकेत करते हैं । वैसे आज बोलचाल मे यूरोप को, विशेषत इग्लैण्ड को प्रजातन्त्र का जन्मस्थान (mother of democracy) कह दिया जाता है, पर भारतवर्ष मे प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का सफल प्रयोग सहस्राब्दियो पूर्व हो चुका था । भगवान् महावीर एव बुद्ध के समय आज के पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार में अनेक ऐसे राज्य थे, जहाँ उस समय की अपनी एक विशेष गणतन्त्रात्मक प्रणाली से जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि शासन करते थे । शब्द उनके लिए भी राजा था, पर वह वश-क्रमागत राज्य के स्वामी का द्योतक नही था । भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ तथा बुद्ध के पिता शुद्धोधन दोनो के लिए राजा शब्द आया है, पर वे सघ-राज्यो के निर्वाचित राजा या शासन-परिषद् के सदस्य थे, जिन पर एक क्षेत्र-विशेष के शासन का उत्तरदायित्व था ।

प्राचीन पाली तथा प्राकृत ग्रन्थो मे इन सघ-राज्यों का अनेक स्थानो पर वर्णन आया है । कुछ सघ मिल कर अपना एक वृहत् संघ भी बना लेते थे । ऐसे सघो में वज्जिसघ प्रसिद्ध था, जिसमें मुख्यत· लिच्छिवि, नाय (ज्ञातृक) तथा वज्जि आदि सम्मिलित थे । उस समय के सघ-राज्यों में कपिलवस्तु के शाक्य, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलिवन के मौर्य, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवि तथा नाय बहुत प्रसिद्ध थे । यहा प्रयुक्त मल्लकि शब्द मल्ल सघ-राज्य से सम्बद्ध जनों के लिए तथा लिच्छिवि शब्द लिच्छिवि सघ-राज्य से सम्बद्ध जनों के लिए है । भगवान् महावीर के

पिता सिद्धार्थ लिच्छिवि और नाय सघ से सम्बद्ध थे। लिच्छिवि सघ-राज्य के प्रधान चेटक थे, जिनकी बहिन त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। अर्थात् चेटक भगवान् महावीर के मामा थे। कल्पसूत्र में एक ऐसे सघीय समुदाय का उल्लेख है, जिसमें नौ मल्लकि, नौ लिच्छिवि तथा काशी, कोसल के १८ गणराज्य सम्मिलित थे। यह सगठन चेटक के नेतृत्व में हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य कुणिक अजातशत्रु के आक्रमण का सामना करना था।

इन सघराज्यों की संसदो, व्यवस्था, प्रशासन इत्यादि का जो वर्णन हम पाली, प्राकृत ग्रन्थो में पढ़ते हैं, उससे प्रकट होता है कि हमारे देश में जनतन्त्रात्मक प्रणाली के सन्दर्भ में सहस्रो वर्ष पूर्व बडी गहराई से चिन्तन हुआ था। संघ की एक सभा होती थी, वह शासन और न्याय दोनों का काम करती थी। सघ का प्रधान, जो अध्यक्षता करता था, मुख्य राजा कहलाता था। संघ की एक राजधानी होती थी, जहा सभाओ का आयोजन होता था। लिच्छिवियो की राजधानी वैशाली थी। उस समय हमारा देश धन, धान्य और समृद्धि में चरम उत्कर्ष पर था। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय वैशाली बडी समृद्ध और उन्नत नगरी थी। एक तिब्बती उल्लेख के अनुसार वैशाली तीन भागो में विभक्त थी, जिनमे क्रमश सात हजार, चौदह हजार तथा इक्कीस हजार घर थे। वैशाली उस समय की महानगरी थी, इसलिए ये तीन विभाग सभवत: वैशाली, कु डपुर और वाणिज्यग्राम हो। भगवान् महावीर का एक विशेष नाम वेसालिय (वैशाली से सम्बद्ध) भी है। भगवान् महावीर लिच्छिवि सघ के अन्तर्गत नाय (ज्ञात) सघ से सम्बद्ध थे।

२११. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुवइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालस-विहं सावग-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया, तामेव दिसिं पडिगया।

तब अग्निमित्रा ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पाच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावकधर्म स्वीकार किया, श्रमण भगवान् महावीर को वदन-नमस्कार किया। वदन-नमस्कार कर उसी उत्तम धार्मिक रथ पर सवार हुई तथा जिस दिशा से आई थी उसी की ओर लौट गई।

भगवान् का प्रस्थान

२१२. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलासपुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ उज्जाणाओ पडिनिग्गच्छइ, पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहार विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर पोलासपुर नगर से, सहस्राम्रवन उद्यान से प्रस्थान कर एक दिन अन्य जनपदो में विहार कर गए।

२१३, तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव[1] विहरइ।

तत्पश्चात् सकडालपुत्र जीव-अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञाता श्रमणोपासक हो गया। धार्मिक जीवन जीने लगा।

गोशालक का आगमन

२१४. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं पडिवन्ने। तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीवियो-

---

१. देखें सूत्र-संख्या ६४

वासयं समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठिं गेण्हावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता आजीविय-संघसंपरिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीवियसभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भंडग-निक्खेवं करेइ, करेत्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ।

कुछ समय बाद मखलिपुत्र गोशालक ने यह सुना कि सकडालपुत्र आजीविक-सिद्धान्त को छोड़ कर श्रमण-निर्ग्रन्थों की दृष्टि—दर्शन या मान्यता स्वीकार कर चुका है, तब उसने विचार किया कि मैं आजीविकोपासक सकडालपुत्र के पास जाऊँ और श्रमण निर्ग्रन्थो की मान्यता छुडाकर उसे फिर आजीविक-सिद्धान्त ग्रहण करवाऊं। यों विचार कर वह आजीविक सघ के साथ पोलासपुर नगर में आया, आजीविक-सभा मे पहुंचा, वहा अपने पात्र, उपकरण रखे तथा कतिपय आजीविकों के साथ जहा सकडालपुत्र था, वहा गया।

सकडालपुत्र द्वारा उपेक्षा

२१५. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ।

श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक को आते हुए देखा। देखकर न उसे आदर दिया और न परिचित जैसा व्यवहार ही किया। आदर न करता हुआ, परिचित का सा व्यवहार न करता हुआ, अर्थात् उपेक्षाभावपूर्वक वह चुपचाप बैठा रहा।

गोशालक द्वारा भगवान् का गुण-कीर्तन

२१६. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलग-सिज्जा-संथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुणकित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—आगए णं, देवाणुप्पिया! इहं महामाहणे?

श्रमणोपासक सकडालपुत्र से आदर न प्राप्त कर, उसका उपेक्षा भाव देख मखलिपुत्र गोशालक पीठ, फलक, शय्या तथा संस्तारक आदि प्राप्त करने हेतु श्रमण भगवान् महावीर का गुण-कीर्तन करता हुआ श्रमणोपासक सकडालपुत्र से बोला—देवानुप्रिय! क्या यहा महामाहन आए थे?

२१७. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसाल मंखलिपुत्तं एवं वयासी—के णं, देवाणुप्पिया! महामाहणे?

श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—देवानुप्रिय! कौन महामाहन? (आपका किससे अभिप्राय है?)

२१८. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—समणे भगवं महावीरे महामाहणे।

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे?

एवं खलु, सद्दालपुत्ता! समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव[1] महिय-पूइए जाव[2] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे।

आगए णं देवाणुप्पिया! इहं महागोवे?

---

१ देखें सूत्र-सख्या १८८

२. देखें सूत्र-संख्या १८८

के णं, देवाणुप्पिया ! महागोवे ?

समणे भगवं महावीरे महागोवे ।

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! जाव (एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे) महागोवे ।

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे, लुप्पमाणे, विलुप्पमाणे, धम्ममएणं दंडेणं सारक्खमाणे, संगोवेमाणे, निव्वाण-महावाडं साहत्थिं संपावेइ । से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महागोवे ।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?

के णं, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?

सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे ।

से केणट्ठेणं ?

एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, जाव (खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे, लुप्पमाणे,) विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे निव्वाण-महापट्टणाभिमुहे साहत्थिं संपावेइ । से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे ।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही !

के णं, देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?

समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ।

से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ?

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे महइ-महालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे, लुप्पमाणे, विलुप्पमाणे, उम्मग्गपडिवन्ने, सप्पह-विप्पणट्ठे मिच्छत्त-बलाभिभूए, अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहिं अट्ठेहि य जाव[1] वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकंताराओ साहत्थिं नित्थारेइ । से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?

के णं, देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए ?

समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए ।

से केणट्ठेणं ?

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसार-महा-समुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे जाव[2] विलुप्पमाणे बुड्डमाणे, निबुड्डमाणे, उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण-तीराभिमुहे साहत्थिं संपावेइ । से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए ।

मखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र से कहा—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं ।

---

१ देखें सूत्र-सख्या १७५

२. देखें सूत्र यही

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर को महामाहन किस अभिप्राय से कहते हो ?

गोशालक—सकडालपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, तीनों लोकों द्वारा सेवित एव पूजित हैं, सत्कर्मसम्पत्ति से युक्त हैं, इसलिए मैं उन्हें महामाहन कहता हूं।

गोशालक ने फिर कहा—क्या यहां महागोप आए थे ?

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कौन महागोप ? (महागोप से आपका क्या अभिप्राय ?)

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं।

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! उन्हें आप किस अर्थ में महागोप कह रहे है ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस ससार रूपी भयानक वन में अनेक जीव नश्यमान हैं—सन्मार्ग से च्युत हो रहे हैं, विनश्यमान हैं—प्रतिक्षण मरण प्राप्त कर रहे हैं, खाद्यमान हैं—मृग आदि की योनि में शेर-बाघ आदि द्वारा खाए जा रहे हैं, छिद्यमान हैं—मनुष्य आदि योनि मे तलवार आदि से काटे जा रहे हैं, भिद्यमान हैं—भाले आदि द्वारा बींधे जा रहे हैं, लुप्यमान हैं—जिनके कान, नासिका आदि का छेदन किया जा रहा है, विलुप्यमान हैं—जो विकलाग किए जा रहे हैं, उनका धर्म रूपी दड से रक्षण करते हुए, सगोपन करते हुए—बचाते हुए, उन्हे मोक्ष रूपी विशाल बाड़े मे सहारा देकर पहुचाते हैं। सकडालपुत्र ! इसलिए श्रमण भगवान् महावीर को मैं महागोप कहता हू।

गोशालक ने फिर कहा—देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महासार्थवाह आए थे ?

सकडालपुत्र—महासार्थवाह आप किसे कहते हैं ?

गोशालक—सकाडलपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह है।

सकडालपुत्र—किस प्रकार ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस ससार रूपी भयानक वन मे बहुत से जीव नश्यमान, विनश्यमान, (खाद्यमान, छिद्यमान, भिद्यमान, लुप्यमान) एवं विलुप्यमान हैं, धर्ममय मार्ग द्वारा उनकी सुरक्षा करते हुए—धर्ममार्ग पर उन्हे आगे बढाते हुए, सहारा देकर मोक्ष रूपी महानगर मे पहुचाते हैं। सकडालपुत्र ! इस अभिप्राय से मैं उन्हे महासार्थवाह कहता हू।

गोशालक—देवानुप्रिय ! क्या महाधर्मकथी यहा आए थे ?

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कौन महाधर्मकथी ? (आपका किनसे अभिप्राय है ?)

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।

सकडालपुत्र—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी किस अर्थ मे हैं ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस अत्यन्त विशाल ससार में बहुत से प्राणी नश्यमान, विनश्यमान, खाद्यमान, छिद्यमान, भिद्यमान, लुप्यमान हैं, विलुप्यमान हैं, उन्मार्गगामी हैं, सत्पथ से भ्रष्ट हैं, मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, आठ प्रकार के कर्म रूपी अन्धकार-पटल के पर्दे से ढके हुए हैं, उनको अनेक प्रकार से सत् तत्त्व समझाकर, विश्लेषण कर, चार—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक गतिमय संसार रूपी भयावह वन से सहारा देकर निकालते हैं, इसलिए देवानुप्रिय ! मैं उन्हें महाधर्मकथी कहता हूं।

गोशालक ने पुनः पूछा—देवानुप्रिय ! क्या यहां महानिर्यामक आए थे ?

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कौन महानिर्यामक ?

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक हैं ।

सकडालपुत्र—किस प्रकार ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! ससार रूपी महासमुद्र में बहुत से जीव नश्यमान, विनश्यमान एव विलुप्यमान हैं, डूब रहे हैं, गोते खा रहे हैं, बहते जा रहे हैं, उनको सहारा देकर धर्ममयी नौका द्वारा मोक्ष रूपी किनारे पर ले जाते हैं । इसलिए मैं उनको महानिर्यामक-कर्णधार या महान् खेवैया कहता हूं ।

विवेचन

इस सूत्र में भगवान् महावीर की अनेक विशेषताओं को सूचित करने वाले कई विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें 'महागोप' तथा 'महासार्थवाह' भी हैं । ये दोनो बडे महत्त्वपूर्ण हैं ।

भगवान् महावीर का समय एक ऐसा युग था, जिसमें गोपालन का देश मे बहुत प्रचार था । उस समय के बडे गृहस्थ हजारो की सख्या में गाये रखते थे । जैसा पहले वर्णित हुआ है, गोधन जहा समृद्धि का द्योतक था, उपयोगिता और अधिक से अधिक लोगो को काम देने की दृष्टि से भी उसका महत्त्व था । ऐसे गो-प्रधान युग मे गायों की देखभाल करने वाले का—गोप का—भी कम महत्त्व नही था । भगवान् 'महागोप' के रूपक द्वारा यहा जो वर्णित हुए है, उसके पीछे समाज की गोपालनप्रधान वृत्ति का संकेत है । गायो को नियन्त्रित रखने वाला गोप उन्हे उत्तम घास आदि चरने के लोभ मे भटकने नही देता, खोने नही देता, चरा कर उन्हे सायंकाल उनके बाड़े मे पहुंचा देता है, उसी प्रकार भगवान् के भी ऐसे लोक-संरक्षक एव कल्याणकारी रूप की परिकल्पना इसमें है, जो प्राणियो को ससार में भटकने से बचाकर मोक्ष रूप बाडे में निर्विघ्न पहुंचा देते हैं ।

'महासार्थवाह' शब्द भी अपने आप में बडा महत्त्वपूर्ण है । सार्थवाह उन दिनों उन व्यापारियों को कहा जाता था, जो दूर-दूर भू-मार्ग से या जल-मार्ग से लम्बी यात्राए करते हुए व्यापार करते थे । वे यदि भूमार्ग से वैसी यात्राओ पर जाते तो अनेक गाड़े-गाड़ियां माल से भर कर ले जाते, जहा लाभ मिलता बेच देते, वहा दूसरा सस्ता माल भर लेते । यदि ये यात्राए समुद्री मार्ग से होती तो जहाज ले जाते । यात्राए काफी लम्बे समय की होती थी, जहाज में बेचने के माल के साथ-साथ उपयोग की सारी चीजें भी रखी जातीं, जैसे पीने का पानी, खाने की चीजे, औषधिया आदि । इन यात्राओ का सचालक सार्थवाह कहा जाता था ।

ऐसे सार्थवाह की खास विशेषता यह होती, जब वह ऐसी व्यापारिक यात्रा करना चाहता, सारे नगर में खुले रूप में घोषित करवाता, जो भी व्यापार हेतु इस यात्रा मे चलना चाहे, अपने सामान के साथ गाडे-गाडियो या जहाज में आ जाय, उसकी सब व्यवस्थाए सार्थवाह की ओर से होगी । आगे पैसे की कमी पड़ जाय तो सार्थवाह उसे भी पूरी करेगा । इससे थोड़े माल वाले छोटे व्यापारियों को बडी सुविधा होती, क्योंकि अकेले यात्रा करने के साधन उनके पास होते नहीं थे'

लम्बी यात्राओं में लूट-खसोट का भी भय था, जो सार्थ मे नही होता, क्योंकि सार्थवाह आरक्षकों का एक शस्त्र-सज्जित दल भी अपने साथ लिए रहता था।

यो छोटे व्यापारी अपने अल्पतम साधनो से भी दूर-दूर व्यापार कर पाने में सहारा पा लेते। सामाजिकता की दृष्टि से वास्तव में यह परम्परा बडी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिए उन दिनो सार्थवाह की बड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान था।

जैन आगमो में ऐसे अनेक सार्थवाहो का वर्णन है। उदाहरणार्थ, नायाधम्मकहाओ के १५वे अध्ययन में धन्य सार्थवाह का वर्णन है। जब वह चपा से अहिच्छत्रा की व्यापारिक यात्रा करना चाहता है तो वह नगर मे सार्वजनिक रूप में इसी प्रकार की घोषणा कराता है कि उसके सार्थ में जो भी चलना चाहे, सहर्ष चले।

आचार्य हरिभद्र ने समरादित्यकथा के चौथे भव मे धन नामक सार्थवाहपुत्र की ऐसी ही यात्रा की चर्चा की है, जब वह अपने निवास-स्थान सुशर्मनगर से ताम्रलिप्ति जा रहा था। उसने भी इसी प्रकार से अपनी यात्रा की घोषणा करवाई।

भगवान् महावीर को 'महासार्थवाह' के रूपक से वर्णित करने के पीछे महासार्थवाह शब्द के साथ रहे सामाजिक सम्मान का सूचन है। जैसे महासार्थवाह सामान्य जनो को अपने साथ लिए चलता है, बहुत बडी व्यापारिक मडी पर पहुचा देता है, वैसे ही भगवान् महावीर ससार में भटकते प्राणियो को मोक्ष—जो जीवन-व्यापार का अन्तिम लक्ष्य है, तक पहुंचने मे सहारा देते है।

२१९. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया! इयच्छेया जाव (इयदच्छा, इयपट्ठा,) इयनिउणा, इय-नयवादी, इय-उवएसलद्धा, इय-विण्णाण-पत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए?

नो तिणट्ठे समट्ठे!

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया! एवं वुच्चइ नो खलु पभू तुब्भे ममं धम्मायरिएणं जाव (धम्मो-वएसएणं, समणेणं भगवया) महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए?

सद्दालपुत्ता! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं जाव (बलवं, अप्पायंके, थिरग्गहत्थे, पडिपुण्णपाणिपाए, पिट्ठंतरोरुसंघायपरिणए, घणनिचियवट्टपालिखंधे, लंघण-पवण-जइण-वायाम-समत्थे, चम्मेट्ठ-दुघण-मुट्ठिय-समाहय-निचिय-गत्ते, उरस्सबलसमन्नागए, तालजमलजुयलबाहू, छेए, दक्खे, पत्तट्ठे) निउण-सिप्पोवगए एगं महं अयं वा, एलयं वा, सूयरं वा, कुक्कुडं वा, तित्तिरं वा, वट्टयं वा, लावयं वा, कवोयं वा, कविजलं वा, वायसं वा, सेणयं वा हत्थंसि वा, पायंसि वा, खुरंसि वा, पुच्छंसि वा, पिच्छंसि वा, सिंगंसि वा, विसाणंसि वा, रोमंसि वा जहिं जहिं गिण्हइ, तहिं तहिं निच्चलं निप्फंदं धरेइ। एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य जाव (पसिणेहि य कारणेहि य) वागरणेहि य जहिं जहिं गिण्हइ तहिं तहिं निप्पट्ठ-पसिण-वागरणं करेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता! एवं वुच्चइ नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं, जाव[1] महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए।

---

१ देखें सूत्र यही

तत्पश्चात् श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मखलिपुत्र गोशालक से कहा—देवानुप्रिय ! आप इतने छेक, विचक्षण (दक्ष-चतुर, प्रष्ठ—वाग्मी—वाणी के धनी), निपुण—सूक्ष्मदर्शी, नयवादी-नीति-वक्ता, उपदेशलब्ध—आप्तजनों का उपदेश प्राप्त किए हुए—बहुश्रुत, विज्ञान-प्राप्त—विशेष बोधयुक्त हैं, क्या आप मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक भगवान् महावीर के साथ तत्त्वचर्चा करने में समर्थ हैं ?

गोशालक—नही, ऐसा सभव नहीं है।

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कैसे कह रहे है कि आप मेरे धर्माचार्य (धर्मोपदेशक श्रमण भगवान्) महावीर के साथ तत्त्वचर्चा करने में समर्थ नही हैं ?

गोशालक—सकडालपुत्र ! जैसे कोई बलवान्, नीरोग, उत्तम लेखक की तरह अगुलियो की स्थिर पकडवाला, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण, परिपुष्ट हाथ-पैरवाला, पीठ, पार्श्व, जघा आदि सुगठित अगयुक्त—उत्तम सहननवाला, अत्यन्त सघन, गोलाकार तथा तालाब की पाल जैसे कन्धोवाला, लघन-अतिक्रमण—कूद कर लम्बी दूरी पार करना, प्लवन—ऊँचाई मे कूदना आदि वेगपूर्वक या शीघ्रता से किए जाने वाले व्यायामो मे सक्षम, इंटो के टुकड़ो से भरे हुए चमड़े के कूपे, मुग्दर आदि द्वारा व्यायाम का अभ्यासी, मौष्टिक—चमड़े की रस्सी में पिरोए हुए मुट्ठी के परिमाण वाले गोलाकार पत्थर के टुकड़े—व्यायाम करते समय इनसे ताडित होने से जिनके अङ्ग चिह्नित हैं—यो व्यायाम द्वारा जिसकी देह सुदृढ तथा सामर्थ्यशाली है, आन्तरिक उत्साह व शक्तियुक्त, ताड के दो वृक्षों की तरह सुदृढ एव दीर्घ भुजाओ वाला, सुयोग्य, दक्ष—शीघ्रकारी, प्राप्तार्थ—कर्म-निष्णात, निपुण-शिल्पोपगत—शिल्प या कला की सूक्ष्मता तक पहुँचा हुआ कोई युवा पुरुष एक बड़े बकरे, मेंढे, सूअर, मुर्गे, तीतर, बटेर, लवा, कबूतर, पपीहे, कौए या बाज के पजे, पैर, खुर, पूछ, पख, सीग, रोम जहाँ से भी पकड लेता है, उसे वही निश्चल—गतिशून्य तथा निष्पन्द—हलन-चलन रहित कर देता है, इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर मुझे अनेक प्रकार के तात्त्विक अर्थों, हेतुओ (प्रश्नों, कारणो) तथा विश्लेषणो द्वारा जहाँ-जहाँ पकड लेंगे, वही-वही मुझे निरुत्तर कर देंगे। सकडालपुत्र ! इसीलिए कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर के साथ मैं तत्त्वचर्चा करने में समर्थ नही हूँ।

गोशालक का कुंभकारापण में आगमन

२२०. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एवं वयासी—जम्हा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव (धम्मोवएसगस्स, समणस्स भगवओ) महावीरस्स संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह, तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-) संथारएणं उवनिमंतेमि, नो चेव णं धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा। तं गच्छह णं तुब्भे मम कुंभारावणेसु पाडिहारियं पीढ-फलग जाव (सेज्जा-संथारयं) ओगिण्हित्ताणं विहरह।

तब श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने गोशालक मखलिपुत्र से कहा—देवानुप्रिय ! आप मेरे धर्माचार्य (धर्मोपदेशक श्रमण भगवान्) महावीर का सत्य, यथार्थ, तथ्य तथा सद्भूत भावों से गुण-कीर्तन कर रहे हैं, इसलिए मैं आपको प्रातिहारिक पीठ, (फलक, शय्या) तथा संस्तारक हेतु आमन्त्रित करता हू, धर्म या तप मानकर नही। आप मेरे कुंभकारापण—बर्तनों की कर्मशाला में प्रातिहारिक पीठ, फलक, (शय्या तथा सस्तारक) ग्रहण कर निवास करे।

२२१. तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ,

पडिसुणेत्ता कुंभारावणेसु पाडिहारियं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-संथारयं) ओगिण्हित्ताणं विहरइ।

मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र का यह कथन स्वीकार किया और वह उसकी कर्म-शालाओं मे प्रातिहारिक पीठ, (फलक, शय्या, संस्तारक) ग्रहण कर रह गया।

निराशापूर्ण गमन

२२२. तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

मखलिपुत्र गोशालक आख्यापना—अनेक प्रकार से कहकर, प्रज्ञापना—भेदपूर्वक तत्त्व निरूपण कर, सज्ञापना—भली भाति समझा कर तथा विज्ञापना—उसके मन के अनुकूल भाषण करके भी जब श्रमणोपासक सकडालपुत्र को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित—विपरीत परिणाम युक्त नही कर सका—उसके मनोभावो को बदल नही सका तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर पोलासपुर नगर से प्रस्थान कर अन्य जनपदो मे विहार कर गया।

देवकृत उपसर्ग

२२३. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील-जाव[1] भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्व-रत्तावरत्त-काले जाव[2] पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

तदनन्तर श्रमणोपासक सकडालपुत्र को व्रतो की उपासना द्वारा आत्म-भावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जब पन्द्रहवा वर्ष चल रहा था, तब एक बार आधी रात के समय वह श्रमण भगवान् महावीर के पास अगीकृत धर्मप्रज्ञप्ति के अनुरूप पोषधशाला मे उपासनारत था।

२२४. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था।

अर्ध-रात्रि में श्रमणोपासक सकडालपुत्र के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

२२५. तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[3] असिं गहाय सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी-जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ। नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-सोल्लए करेइ जाव[4] कनीयसं घाएइ, घाएत्ता जाव[5] आयंचइ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या १२२
२. देखें सूत्र-सख्या ९२
३ देखें सूत्र-सख्या ११६
४. देखें सूत्र-सख्या १३६
५ देखें सूत्र-सख्या १३६

उस देव ने एक बड़ी, नीली तलवार निकाल कर श्रमणोपासक सकडालपुत्र से उसी प्रकार कहा, वैसा ही उपसर्ग किया, जैसा चुलनीपिता के साथ देव ने किया था। सकडालपुत्र के बड़े, मझले व छोटे बेटे की हत्या की, उनका मांस व रक्त उस पर छिड़का। केवल यही अन्तर था कि यहां देव ने एक-एक पुत्र के नौ-नौ मास-खंड किए।

२२६. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव[1] विहरइ।

ऐसा होने पर भी श्रमणोपासक सकडालपुत्र निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान मे लगा रहा।

२२७. तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अभीयं जाव[2] पासित्ता चउत्थं पि सद्दाल-पुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! सद्दालपुत्ता! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! जाव[3] न भंजेसि तओ जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-विइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, सम-सुह-दुक्ख-सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता नव मंस-सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव (वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

उस देव ने जब श्रमणोपासक सकडालपुत्र को निर्भीक देखा, तो चौथी बार उसको कहा—मौत को चाहनेवाले श्रमणोपासक सकडालपुत्र! यदि तुम अपना व्रत नही तोड़ते हो तो तुम्हारी धर्म-सहायिका—धार्मिक कार्यों में सहयोग करनेवाली, धर्मवैद्या—धार्मिक जीवन में शिथिलता या दोष आने पर प्रेरणा द्वारा धार्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने वाली, अथवा धर्मद्वितीया-धर्म की संगिनी-साथिन, धर्मानुरागरक्ता—धर्म के अनुराग मे रगी हुई, समसुखदु ख-सहायिका—तुम्हारे सुख और दु:ख में समान रूप से हाथ बटाने वाली पत्नी अग्निमित्रा को घर से ले आऊंगा, लाकर तुम्हारे आगे उसकी हत्या करू गा, नौ मास-खड करू ंगा, उबलते पानी से भरी कढाही मे खौलाऊंगा, खौलाकर उसके मास और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचू गा, जिससे तुम आर्तध्यान और विकट दु.ख से पीडित होकर (असमय में ही) प्राणो से हाथ धो बैठोगे।

विवेचन

इस सूत्र मे अग्निमित्रा का एक विशेषण 'धम्मविइज्जिया' है, जिसका सस्कृतरूप 'धर्मवैद्या' भी है। भारतीय साहित्य का अपनी कोटि का यह अनुपम विशेषण है, सम्भवत किन्ही अन्यों द्वारा अप्रयुक्त भी। दैहिक जीवन में जैसे आधि, व्याधि, वेदना, पीडा, रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धार्मिक जीवन में भी अस्वस्थता, रुग्णता, पीडा आ सकती है। धर्म के प्रति उत्साह मे शिथिलता आना रुग्णता है, कु ठा आना अस्वस्थता है, धर्म की बात अप्रिय लगना पीडा है। शरीर के रोगो को मिटाने के लिए सुयोग्य चिकित्सक चाहिए, उसी प्रकार धार्मिक आरोग्य देने के लिए भी वैसे ही कुशल व्यक्ति की आवश्यकता होती हैं। अग्निमित्रा वैसी ही कौशल-सम्पन्न 'धर्मवैद्या' थी।

---

१ देखें सूत्र-सख्या ८९

२. देखें सूत्र-सख्या ९७

३. देखें सूत्र-सख्या १०७

पत्नी से पति को सेवा, प्यार, ममता—ये सब तो प्राप्य हैं, पर आवश्यक होने पर धार्मिक प्रेरणा, आध्यात्मिक उत्साह, साधन का सम्बल प्राप्त हो सके, यह एक अनूठी बात होती है। बहुत कम पत्नियां ऐसी होंगी, जो अपने पति के जीवन में सूखते धार्मिक स्रोत को पुनः सजल बना सकें। अग्निमित्रा की यह अद्भुत विशेषता थी। अतएव उसके लिए प्रयुक्त 'धर्म-वैद्या, विशेषण अत्यन्त सार्थक है। यही कारण है, जो सकडालपुत्र तीनो बेटों की निर्मम, नृशस हत्या के समय अविचल, अडोल रहता है, वह अग्निमित्रा की हत्या की बात सुनते ही काप जाता है, धीरज छोड़ देता है, क्षुब्ध हो जाता है। शायद सकडालपुत्र के मन मे आया हो—अग्निमित्रा का, जो मेरे धार्मिक जीवन की अनन्य सहयोगिनी ही नही, मेरे में आने वाली धार्मिक दुर्बलताओ को मिटाकर मुझे धर्मिष्ठ बनाए रखने मे अनुपम प्रेरणादायिनी है, यों दुःखद अन्त कर दिया जाएगा ? मेरे भावी जीवन में यों घोर अन्धकार छा जाएगा।

२२८. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरइ।

देव द्वारा यो कहे जाने पर भी सकडालपुत्र निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान मे लगा रहा।

२२९. तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी– हं भो! सद्दालपुत्ता! समणोवासया! तं चेव भणइ।

तब उस देव ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र को पुन दूसरी बार, तीसरी बार वैसा ही कहा।

अन्तःशुद्धि आराधना . अन्त

२३०. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयं अज्झत्थिए समुप्पन्ने ४ एवं जहा चुलणीपिया तहेव चिंतेइ। जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं ममं मज्झिमयं पुत्तं, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं जाव[2] आयंचइ, जा वि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया सम-सुह-दुक्खसहाइया, तं पि य इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए। तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं। नवरं अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ। सेसं जहा चुलणीपिया वत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव (चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[3]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥

उस देव द्वारा पुनः दूसरी बार, तीसरी बार वैसा कहे जाने पर श्रमणोपासक सकडालपुत्र के मन में चुलनीपिता की तरह विचार उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—जिसने मेरे बड़े पुत्र को, मंझले पुत्र को तथा छोटे पुत्र को मारा, उनका मांस और रक्त मेरे शरीर पर छिड़का, अब मेरी सुख-दुःख में

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९८

२ देखें सूत्र-सख्या १३६

३ एव खलु जम्बू! समणेण जाव सपत्तेण सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

सहयोगिनी पत्नी अग्निमित्रा को घर से ले आकर मेरे आगे मार देना चाहता है, मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस पुरुष को पकड़ लू । यो विचार कर वह दौड़ा ।

आगे की घटना चुलनीपिता की तरह ही समझनी चाहिए ।

सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने कोलाहल सुना । शेष घटना चुलनीपिता की तरह ही कथनीय है । केवल इतना भेद है, सकडालपुत्र अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ । (वहां उसकी आयु चार पल्योपम की बतलाई गई ।) महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा ।

"निक्षेप"[1]

सातवे अग उपासकदशा का सातवां अध्ययन समाप्त ।।

—

१ निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धि प्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के सातवें अध्ययन का यही अर्थ-भाव कहा था, जो मैंने तुम्हे बतलाया है ।

आठवां अध्ययन

सार : संक्षेप

भगवान् महावीर के समय मे राजगृह उत्तर भारत का सुप्रसिद्ध नगर था। जैन वाङ्मय में बहुचर्चित राजा श्रेणिक, जो बौद्ध-साहित्य में बिम्बिसार नाम से प्रसिद्ध है, वहां का शासक था। राजगृह में महाशतक नाम गाथापति निवास करता था। धन, सम्पत्ति, वैभव, प्रभाव, मान-सम्मान आदि में नगर में उसका बहुत ऊचा स्थान था। आठ करोड कास्य-पात्र परिमित स्वर्ण-मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में उसके निधान में थी, उतनी ही स्वर्ण-मुद्राए व्यापार में लगी थी और उतनी ही घर के वैभव—साज-सामान और उपकरणो में लगी थी। पिछले सात अध्ययनो में श्रमणोपासकों का साम्पत्तिक विस्तार मुद्राओ की संख्या के रूप में आया है, महाशतक का साम्पत्तिक विस्तार स्वर्ण-मुद्राओ से भरे हुए कास्य-पात्रों की गणना के रूप में वर्णित हुआ है। कास्य एक मापने का पात्र था। जिनके पास विपुल सम्पत्ति होती—इतनी होती कि मुद्राए गिनने मे भी श्रम माना जाता, वहा मुद्राओ की गिनती न कर मुद्राओ से भरे पात्रो की गिनती की जाती। महाशतक ऐसी ही विपुल, विशाल सम्पत्ति का स्वामी था। उसके यहाँ दस-दस हजार गायो के आठ गोकुल थे।

देश मे बहु-विवाह की प्रथा भी बडे और सम्पन्न लोगो में प्रचलित थी। सासारिक विषय-सुख के साथ-साथ सभवत: उसमें बड़प्पन के प्रदर्शन का भी भाव रहा हो। महाशतक के तेरह पत्निया थी, जिनमें रेवती प्रमुख थी। महाशतक की पत्निया भी बडे घरो की थी। रेवती को उसके पीहर से आठ करोड स्वर्ण-मुद्राए और दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल-व्यक्तिगत सम्पत्ति—प्रीतिदान के रूप मे प्राप्त थी। शेष बारह पत्नियो को अपने-अपने पीहर से एक-एक करोड स्वर्णमुद्राए और दस-दस हजार गायो का एक-एक गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनो बडे लोग अपनी पुत्रियों को विशेष रूप मे ऐसी सपत्ति देते थे, जो तब की सामाजिक परम्परा के अनुसार उनकी पुत्रियों के अपने अधिकार में रहती। सभव है, वह सम्पत्ति तथा गोकुल आदि उन पुत्रियों के पीहर मे ही रखे रहते, जहां उनकी और वृद्धि होती रहती। इससे उन बड़े घर की पुत्रियों का अपने ससुराल में प्रभाव और रौब भी रहता। आर्थिक दृष्टि से वे स्वावलम्बी भी होती।

सयोगवश, श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ, उनके दर्शन एव उपदेश-श्रवण के लिए परिषद् जुड़ी। महाशतक इतना वैभवशाली और सासारिक दृष्टि से अत्यन्त सुखी था, पर वह वैभव एव सुख-विलास मे खोया नही था। अन्य लोगो की तरह वह भी भगवान् महावीर के सान्निध्य में पहुंचा। उपदेश सुना। आत्म-प्रेरणा जागी। आनन्द की तरह उसने भी श्रावक-व्रत स्वीकार किए। परिग्रह के रूप में आठ-आठ करोड़ कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओं की निधान आदि में रखने की मर्यादा की। गोधन को आठ गोकुलों तक सीमित रखने को सकल्प-बद्ध हुआ। अब्रह्मचर्य-सेवन की सीमा तेरह पत्नियों तक रखी। लेन-देन के सन्दर्भ मे भी उसने प्रतिदिन दो द्रोण-प्रमाण कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओ तक अपने को मर्यादित किया।

महाशतक के साम्पत्तिक विस्तार और साधनों को देखते यह सभावित था, उसकी सम्पत्ति और बढती जाती। इसलिए उसने अपनी वर्तमान सम्पत्ति तक अपने को मर्यादित किया। यद्यपि उसकी वर्तमान सम्पत्ति भी बहुत अधिक थी, पर जो भी हो, इच्छा और लालसा का सीमाकरण तो हुआ ही।

महाशतक की प्रमुख पत्नी रेवती व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे भी बहुत धनाढ्य थी, पर उसके मन मे अर्थ और भोग की अदम्य लालसा थी। एक बार आधी रात के समय उसके मन में विचार आया कि यदि मैं अपनी बारह सौतों की हत्या कर दू तो सहज ही उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर मेरा अधिकार हो जाय और महाशतक के साथ मैं एकाकिनी मनुष्य-जीवन का विपुल विषय-सुख भोगती रहूं। बड़े घर की बेटी थी, बडे परिवार में थी, बहुत साधन थे। उसने किसी तरह अपनी इस दुर्लालसा को पूरा कर लिया। अपनी सौतो को मरवा डाला। उसका मन चाहा हो गया। वह भौतिक सुखो में लिप्त रहने लगी। जिसमे अर्थ और भोग की इतनी घृणित लिप्सा होती है, वैसे व्यक्ति में और भी दुर्व्यसन होते हैं। रेवती मास और मदिरा में लोलुप और आसक्त रहती थी। रेवती मास मे इतनी आसक्त थी कि उसके विना वह रह नही पाती थी। एक बार ऐसा संयोग हुआ, राजगृह मे राजा की ओर से अमारि-घोषणा करा दी गई। प्राणि-वध निषिद्ध हो गया। रेवती के लिए बडी कठिनाई हुई। पर उसने एक मार्ग खोज निकाला। अपने पीहर से प्राप्त नौकरो के मार्फत उसने अपने पीहर के गोकुलो से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मार कर अपने पास पहुंचा देने की व्यवस्था की। गुप्त रूप से ऐसा चलने लगा। रेवती की विलासी वृत्ति आगे उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

श्रमणोपासक महाशतक का जीवन एक दूसरा मोड़ लेता जा रहा था। वह व्रतो की उपासना, आराधना मे आगे से आगे बढ रहा था। ऐसा करते चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसकी धार्मिक भावना ने और वेग पकडा। उसने अपना कौटुम्बिक और सामाजिक उत्तरदायित्व अपने बड़े पुत्र को सौप दिया। स्वय धर्म की आराधना में अधिकाधिक निरत रहने लगा। रेवती को यह अच्छा नही लगा।

एक दिन की बात है, महाशतक पोषधशाला में धर्मोपासना मे लगा था। शराब के नसे में उन्मत्त बनी रेवती लडखड़ाती हुई, अपने बाल बिखेरे पोषधशाला में आई। उसने श्रमणोपासक महाशतक को धर्मोपासना से डिगाने की चेष्टा की। बार-बार कामोद्दीपक हावभाव दिखाए और उससे कहा—तुम्हे इस धर्माराधना से स्वर्ग ही तो मिलेगा! स्वर्ग मे इस विषय-सुख से बढ़ कर कुछ है? धर्म की आराधना छोड दो, मेरे साथ मनुष्यजीवन के दुर्लभ भोग भोगो। एक विचित्र घटना थी। त्याग और भोग, विराग और राग का एक द्वन्द्व था। बडी विकट स्थिति यह होती है। भर्तृ-हरि ने कहा है—

"ससार में ऐसे बहुत से शूरवीर है, जो मद से उन्मत्त हाथियो के मस्तक को चूर-चूर कर सकते हैं, ऐसे भी योद्धा हैं, जो सिंहो को पछाड डालने में समर्थ हैं, किन्तु काम के दर्प का दलन करने मे विरले ही पुरुष सक्षम होते हैं।

तभी तक मनुष्य सन्मार्ग पर टिका रहता है, तभी तक इन्द्रियों की लज्जा को बचाए रख पाता है, तभी तक वह विनय और आचार बनाए रख सकता है, जब तक कामिनियों के भौहों

रूपी धनुष से कानों तक खींच कर छोड़े हुए पलक रूपी नीले पंख वाले, धैर्य को विचलित कर देने वाले नयन-बाण आकर छाती पर नही लगते ।"[1]

महाशतक सचमुच एक योद्धा था—आत्म-बल का अप्रतिम धनी। वह कामुक स्थिति, कामोद्दीपक चेष्टाएं वे भी अपनी पत्नी की, उस स्थिरचेता साधक को जरा भी विचलित नही कर पाई। वह अपनी उपासना में हिमालय की तरह अचल और अडोल रहा। रेवती ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर उसे लुभाने का प्रयत्न किया, किन्तु महाशतक पर उसका तिलमात्र भी प्रभाव नही पड़ा। वह धर्म-ध्यान में तन्मय रहा। भोग पर यह त्याग की विजय थी। रेवती अपना-सा मुंह लेकर वापिस लौट गई।

महाशतक का साधना-क्रम उत्तरोत्तर उन्नत एवं विकसित होता गया। उसने क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओ की सम्यक् रूप में आराधना की। उग्र तपश्चरण एव धर्मानुष्ठान के कारण उसका शरीर बहुत कृश हो गया। उसने सोचा, अब इस अवशेष जीवन का उपयोग सर्वथा साधना में हो जाय तो बहुत उत्तम हो। तदनुसार उसने मारणान्तिक संलेखना, आमरण अनशन स्वीकार किया, उसने अपने आपको अध्यात्म में रमा दिया। उसे अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इधर तो यह पवित्र स्थिति थी और उधर पापिनी रेवती वासना की भीषण ज्वाला में जल रही थी। उससे रहा नही गया। वह फिर श्रमणोपासक महाशतक को व्रत से च्युत करने हेतु चल पड़ी, पोषधशाला में आई। बड़ा आश्चर्य है, उसके मन में इतना भी नही आया, वह तो पतिता है सो है, उसका पति जो इस जीवन की अन्तिम, उत्कृष्ट साधना में लगा है, उसको च्युत करने का प्रयास कर क्या वह ऐसा अत्यन्त निन्द्य एवं जघन्य कार्य नहीं कर रही है, जिसका पाप उसे कभी शान्ति नही लेने देगा। असल में बात यह है, मास और मदिरा मे लोलुप व्यसनी, पापी मनुष्यो का विवेक नष्ट हो जाता है। वे नीचे गिरते जाते हैं, घोर से घोर पाप-कार्यों में फसते जाते है।

यही कारण है, जैन धर्म में मांस और मद्य के त्याग पर बड़ा जोर दिया जाता है। उन्हे सात कुव्यसनों[2] में लिया गया है, जो मानव के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

---

१. मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिना पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥
सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति च नरस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां हृदि न धृतिमुषो दृष्टिबाणा पतन्ति॥
—शृङ्गारशतक ७५-७६॥

२ द्यूतमांससुरावेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गना।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥
—पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका १, १६।

जुआ, मांस-भक्षण, मद्य-पान, वेश्या-गमन, शिकार, चोरी तथा परस्त्री-गमन—ये महापाप रूप सात कुव्यसन हैं। बुद्धिमान् पुरुष को इनका त्याग करना चाहिए।

रेवती एक कुलांगना थी, राजगृह के एक सम्भ्रान्त और सम्माननीय गाथापति की पत्नी थी। पर, दुर्व्यसनों में फंसकर वह धर्म, प्रतिष्ठा, कुलीनता सब भूल जाती है और निर्लज्ज भाव से अपने साधक पति को गिराना चाहती है।

महाकवि कालिदास ने बड़ा सुन्दर कहा है, वास्तव में धीर वही हैं, विकारक स्थितियों की विद्यमानता के बावजूद जिनके चित्त में विकार नहीं आता।[1]

महाशतक वास्तव में धीर था। यही कारण है, वैसी विकारोत्पादक स्थिति भी उसके मन को विकृत नहीं कर सकी। वह उपासना में सुस्थिर रहा।

रेवती ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वही कुचेष्टा की। श्रमणोपासक महाशतक, जो अब तक आत्मस्थ था, कुछ क्षुब्ध हुआ। उसने अवधिज्ञान द्वारा रेवती का भविष्य देखा और बोला—तुम सात रात के अन्दर भयानक अलसक रोग से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःख, व्यथा, वेदना और क्लेश पूर्वक मर जाओगी। मर कर प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नैरयिक के रूप मे उत्पन्न होगी।

रेवती ने ज्यो ही यह सुना, वह कांप गई। अब तक जो मदिरा के नशे में और भोग के उन्माद में पागल बनी थी, सहसा उसकी आंखो के आगे मौत की काली छाया नाचने लगी। उन्हीं पैरो वह वापिस लौट गई। फिर हुआ भी वैसा ही, जैसा महाशतक ने कहा था। वह सात रात में भीषण अलसक व्याधि से पीडित होकर आर्तध्यान और असह्य वेदना लिए मर गई, नरकगामिनी हुई।

सयोग से भगवान् महावीर उस समय राजगृह में पधारे। भगवान् तो सर्वज्ञ थे, महाशतक के साथ जो कुछ घटित हुआ था, वह सब जानते थे। उन्होने अपने प्रमुख अन्तेवासी गौतम को यह बतलाया और कहा—गौतम! महाशतक से भूल हो गई है। अन्तिम संलेखना और अनशन स्वीकार किये हुए उपासक के लिए सत्य, यथार्थ एव तथ्य भी यदि अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय और अमनोज्ञ हो, तो कहना कल्पनीय—धर्म-विहित नही है। वह किसी को ऐसा सत्य भी नही कहता, जिससे उसे भय, त्रास और पीडा हो। महाशतक ने अवधिज्ञान द्वारा रेवती के सामने जो सत्य भाषित किया, वह ऐसा ही था। तुम जाकर महाशतक से कहो, वह इसके लिए आलोचना-प्रतिक्रमण करे, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

जैनदर्शन का कितना ऊचा और गहरा चिन्तन यह है। आत्म-रत साधक के जीवन में समता, अहिंसा एवं मैत्री का भाव सर्वथा विद्यमान रहे, इससे यह प्रकट है।

गौतम महाशतक के पास आए। भगवान् का सन्देश कहा। महाशतक ने सविनय शिरोधार्य किया, आलोचना-प्रायश्चित्त कर वह शुद्ध हुआ।

श्रमणोपासक महाशतक आत्म-बल संजोये धर्मोपासना में उत्साह एवं उल्लास के साथ तन्मय रहा। यथासमय समाधिपूर्वक देह-त्याग किया, सौधर्मकल्प में अरुणावतंसक विमान में वह देव रूप से उत्पन्न हुआ।

---

१. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—कुमारसंभव सर्ग—५

आठवां अध्ययन : महाशतक

श्रमणोपासक महाशतक

२३१. अट्ठमस्स उक्खेवओ[1] । एवं खलु, जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे गुणसीले चेइए । सेणिए राया ।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक आठवे अध्ययन का प्रारम्भ यों है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त मे, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, राजगृह नामक नगर था । नगर के बाहर गुणशील नामक चैत्य था । श्रेणिक वहाँ का राजा था ।

२३२. तत्थ णं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणंदो । नवरं अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं ।

राजगृह मे महाशतक नामक गाथापति निवास करता था । वह समृद्धिशाली था, वैभव आदि में आनन्द की तरह था । केवल इतना अन्तर था, उसकी आठ करोड कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थी, आठ करोड कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राए व्यापार मे लगी थी, आठ करोड़ कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव मे लगी थी । उसके आठ व्रज—गोकुल थे । प्रत्येक गोकुल मे दस-दस हजार गाये थी ।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे महाशतक की सम्पत्ति का विस्तार कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओ मे बतलाया गया है । कास्य का अर्थ कांसी से बने एक पात्र-विशेष से है । प्राचीन काल मे वस्तुओ की गिनती तथा तौल के साथ-साथ माप का भी विशेष प्रचलन था । एक विशेष परिमाण की सामग्री भीतर समा सके, वैसे माप के पात्र इस काम मे लिए जाते थे । यहां कास्य का आशय ऐसे ही पात्र से है ।

महाशतक की सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि मुद्राओ की गिनती करना भी दु शक्य था । इसलिए स्वर्ण-मुद्राओ के भरे हुए वैसे पात्र को एक इकाई मान कर यहाँ सम्पत्ति का परिमाण बतलाया गया है ।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थो मे इन प्राचीन माप-तौलो के सम्बन्ध में चर्चाए प्राप्त होती है । प्राचीन काल मे मागध-मान और कलिंग-मान—यह दो तरह के तौल-माप प्रचलित थे । मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी । भावप्रकाश में इस सन्दर्भ मे विस्तार से चर्चा है । वहा महर्षि चरक को आधार मानकर मागधमान का विवेचन करते हुए परमाणु से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढते हुए मानों—परिमाणो की चर्चा की है । वहा बतलाया गया है—

---

१. जइ ण भते ! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाण सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठमस्स ण भते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के सातवे अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होने आठवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें ।)

"तीस परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। उसे वशी भी कहा जाता है। जाली मे पडती हुई सूर्य की किरणो में जो छोटे-छोटे सूक्ष्म रजकण दिखाई देते हैं, उनमें से प्रत्येक की संज्ञा त्रसरेणु या वशी है। छह त्रसरेणु की एक मरीचि होती है। छह मरीचि की एक राजिका या राई होती है। तीन राई का एक सरसो, आठ सरसों का एक जौ, चार जौ की एक रत्ती, छह रत्ती का एक मासा होता है। मासे के पर्यायवाची हेम और धानक भी हैं। चार मासे का एक शाण होता है, धरण और टंक इसके पर्यायवाची हैं। दो शाण का एक कोल होता है। उसे क्षुद्रक, वटक एव द्रङ्क्षण भी कहा जाता है। दो कोल का एक कर्ष होता है। पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि, तिन्दुक, बिडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हसपद, सुवर्ण कवलग्रह तथा उदुम्बर इसके पर्यायवाची हैं। दो कर्ष का एक अर्धपल (आधा पल) होता है। उसे शुक्ति या अष्टमिक भी कहा जाता है। दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी तथा बिल्व भी इसके नाम है। दो पल की एक प्रसृति होती है, उसे प्रसृत भी कहा जाता है। दो प्रसृति की एक अजलि होती है। कुडव, अर्ध शरावक तथा अष्टमान भी उसे कहा जाता है। दो कुडव की एक मानिका होती है। उसे शराव तथा अष्टपल भी कहा जाता है। दो शराव का एक प्रस्थ होता है अर्थात् प्रस्थ में ६४ तोले होते है। पहले ६४ तोले का ही सेर माना जाता था, इसलिए प्रस्थ को सेर का पर्यायवाची माना जाता है। चार प्रस्थ का एक आढक होता है, उसको भाजन, कास्य-पात्र तथा चौसठ पल का होने से चतु षष्टिपल भी कहा जाता है।[1]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि २५६ तोले या ४ सेर तौल की सामग्री जिस पात्र में समा सकती थी, उसको कास्य या कास्यपात्र कहा जाता था।

कास्य या कास्यपात्र का यह एक मात्र माप नही था। ऐसा अनुमान है कि कास्यपात्र भी छोटे-बडे कई प्रकार के काम मे लिए जाते थे। इस सूत्र मे जिस कास्य-पात्र की चर्चा है, उसका माप यहा वर्णित भावप्रकाश के कास्यपात्र से बड़ा था। इसी अध्याय के २३५वे सूत्र में श्रमणोपासक

---

१. चरकस्य मत वैद्यैराद्यैर्यस्मान्मत तत। विहाय सर्वमानानि मागध मानमुच्यते ॥
त्रसरेणुर्बुधैं प्रोक्तस्त्रिशता परमाणुभि। त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वशी निगद्यते ॥
जालान्तरगतैं सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते। षड्वशीभिर्मरीचि स्यात्ताभि षड्भिश्च राजिका ॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षप प्रोच्यते बुधै। यवोऽष्टसर्षपै प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम् ॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभि स्यान्माषको हेमधानकौ। माषैश्चतुर्भि शाण स्याद्धरण स निगद्यते ॥
टङ्क स एव कथितस्तद्द्वय कोल उच्यते। क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षण स निगद्यते ॥
कोलद्वयन्तु कर्ष स्यात्स प्रोक्त पाणिमानिका। अक्ष पिचु पाणितल किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम् ॥
बिडालपदक चैव तथा षोडशिका मता। करमध्यो हसपद सुवर्ण कवलग्रह ॥
उदुम्बरञ्च पर्यायै कर्षमेव निगद्यते। स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपल शुक्तिरष्टमिका तथा ॥
शुक्तिभ्याञ्च पल ज्ञेय मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्च षोडशी बिल्व पलमेवात्र कीर्त्यते ॥
पलाभ्या प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते। प्रसृतिभ्यामञ्जलि स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावक ॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेय: कुडवाभ्याञ्च मानिका। शरावोऽष्टपल तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणै ॥
शरावाभ्या भवेत्प्रस्थश्चतु· प्रस्थस्तथाऽऽढक। भाजन कांस्यपात्रञ्च चतु षष्टिपलश्च स. ॥

—भावप्रकाश, पूर्वखड द्वितीय भाग, मानपरिभाषाप्रकरण २—४

महाशतक अपने दैनन्दिन लेन-देन के सम्बन्ध में एक मर्यादा करता है, जिसके अनुसार वह एक दिन में दो द्रोण-परिमाण कास्यपरिमित स्वर्ण-मुद्राओ से अधिक का लेन-देन में उपयोग न करने को सकल्प-बद्ध होता है। इसे कुछ स्पष्ट रूप में समझ लें।

ऊपर आढक तक के मान की चर्चा आई है। भावप्रकाश में आगे बताया गया है कि चार आढक का एक द्रोण होता है। उसको कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि भी कहा जाता है। दो द्रोण का एक शूर्प होता है, उसको कुंभ भी कहा जाता है तथा ६४ शराव का होने से चतु षष्टि शरावक भी कहा जाता है।[1]

इसका आशय यह हुआ, जिस पात्र मे दो द्रोण अर्थात् आठ आढक या ३२ प्रस्थ अर्थात् ६४ तोले के सेर के हिसाब से ३२ सेर तौल की वस्तुए समा सकती थी, वह शूर्प या कुभ कहा जाता था। इस सूत्र में आया कांस्य या कांस्यपात्र इसी शूर्प या कुभ का पर्यायवाची है। भावप्रकाशकार ने जिसे शूर्प या कुंभ कहा है ठीक इसी अर्थ में यहाँ कास्य शब्द प्रयुक्त है, क्योकि दो द्रोण का शूर्प या कुंभ होता है और यहाँ आए वर्णन के अनुसार दो द्रोण का वह कांस्य पात्र था। शार्ङ्गधर-सहिता में भी इसकी इसी रूप में चर्चा आई है।[2]

पत्नियां : उनकी सम्पत्ति

२३३. तस्स णं महासयगस्स रेवईपामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव (पडिपुण्ण-पंचिंदियसरीराओ, लक्खण-वंजण-गुणोववेयाओ, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण-सुजायसव्वंग-सुन्दरंगीओ, ससि-सोमाकार-कंत-पिय-दंसणाओ) सुरूवाओ।

महाशतक के रेवती आदि तेरह रूपवती पत्निया थी। (उनके शरीर की पाचो इन्द्रिया अहीन, प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखडित, सपूर्ण, अपने अपने विषयो में सक्षम थी, वह उत्तम लक्षण—सौभाग्य सूचक हाथ की रेखाएं आदि, व्यजन—उत्कर्ष सूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी, अथवा लक्षणों और व्यजनो के गुणो से युक्त थी। दैहिक फैलाव, वजन, ऊचाई आदि की दृष्टि से वे परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दर थी। उनका आकार—स्वरूप चन्द्र के समान तथा देखने में लुभावना था,) रूप सुन्दर था।

२३४. तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था। अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी, एगमेगे य वए, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था।

महाशतक की पत्नी रेवती के पास अपने पीहर से प्राप्त आठ करोड स्वर्ण-मुद्राए तथा दस-

---

१. चतुर्भिराढकैर्द्रोण कलशो नल्वणोऽर्मण ।
उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसज्ञित ॥
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतु षष्टिशरावकः ।
—भावप्रकाश, पूर्वखण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण १५, १६

२. शार्ङ्गधरसहिता १.१.१५—२९

दस हजार गायों के आठ गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में थे। बाकी बारह पत्नियों के पास उनके पीहर से प्राप्त एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं तथा दस-दस हजार गायों का एक-एक गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में था।

महाशतक द्वारा व्रत-साधना

२३५. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा निग्गया। जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ। तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ उच्चारेइ, अट्ठ वया, रेवइपामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ। सेसं सव्वं तहेव, इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे बे-दोणियाए कंस-पाईए हिरण्ण-भरियाए संववहरित्तए।

उस समय भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ। परिषद् जुड़ी। महाशतक आनन्द की तरह भगवान् की सेवा मे गया। उसी की तरह उसने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। केवल इतना अन्तर था, महाशतक ने परिग्रह के रूप में आठ-आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राएं निधान आदि में रखने की तथा आठ गोकुल रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियों के सिवाय अवशेष मैथुन-सेवन का परित्याग किया। उसने बाकी सब प्रत्याख्यान आनन्द की तरह किए। केवल एक विशेष अभिग्रह लिया—एक विशेष मर्यादा और की—मैं प्रतिदिन लेन-देन में दो द्रोण-परिमाण कास्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओ की सीमा रखूं गा।

२३६. तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव[1] विहरइ।

तब महाशतक, जो जीव, अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त कर चुका था, श्रमणोपासक हो गया। धार्मिक जीवन जीने लगा।

२३७. तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर अन्य जनपदो मे विहार कर गए।

रेवती की दुर्लालसा

२३८. तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि कुडुम्ब जाव (जागरियं जागरमाणीए) इमेयारूवे अज्झत्थिए[1]—एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं नो संचाएमि महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं एयाओ दुवालस वि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेणं वा, सत्थप्पओगेणं वा, विसप्पओगेणं वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासिं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उव-सम्पज्जित्ता णं महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं जाव (माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी) विहरित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ६४

एक दिन आधीरात के समय गाथापति महाशतक की पत्नी रेवती के मन में, जब वह अपने पारिवारिक विषयों की चिन्ता मे जग रही थी, यो विचार उठा—मैं इन अपनी बारह सौतों के विघ्न के कारण अपने पति श्रमणोपासक महाशतक के साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख भोग नही पा रही हू । अतः मेरे लिए यही अच्छा है कि मैं इन बारह सौतों की अग्नि-प्रयोग, शस्त्र-प्रयोग या विष-प्रयोग द्वारा जान ले लू । इससे इनकी एक-एक करोड स्वर्ण-मुद्राएँ और एक-एक गोकुल मुझे सहज ही प्राप्त हो जायगा । मैं श्रमणोपासक महाशतक के साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख भोगती रहूँगी । यो विचार कर वह अपनी बारह सौतो को मारने के लिए अनुकूल अवसर, सूनापन एव एकान्त की टोह मे रहने लगी ।

२३९. तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतरं जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थप्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोल-घरियं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ ।

एक दिन गाथापति की पत्नी रेवती ने अनुकूल अवसर पाकर अपनी बारह सौतो मे से छह को शस्त्र-प्रयोग द्वारा और छह को विष-प्रयोग द्वारा मार डाला । यों अपनी बारह सौतों को मार कर उनकी पीहर से प्राप्त एक-एक करोड स्वर्ण-मुद्राएँ तथा एक-एक गोकुल स्वय प्राप्त कर लिया और वह श्रमणोपासक महाशतक के साथ विपुल भोग भोगती हुई रहने लगी ।

रेवती की मांस-मद्य-लोलुपता

२४०. तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया, मंसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, अज्झोववन्ना बहु-विहेहिं मंसेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी, विसाएमाणी, परिभाएमाणी, परिभुंजेमाणी विहरइ ।

गाथापति की पत्नी मास-भक्षण मे लोलुप, आसक्त, लुब्ध तथा तत्पर रहती । वह लोहे की सलाखा पर सेके हुए, घी आदि में तले हुए तथा आग पर भूने हुए बहुत प्रकार के मांस एव सुरा, मधु, मेरक, मद्य, सीधु व प्रसन्न नामक मदिराओ का आस्वादन करती, मजा लेती, छक कर सेवन करती ।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सुरा, मधु, मेरक, मद्य, सीधु तथा प्रसन्न नामक मदिराओं का उल्लेख है, जिन्हे रेवती प्रयोग मे लेती थी । आयुर्वेद के ग्रन्थो मे आसवो तथा अरिष्टों के साथ-साथ मद्यो का भी वर्णन है । वैसे आसव एव अरिष्ट में भी कुछ मात्रा में मद्यांश होता है, पर उनका मादक द्रव्यो या मद्यो में समावेश नही किया जाता । मदिरा की भिन्न स्थिति है । उसमे मादक अश अधिक मात्रा में होता है, जिसके कारण मदिरासेवी मनुष्य उन्मत्त, विवेकभ्रष्ट और पतित हो जाता है ।

आयुर्वेद में मद्य को आसव एव अरिष्ट के साथ लिए जाने का मुख्य कारण उनकी निर्माण-विधि की लगभग सदृशता है । वनौषधि, फल, मूल, सार, पुष्प, काड, पत्र, त्वचा आदि को कूट-पीस कर जल के साथ मिला कर उनका घोल तैयार कर घड़े या दूसरे बर्तन में सधित कर—कपडमिट्टी से

अच्छी तरह बन्द कर, जमीन में गाड़ दिया जाता है या धूप में रक्खा जाता है। वैसे एक महीने का विधान है, पर कुछ ही दिनों में भीतर ही भीतर उकट कर उस घोल में विलक्षण गन्ध, रस, प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। वह आसव का रूप ले लेता है। वनौषधि आदि का जल के साथ क्वाथ तैयार कर, चतुर्थांश जलीय भाग रहने पर, उसे बर्तन में संचित कर जमीन में गाड़ा जाता है या धूप में रखा जाता है। यथासमय संस्कार-निष्पन्न होकर वह अरिष्ट बन जाता है। जमीन में गाड़े हुए या धूप में दिए हुए द्रव से मयूर-यन्त्र—वाष्प-निष्कासन-यन्त्र द्वारा जब उस का सार चुआ लिया जाता है, वह मद्य है। उसमे मादकता की मात्रा अत्यधिक तीव्रता लिए रहती है। मद्य के निर्माण में गुड या खाड तथा रागजड़ या तत्सदृश मूल—जड डालना आवश्यक है।

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे जहाँ मदिरा के भेदो का वर्णन है, वहा प्रकारान्तर से ये नाम भी आए हैं, जिनका इस सूत्र मे सकेत है। उनका सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

सुरा—भावप्रकाश के अनुसार शालि व साठी धान्य की पीठी से जो मद्य तैयार होता है, उसे सुरा कहा जाता है।[1]

मधु—वह मद्य, जिसके निर्माण मे अन्य वस्तुओं के साथ शहद भी मिलाया जाता है। अष्टागहृदय में इसे माधव मद्य कहा गया है।[2] सुश्रुतसहिता मे इसका मध्वासव के नाम से उल्लेख है। मधु और गुड द्वारा इसका सधान बतलाया गया है।[3]

मेरक—आयुर्वेद के ग्रन्थों मे इसका मैरेय नाम से उल्लेख है। सुश्रुतसहिता में इसे त्रियोनि कहा गया है अर्थात् पीठी से बनी सुरा, गुड से बना आसव तथा मधु इन तीनो के मेल से यह तैयार होता है।[4]

मद्य—वैसे मद्य साधारणतया मदिरा का नाम है, पर यहा सभवत. यह मदिरा के मार्द्वीक भेद से सम्बद्ध है। सुश्रुतसहिता के अनुसार यह द्राक्षा या मुनक्का से तैयार होता है।[5]

सीधु—भावप्रकाश में ईख के रस से बनाए जाने वाले मद्य को सीधु कहा जाता है। वह ईख के पक्के रस एव कच्चे रस दोनो से अलग-अलग तैयार होता है। दोनो की मादकता मे अन्तर होता है।[6]

---

१. शालिषष्टिकपिष्टादिकृत मद्य सुरा स्मृता।

—भावप्रकाश पूर्व खण्ड, प्रथम भाग, सन्धान वर्ग २३।

२ मध्वासवो माक्षिकेण सन्धीयते माधवाख्यो मद्यविशेष।

—अष्टागहृदय ५, ७५ (अरुणदत्तकृत सर्वाङ्गसुन्दरा टीका)।

३. मध्वासवो मधुगुडाभ्या सन्धानम्।

—सुश्रुतसहिता सूत्र स्थान ४५, १८८ (डल्हणाचार्यविरचितनिबन्धसग्रहा व्याख्या)।

४. सुरा पैष्टी, आसवश्च गुडयोनि, मधु च देयमिति त्रियोनित्वम्।

—सुश्रुतसहिता सूत्र स्थान ४५, १९० (व्याख्या)।

५. मार्द्वीक द्राक्षोद्भवम्।

—सुश्रुतसहिता सूत्र स्थान ४५, १७२ (व्याख्या)।

६. इक्षोः पक्वै रसै. सिद्धैः सीधु. पक्वरसश्च स.।
आमैस्तैरेव य. सीधु स च शीतरस. स्मृत:॥

—भावप्रकाश पूर्व खण्ड, प्रथम भाग, सन्धान वर्ग २५।

प्रसन्न—सुश्रुतसंहिता के अनुसार सुरा का नितरा हुआ ऊपरी स्वच्छ भाग प्रसन्न या प्रसन्ना कहा जाता है ।[1]

अष्टांगहृदय मे वारुणी का पर्याय प्रसन्ना लिखा है । तदनुसार सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग प्रसन्ना है । उसके नीचे का गाढ़ा भाग जगल कहा जाता है । जगल के नीचे का भाग मेदक कहा जाता है । नीचे बचे कल्क को निचोड़ने से निकला द्रव बक्कस कहा जाता जाता है ।[2]

२४१. तए णं रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ घुट्ठे यावि होत्था ।

एक बार राजगृह नगर में अमारि—प्राणि-वध न करने को घोषणा हुई ।

२४२. तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया, मंसेसु मुच्छिया ४ कोल-घरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—तुब्भे, देवाणुप्पिया ! मम कोल-घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे-दुवे गोण-पोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता ममं उवणेह ।

गाथापति की पत्नी रेवती ने, जो मास मे लोलुप एव आसक्त थी, अपने पीहर के नौकरो को बुलाया और उनसे कहा—तुम मेरे पीहर के गोकुलो में से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मारकर मुझे ला दिया करो ।

२४३. तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोल-घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोण-पोयए वहेंति, वहेत्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति ।

पीहर के नौकरो ने गाथापति की पत्नी रेवती के कथन को 'जैसी आज्ञा' कहकर विनयपूर्वक स्वीकार किया तथा वे उसके पीहर के गोकुलो मे से हर रोज सवेरे दो बछडे लाने लगे ।

२४४. तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोण-मंसेहिं सोल्लेहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ ।

गाथापति की पत्नी रेवती बछड़ो के मास के शूलक—सलाखो पर सेके हुए टुकड़ो आदि का तथा मदिरा का लोलुप भाव से सेवन करती हुई रहने लगी ।

महाशतक : अध्यात्म की दिशा मे

२४५. तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव[3] भावेमाणस्स चोद्दस

---

१. प्रसन्ना सुराया मण्ड उपर्यच्छो भाग ।

—सुश्रुतसहिता सूत्रस्थान ४५ १७७ (व्याख्या)

२ वारुणी—प्रसन्ना ।

वारुण्या अधोभागो घनो जगल । जगलस्याधो भागो मेदक । पानीयेन मद्यकल्कपीडनोत्पन्नो बक्कस. ।

—अष्टागहृदय सूत्र स्थान ५, ६८ (टीका) ।

३. देखें सूत्र-सख्या ११२

संवच्छरा वइक्कंता । एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ जाव[1] पोसहसालाए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता-णं विहरइ ।

श्रमणोपासक महाशतक को विविध प्रकार के व्रतों, नियमों द्वारा आत्मभावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए । आनन्द आदि की तरह उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को अपनी जगह स्थापित किया—पारिवारिक एव सामाजिक उत्तरदायित्व बड़े पुत्र को सौंपा तथा स्वय पोषधशाला में धर्माराधना में निरत रहने लगा ।

महाशतक को डिगाने हेतु रेवती का कामुक उपक्रम

२४६. तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता, लुलिया, विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी विकड्ढमाणी जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्मायजणणाइं, सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी उवदंसेमाणी महासययं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! महासयया ! समणोवासया ! धम्म-कामया ! पुण्ण-कामया ! सग्ग-कामया ! मोक्ख-कामया ! धम्म-कंखिया ! ४, धम्म-पिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया ! धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा ? जं णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं जाव (माणुस्साइं भोगभोगाइं) भुंजमाणे नो विहरसि ?

एक दिन गाथापति की पत्नी रेवती शराब के नशे में उन्मत्त, लडखडाती हुई, बाल बिखेरे, बार-बार अपना उत्तरीय—दुपट्टा या ओढना फेंकती हुई, पोषधशाला में जहाँ श्रमणोपासक महाशतक था, आई । आकर बार-बार मोह तथा उन्माद जनक, कामोद्दीपक कटाक्ष आदि हाव भाव प्रदर्शित करती हुई श्रमणोपासक महाशतक से बोली—धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना, इच्छा एव उत्कंठा रखनेवाले श्रमणोपासक महाशतक ! तुम मेरे साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख नही भोगते, देवानुप्रिय ! तुम धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या पाओगे—इससे बढ़कर तुम्हें उनसे क्या मिलेगा ?

२४७. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढाइज्जमाणे, अपरियाणमाणे, तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ ।

श्रमणोपासक महाशतक ने अपनी पत्नी रेवती की इस बात को कोई आदर नही दिया और न उस पर ध्यान ही दिया । वह मौन भाव से धर्माराधना मे लगा रहा ।

२४८. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासययं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो ! तं चेव भणइ सो वि तहेव जाव (रेवईए गाहावणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ) अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ ।

उसकी पत्नी रेवती ने दूसरी बार तीसरी बार फिर वैसा कहा । पर वह उसी प्रकार अपनी पत्नी रेवती के कथन को आदर न देता हुआ, उस पर ध्यान न देता हुआ धर्म-ध्यान में निरत रहा ।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ९२

२४९. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी, अपरियाणिज्जमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं पडिगया ।

यों श्रमणोपासक महाशतक द्वारा आदर न दिए जाने पर, ध्यान न दिए जाने पर उसकी पत्नी रेवती, जिस दिशा से आई थी उसी दिशा की ओर लौट गई ।

महाशतक की उत्तरोत्तर बढ़ती साधना

२५०. तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ पढमं अहासुत्तं जाव एक्कारसवि ।

श्रमणोपासक महाशतक ने पहली उपासकप्रतिमा स्वीकार की । यो पहली से लेकर क्रमश. ग्यारहवी तक सभी प्रतिमाओं की शास्त्रोक्त विधि से आराधना की ।

२५१. तए णं से महासयए समणोवासए तेणं उरालेणं जाव[1] किसे धमणिसंतए जाए ।

उग्र तपश्चरण से श्रमणोपासक महाशतक के शरीर में इतनी कृशता—क्षीणता आ गई कि उस पर उभरी हुई नाडिया दीखने लगी ।

आमरण अनशन

२५२. तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-काले धम्म-जागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ४—एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा आणंदो तहेव अपच्छिम-मारणंतियसंलेहणाए झूसिय-सरीरे भत्त-पाण-पडियाइक्खिए काल अणवकंखमाणे विहरइ ।

एक दिन अर्द्ध रात्रि के समय धर्म-जागरण—धर्म स्मरण करते हुए आनन्द की तरह श्रमणोपासक महाशतक के मन में विचार उत्पन्न हुआ—उग्र तपश्चरण द्वारा मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, आदि । आनन्द की तरह चिन्तन करते हुए उसने अन्तिम मारणान्तिक सलेखना स्वीकार की, खान-पान का परित्याग किया—अनशन स्वीकार किया, मृत्यु की कामना न करता हुआ, वह आराधना में लीन हो गया ।

अवधिज्ञान का प्रादुर्भाव

२५३. तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं जाव (सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तदावरणिज्जाणं कम्माणं) खओवसमेणं ओहि-णाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे जोयण-साहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासहरपव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइ-वाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक महाशतक को शुभ अध्यवसाय, (शुभ परिणाम—अन्त·परिणति, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं के कारण) अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हो

१. देखें सूत्र-सख्या ७३

गया। फलतः वह पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में एक-एक हजार योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा में हिमवान् वर्षधर पर्वत तक क्षेत्र तथा अधोलोक में प्रथम नारकभूमि रत्नप्रभा में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्युतनामक नरक तक जानने देखने लगा।

रेवती द्वारा पुनः असफल कुचेष्टा

२५४. तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ मत्त जाव (लुलिया, विइण्णकेसी) उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासययं तहेव भणइ जाव[1] दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो तहेव।

तत्पश्चात् एक दिन महाशतक गाथापति की पत्नी रेवती शराब के नशे मे उन्मत्त (लडखडाती हुई, बाल बिखेरे) बार-बार अपना उत्तरीय फेंकती हुई पोषधशाला में, जहाँ श्रमणोपासक महाशतक था, आई। आकर महाशतक से पहले की तरह बोली। (तुम मेरे साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख नही भोगते, देवानुप्रिय! तुम्हे धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा?) उसने दूसरी बार, तीसरी बार, फिर वैसा ही कहा।

महाशतक द्वारा रेवती का दुर्गतिमय भविष्य-कथन

२५५. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि, तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवई गाहावइणिं एवं वयासी—हं भो रेवई! अपत्थिय-पत्थिए ४ एवं खलु तुमं अतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वाससहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि।

अपनी पत्नी रेवती द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यो कहे जाने पर श्रमणोपासक महाशतक को क्रोध आ गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया, प्रयोग कर उपयोग लगाया। अवधिज्ञान द्वारा जानकर उसने अपनी पत्नी रेवती से कहा—मौत को चाहने वाली रेवती! तू सात रात के अन्दर अलसक नामक रोग से पीडित होकर आर्त्त-व्यथित, दुःखित तथा विवश होती हुई आयु-काल पूरा होने पर अशान्तिपूर्वक मरकर अधोलोक मे प्रथम नारकभूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक नरक में चौरासी हजार वर्ष के आयुष्यवाले नैरयिको में उत्पन्न होगी।

प्रस्तुत सूत्र मे अलसक रोग का उल्लेख हुआ है, जिससे पीडित होकर अत्यन्त कष्ट के साथ रेवती का मरण हुआ।

अलसक आमाशय तथा उदर सम्बन्धी रोगो में भीषण रोग है। अष्टागहृदय में मात्राशितीय अध्याय में इसका वर्णन है। वहा लिखा है—

"दुर्बल, मन्द अग्निवाले, मल-मूत्र आदि का वेग रोकने वाले व्यक्ति का वायु विमार्गगामी हो जाता है, वह पित्त और कफ को भी बिगाड देता है। वायु विकृत हो जाने से खाया हुआ अन्न

---

१. देखें सूत्र-सख्या २४६

आमाशय के भीतर ही कफ से रुद्ध हो कर अटक जाता है, अलसीभूत—आलस्ययुक्त—गतिशून्य हो जाता है, जिससे शल्य चुभने जैसी भयानक पीड़ा उठती है, तीव्र, दु:सह शूल उत्पन्न हो जाते हैं, वमन और शौच अवरुद्ध रहते हैं, जिससे विकृत अन्न बाहर नही निकल पाता। अर्थात् आमाशय में कफरुद्ध अन्नपिण्ड जाम हो जाता है। उसे अलस या अलसक रोग कहा जाता है।"[1]

उसी प्रसंग में वहाँ दण्डकालसक की चर्चा है जो अलसक का भीषणतम रूप है, लिखा है—

"अत्यन्त दूषित या विकृत हुए दोष, दूषित आम—कच्चे रस से बधकर देह के स्रोतों को रोक देते हैं, तिर्यक्‌गामी हो जाते हैं, सारे शरीर को दंड की तरह स्तभित बना देते हैं—देह का फैलना-सिकुडना बन्द हो जाता है उसे दडकालसक कहा जाता है। वह असाध्य है, रोगी को शीघ्र ही समाप्त कर देता है।[2]

माधवनिदान में भी अजीर्ण निदान के प्रसग मे अलसक की चर्चा है। वहा लिखा है—

"जिस रोग में कुक्षि या आमाशय बधा सा रहे अर्थात् आफरा आ जाय, खिचावट सी बनी रहे, इतनी पीड़ा हो कि आदमी कराहने लगे, पवन का वेग नीचे की ओर न चल कर ऊपर आमाशय की ओर दौड़े, शौच व अपानवायु बिलकुल रुक जाय, प्यास लगे, डकारे आए, उसे अलसक कहते हैं।"[3]

अष्टागहृदय तथा माधवनिदान के बताए लक्षणो से स्पष्ट है कि अलसक बडा कष्टकर रोग है।

---

१. विशेषाद् दुबलस्याऽल्पवह्ने वेंगविधारिण ।
पीडित मारुतेनान्न श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ॥
अलस क्षोभित दोषै शल्यत्वेनैव सस्थितम् ।
शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्दतीसारवर्जितान् ॥
सोऽलस

दुर्बलत्वादियुक्तस्य यन्मारुतेन विशेषादन्न पीडितमन्तराऽऽमाशयमध्य एव श्लेष्मणा रुद्धमलसीभूत, तथा दोषै क्षोभितमाकुलितमत एवाऽतिपीडाकारित्वाच्छल्यरूपत एव स्थित, तीव्रान् दु सहान् शूलादीन् छर्द्यादिवर्जितान् कुरुते। छर्दतीसाराभ्या विसूचिकोक्ता। सोऽलससज्ञो रोग। दुर्बलो ह्यनुपचितधातु, स न कदाचिदाहार सोढु शक्त·। अल्पाग्नेश्चाहार सम्यङ् न जीर्यति। यतो वेगधारणशीलस्य प्रतिहतो वायुर्विमार्गग पित्तकफावपि विमार्गगौ कुरुत इत्येतद्विशेषेण निर्देश.।

अष्टागहृदय ७ १०, ११ टीकासहित

२. . अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टाऽऽमबद्धखा ।
यान्तस्तिर्यक्तनु सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत् ॥
अष्टाङ्गहृदय ८ १२

३. कुक्षिराहन्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति ।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि ।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्‌गारौ च यस्य तु ॥
माधवनिदान, अजीर्णनिदान १७, १८

रेवती का दुःखमय अन्त

२५६. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी एवं वयासी-रुट्ठे णं ममं महासयए समणोवासए हीणे णं ममं महासयए समणोवासए, अवज्झाया णं अहं महासयएणं समणोवासएणं, न नज्जइ णं, अहं केण वि कुमारेणं मारिज्जिस्सामि त्ति कट्टु भीया, तत्था, तसिया, उव्विग्गा, संजायभया सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय-जाव (मण-संकप्पा, चिंता-सोग-सागर-संपविट्ठा, करयल-पल्हत्थमुहा, अट्ट-ज्झाणोवगया, भूमिगय-दिट्ठिया) झियाइ।

श्रमणोपासक महाशतक के यो कहने पर रेवती अपने आप से कहने लगी—श्रमणोपासक महाशतक मुझ पर रुष्ट हो गया है, मेरे प्रति उसमें दुर्भावना उत्पन्न हो गई है, वह मेरा बुरा चाहता है, न मालूम मैं किस बुरी मौत से मार डाली जाऊ। यों सोचकर वह भयभीत, त्रस्त, व्यथित, उद्विग्न होकर, डरती-डरती धीरे-धीरे वहाँ से निकली, घर आई। उसके मन में उदासी छा गई, (वह चिन्ता और शोक के सागर में डूब गई, हथेली पर मुह रखे, आर्तध्यान में खोई हुई, भूमि पर दृष्टि गड़ाए) व्याकुल होकर सोच में पड़ गई।

२५७. तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्तरत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्टदुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना।

तत्पश्चात् रेवती सात रात के भीतर अलसक रोग से पीडित हो गई। व्यथित, दुःखित तथा विवश होती हुई वह अपना आयुष्य पूरा कर प्रथम नारकभूमि रत्नप्रभा मे लोलुपाच्युत नामक नरक में चौरासी हजार वर्ष के आयुष्य वाले नैरयिको में नारक रूप मे उत्पन्न हुई।

गौतम द्वारा भगवान का प्रेरणा-सन्देश

२५८. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं जाव[1] परिसा पडिगया।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। समवसरण हुआ। परिषद् जुड़ी, धर्म-देशना सुन कर लौट गई।

२५९. गोयमा! इ समणे भगवं महावीरे एवं वयासी— एवं खलु गोयमा! इहेव रायगिहे नयरे ममं अंतेवासी महासयए नामं समणोवासए पोसह-सालाए अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणाए, झूसिय-सरीरे, भत्तपाण-पडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ।

श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित कर कहा—गौतम! यही राजगृह नगर में मेरा अन्तेवासी—अनुयायी महाशतक नामक श्रमणोपासक पोषधशाला मे अन्तिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना में लगा हुआ, आहार-पानी का परित्याग किए हुए मृत्यु की कामना न करता हुआ, धर्माराधना में निरत है।

---

१. देखें सूत्र-सख्या ११

२६०. तए णं तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव (लुलिया, विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं) विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसहसाला, जेणेव महासयए, तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव (-जणणाइं, सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं) एवं वयासी, तहेव जाव[1] दोच्चंपि, तच्चंपि एवं वयासी ।

घटना यो हुई—महाशतक की पत्नी रेवती शराब के नशे मे उन्मत्त, (लडखड़ाती हुई, बाल बिखेरे, बार-बार अपना उत्तरीय फेंकती हुई) पोषधशाला में महाशतक के पास आई । (बार-बार मोह तथा उन्माद जनक कामोद्दीपक, कटाक्ष आदि हावभाव प्रदर्शित करती हुई) श्रमणोपासक महाशतक से विषय-सुख सम्बन्धी वचन बोली । उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा ।

२६१. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी—जाव[2] उववज्जिहिसि, नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-) झूसिय-सरीरस्स, भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, अणिट्ठेहिं, अकंतेहिं, अप्पिएहिं, अमणुण्णेहिं, अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए । तं गच्छ णं, देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि—नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स,) भत्त-पाण-पडियाइक्खियस्स परो संतेहिं जाव (तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, अणिट्ठेहिं, अकंतेहिं, अप्पिएहिं, अमणुण्णेहिं, अमणामेहिं वागरणेहिं) वागरित्तए । तुमे य णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया । तं णं तुमं एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव[3] जहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि ।

अपनी पत्नी रेवती द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यो कहे जाने पर श्रमणोपासक महाशतक को क्रोध आ गया । उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया, प्रयोग कर उपयोग लगाया । अवधिज्ञान से जान कर रेवती से कहा—(मौत को चाहने वाली रेवती ! तू सात रात के अन्दर अलसक नामक रोग से पीडित होकर, व्यथित, दु:खित तथा विवश होती हुई, आयुकाल पूरा होने पर अशान्तिपूर्वक मर कर नीचे प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा मे लोलुपाच्युत नामक नरक मे चौरासी हजार वर्ष के आयुष्य वाले नैरयिको में उत्पन्न होगी ।)

गौतम ! सत्य, तत्त्वरूप—यथार्थ या उपचाररहित, तथ्य—अतिशयोक्ति या न्यूनोक्तिरहित, सद्भूत—जिनमे कही हुई बात सर्वथा विद्यमान हो, ऐसे वचन भी यदि अनिष्ट—जो इष्ट न हों अकान्त—जो सुनने में अकमनीय या असुन्दर हो, अप्रिय—जिन्हे सुनने से मन मे अप्रीति हो, अमनोज्ञ—जिन्हे मन न बोलना चाहे, न सुनना चाहे, अमन.आप—जिन्हे मन न सोचना चाहे, न स्वीकार करना चाहे—ऐसे हो तो अन्तिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना में लगे हुए, अनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए उन्हें बोलना कल्पनीय—धर्मविहित नही है । इसलिए देवानुप्रिय ! तुम श्रमणोपासक महाशतक के पास जाओ और उसे कहो कि अन्तिम मारणान्तिक

---

१. देखें सूत्र-सख्या २५४

२. देखें सूत्र-सख्या २५५

३ देखें सूत्र-सख्या ८४

सलेखना की आराधना में लगे हुए, अनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए सत्य, (तत्त्वरूप, तथ्य, सद्भूत) वचन भी यदि अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, मन प्रतिकूल हो तो बोलना कल्पनीय नही है। देवानुप्रिय ! तुमने रेवती को सत्य किन्तु अनिष्ट वचन कहे। इसलिए तुम इस स्थान की—धर्म के प्रतिकूल आचरण की आलोचना करो, यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार करो।

२६२. तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे, जेणेव महासयए समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ।

भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन 'आप ठीक फरमाते हैं' यों कह कर विनयपूर्वक सुना। वे वहा से चले। राजगृह नगर के बीच से गुजरे, श्रमणोपासक महाशतक के घर पहुंचे, उसके पास गए।

२६३. तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव[1] हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ।

श्रमणोपासक महाशतक ने जब भगवान् गौतम को आते देखा तो वह हर्षित एव प्रसन्न हुआ। उन्हे वदन—नमस्कार किया।

२६४. तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स भत्त-पाण-पडियाइ-क्खियस्स परो संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, अणिट्ठेहिं, अकंतेहिं, अप्पिएहिं, अमणुण्णेहिं, अमणामेहिं वागरणेहिं) वागरित्तए। तुमे णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव[2] वागरिया, तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव[3] पडिवज्जाहि।

भगवान् गौतम ने श्रमणोपासक महाशतक से कहा—देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा आख्यात, भाषित, प्रज्ञप्त एव प्ररूपित किया है—कहा है—(देवानुप्रिय ! अन्तिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना में लगे हुए, अनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए सत्य, तत्त्वरूप, तथ्य, सद्भूत वचन भी यदि अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ तथा मन के प्रतिकूल हों तो उन्हे बोलना कल्पनीय नही है) देवानुप्रिय ! तुम अपनी पत्नी रेवती के प्रति ऐसे वचन बोले, इसलिए तुम इस स्थान की—धर्म के प्रतिकूल आचरण की आलोचना करो प्रायश्चित्त स्वीकार करो।

महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त

२६५. तए णं से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव[4] अहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ।

---

१. देखे सूत्र-सख्या १२

२. देखें सूत्र-सख्या २६१

३ देखें सूत्र-सख्या ८४

४ देखें सूत्र-सख्या ८७

तब श्रमणोपासक महाशतक ने भगवान् गौतम का कथन 'आप ठीक फरमाते हैं' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया, अपनी भूल की आलोचना की, यथोचित प्रायश्चित्त किया।

२६६. तए णं से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् भगवान् गौतम श्रमणोपासक महाशतक के पास से रवाना हुए, राजगृह नगर के बीच से गुजरे, जहा श्रमण भगवान् महावीर थे, वहा आए। भगवान् को वदन—नमस्कार किया। वदन—नमस्कार कर संयम एव तप से आत्मा को भावित करते हुए धर्माराधना मे लग गए।

२६७. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर, किसी समय राजगृह नगर से प्रस्थान कर अन्य जनपदो मे विहार कर गए।

२६८. तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील जाव[1] भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासय-परियायं पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिंसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[2]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ॥

यों श्रमणोपासक महाशतक ने अनेक विध व्रत, नियम आदि द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मशुद्धि की। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक—श्रावक-धर्म का पालन किया। ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की भली भांति आराधना की। एक मास की सलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मरणकाल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह सौधर्म देवलोक में अरुणावतसक विमान मे देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहा आयु चार पल्योपम की है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

॥ निक्षेप[3] ॥

॥ सातवे अग उपासकदशा का आठवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ देखें सूत्र-सख्या १२२

२. एव खलु जम्बू ! समणेण जाव सपत्तेण अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

३. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने आठवे अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हे बतलाया है।

नौवां अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रावस्ती नगरी में नन्दिनीपिता नामक एक समृद्धिशाली गाथापति था। उसकी सम्पत्ति बारह करोड स्वर्ण-मुद्राओं में थी, जिनका तीसरा भाग सुरक्षित पूंजी के रूप में अलग रखा हुआ था, उतना ही व्यापार में लगा था तथा उतना ही घर के वैभव—साज-सामान आदि में लगा हुआ था। उसके दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था।

नन्दिनीपिता एक सम्पन्न, सुखी गृहस्थ का जीवन बिता रहा था। एक सुन्दर प्रसंग बना भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। श्रद्धालु मानव-समुदाय दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। नन्दिनीपिता भी गया। भगवान् की धर्म-देशना सुनी। अन्त: प्रेरित हुआ। गाथापति आनन्द की तरह उसने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

नन्दिनीपिता अपने व्रतमय जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करता गया। यो चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसका मन धर्म में रमता गया। उसने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों से मुक्ति लेना उचित समझा। अपने स्थान पर ज्येष्ठ पुत्र को मनोनीत किया। स्वयं धर्म की आराधना में जुट गया। शुभ संयोग था, उसकी उपासना में किसी प्रकार का उपसर्ग या विघ्न नहीं हुआ उसने बीस वर्ष तक सम्यक् रूप में श्रावक-धर्म का पालन किया। यों आनन्द की तरह साधनामय जीवन जीते हुए अन्त में समाधि-मरण प्राप्त कर वह सौधर्मकल्प में अरुणगव विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

नौवां अध्ययन : नन्दिनीपिता

गाथापति नन्दिनीपिता

२६९. नवमस्स उक्खेवो[1] । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी । कोट्ठए चेइए । जियसत्तू राया ।

तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे । चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दसगो-साहस्सिएणं वएणं । अस्सिणी भारिया ।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक नौवे अध्ययन का प्रारम्भ यो है—

जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोष्ठक नामक चैत्य था । जितशत्रु वहाँ का राजा था ।

श्रावस्ती नगरी में नन्दिनीपिता नामक समृद्धिशाली गाथापति निवास करता था । उसकी चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राए सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रक्खी थी, चार करोड स्वर्ण-मुद्राए व्यापार मे लगी थी तथा चार करोड स्वर्ण-मुद्राए घर की साधन-सामग्री में लगी थी । उसके चार गोकुल थे । प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गाये थी । उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था ।

व्रत : आराधना

२७०. सामी समोसढे । जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ । सामी बहिया विहरइ ।

भगवान् महावीर श्रावस्ती मे पधारे । समवसरण हुआ । आनन्द की तरह नन्दिनीपिता ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया । भगवान् अन्य जनपदों में विहार कर गए ।

२७१. तए णं से नंदिणीपिया समणोवासए जाव[3] विहरइ ।

नन्दिनीपिता श्रावक-धर्म स्वीकार कर श्रमणोपासक हो गया, धर्माराधनापूर्वक जीवन बिताने लगा ।

साधनामय जीवन : अवसान

२७२. तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सीलव्वय-गुण जाव[4] भावेमाणस्स

---

१. जइ ण भंते ! समणेण भगवया जाव सपत्तेण उवासगदसाण अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स ण भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के आठवें अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होने नौवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहे) ।

३ देखे सूत्र-सख्या ६४

४. देखें सूत्र-सख्या १२२

चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ। धम्म-पण्णत्ति। बीसं वासाइं परियागं। नाणत्तं अरुणगवे विमाणे उववाओ महाविदेहे वासे सिज्झिहिए।

निक्खेवओ[1]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं नवमं अज्झयणं समत्तं ।।

तदनन्तर श्रमणोपासक नन्दिनीपिता को अनेक प्रकार से अणुव्रत, गुणव्रत आदि की आराधना द्वारा आत्मभावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसने आनन्द आदि की तरह अपने ज्येष्ठ पुत्र को पारिवारिक एव सामाजिक उत्तरदायित्व सौंपा। स्वय धर्मोपासना में निरत रहने लगा।

नन्दिनीपिता ने बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया। आनन्द आदि से इतना अन्तर है—देह-त्याग कर वह अरुणगव विमान मे उत्पन्न हुआ। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

"निक्षेप"[2]

"सातवे अग उपासकदशा का नौवां अध्ययन समाप्त ।।

---

१. एव खलु जम्बू ! समणेण जाव सपत्तेण नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने नौवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हे बतलाया है।

दसवां अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रावस्ती में सालिहीपिता नामक एक धनाढ्य तथा प्रभावशाली गाथापति था । उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था । नन्दिनीपिता की तरह सालिहीपिता की सम्पत्ति भी बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं में थी, जिसका एक भाग सुरक्षित पूंजी के रूप में रखा था तथा दो भाग बराबर-बराबर व्यापार एवं घर के वैभव—साज-सामान आदि में लगे थे ।

एक बार भगवान् महावीर का श्रावस्ती में पदार्पण हुआ । श्रद्धालु जनों में उत्साह छा गया । भगवान् के दर्शन एवं उपदेश-श्रवण हेतु वे उमड पड़े । सालिहीपिता भी गया । भगवान् के उपदेश से उसे अध्यात्म-प्रेरणा मिली । उसने गाथापति आनन्द की तरह श्रावक-धर्म स्वीकार किया । चौदह वर्ष के बाद उसने अपने आपको अधिकाधिक धर्माराधना में जोड देने के लिए अपना लौकिक उत्तरदायित्व ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया, स्वयं उपासना में लग गया । उसने श्रावक की ११ प्रतिमाओं की यथाविधि उपासना की ।

सालिहीपिता की आराधना-उपासना में कोई उपसर्ग नही आया । अन्त में उसने समाधि-मरण प्राप्त किया । सौधर्म कल्प में अरुणकील विमान मे वह देव रूप में उत्पन्न हुआ ।

दसवां अध्ययन : सालिहीपिता

गाथापति सालिहीपिता

२७३. दसमस्स उक्खेवो[1]। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया।

तत्थ णं सावत्थीए नयरीए सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते। चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। फग्गुणी भारिया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्‌घातपूर्वक दसवें अध्ययन का प्रारम्भ यों है —

जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु वहां का राजा था।

श्रावस्ती नगरी मे सालिहीपिता नामक एक धनाढ्य एव दीप्त—दीप्तिमान्—प्रभावशाली गाथापति निवास करता था। उसकी चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थी, चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राए व्यापार में लगी थी तथा चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राए घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थी। उसके चार गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल मे दस-दस हजार गायें थी। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था।

सफल साधना

२७४. सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। जहा कामदेवो तहा जेट्ठं पुत्तं ठवेत्ता पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारस वि उवासग-पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एवं कामदेव-गमेणं नेयव्वं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमं अज्झयणं समत्तं ॥

भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। समवसरण हुआ। आनन्द की तरह सालिहीपिता ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। कामदेव की तरह उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व सौंपा। भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्मशिक्षा के अनुरूप स्वयं पोषधशाला में

---

१. जइ ण भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेण उवासगदसाण नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स ण भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के नवमे अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होने दसवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें)

उपासनानिरत रहने लगा। इतना ही अन्तर रहा—उसे उपासना में कोई उपसर्ग नहीं हुआ, पूर्वोक्त रूप में उसने ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं की निर्विघ्न आराधना की। उसका जीवन-क्रम कामदेव की तरह समझना चाहिए। देह-त्याग कर वह सौधर्म-देवलोक में अरुणकील विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। उसकी आयुस्थिति चार पल्योपम की है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

"सातवें अंग उपासकदशा का दसवा अध्ययन समाप्त"

उपसंहार

२७५. दसण्ह वि पण्णरसमे संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता ।
दसण्ह वि वीसं वासाइं समणोवासय-परियाओ ।।

उपसंहार

दसों ही श्रमणोपासको को पन्द्रहवे वर्ष में पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो कर धर्म-साधना में निरत होने का विचार हुआ । दसों ही ने बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया ।

२७६. एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव[1] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ।।

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने सातवें अग उपासकदशा के दसवे अध्ययन का यह अर्थ—भाव प्रज्ञप्त—प्रतिपादित किया ।

२७७. उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुय-खंधो । दस अज्झयणा एक्कसरगा, दससु चेव दिवसेसु उद्दिस्संति । तओ सुय-खंधो समुद्दिस्सइ । अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अंगं तहेव ।

।। उवासगदसाओ समत्ताओ ।।

सातवे अग उपासकदशा में एक श्रुत-स्कन्ध है । दस अध्ययन हैं । उनमें एक सरीखा स्वर—पाठ-शैली है, गद्यात्मक शैली मे ये ग्रथित हैं । इसका दस दिनो में उद्देश किया जाता है । तत्पश्चात् दो दिनो मे समुद्देश—सूत्र को स्थिर और परिचित करने का उद्देश किया जाता है और अनुज्ञा-समति दी जाती है । इसी प्रकार अंग का समुद्देश और अनुमति समझना चाहिए ।

"उपासकदशा सूत्र समाप्त हुआ"

---

१. देखें सूत्र-सख्या २

संगह-गाहाओ[1]

वाणियगामे चंपा दुवे य बाणारसीए नयरीए ।
आलभिया य पुरवरी कंपिल्लपुर च बोद्धव्व ।। १ ।।
पोलास रायगिह सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे ।
एए उवासगाण नयरा खलु होन्ति बोद्धव्वा ।। २ ।।
सिवनद-भद्द-सामा धन्न-बहुल-पूस-अग्गिमित्ता य ।
रेवइ-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाइ ।। ३ ।।
ओहिण्णाण-पिसाए माया वाहि-धण-उत्तरिज्जे य ।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ।। ४ ।।
अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह-अरुणकत-सिट्ठे य ।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय वडिसे गवे कीले ।। ५ ।।
चाली सट्ठी असीई सट्ठि सट्ठी य सट्ठि दस सहस्सा ।
असिई चत्ता चत्ता एए वइयाण य सहस्साण ।। ६ ।।
बारस अट्ठारस चउवीसं तिविह अट्ठरसइ नेय ।
धन्नेण ति-चोव्वीस बारस बारस य कोडीओ ।। ७ ।।
उल्लण-दतवण-फले अब्भिगणुव्वट्टणे सिणाणे य ।
वत्थ-विलेवण-पुप्फे आभरण धूव-पेज्जाई ।। ८ ।।
भक्खोयण-सूय-घए सागे माहुर-जेमणऽन्नपाणे य ।
तबोले इगवीस आणदाईण अभिग्गहा ।। ९ ।।
उड्ढ सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवते ।
पचसए तह तिदिसिं ओहिण्णाण दसगणस्स ।। १० ।।
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-पडिमा-अबभ-सच्चित्ते ।
आरभ-पेस-उद्दिट्ठ-वज्जए समणभूए य ।। ११ ।।
इक्कारस पडिमाओ वीस परियाओ अणसण मासे ।
सोहम्मे चउपलिया महाविदेहम्मि सिज्झिहिइ ।। १२ ।।

उवासगदसाओ समत्ताओ

---

१. ये गाथाए प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल पाठ का भाग नही हैं । ये पूर्वाचार्यकृत गाथाए हैं, जिनमे ग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय है ।

संग्रह-गाथाओं का विवरण

प्रस्तुत सूत्र मे वर्णित उपासक निम्नांकित नगरों में हुए—

श्रमणोपासक		नगर
आनन्द	—	वाणिज्यग्राम
कामदेव	—	चम्पा
चुलनीपिता	—	वाराणसी
सुरादेव	—	वाराणसी
चुल्लशतक	—	आलभिका
कुंडकौलिक	—	काम्पिल्यपुर
सकडालपुत्र	—	पोलासपुर
महाशतक	—	राजगृह
नन्दिनीपिता	—	श्रावस्ती
सालिहीपिता	—	श्रावस्ती

श्रमणोपासको की भार्याओ के नाम निम्नांकित थे—

श्रमणोपासक		भार्या
आनन्द	—	शिवनन्दा
कामदेव	—	भद्रा
चुलनीपिता	—	श्यामा
सुरादेव	—	धन्या
चुल्लशतक	—	बहुला
कुंडकौलिक	—	पूषा
सकडालपुत्र	—	अग्निमित्रा
महाशतक	—	रेवती आदि तेरह
नन्दिनीपिता	—	अश्विनी
सालिहीपिता	—	फाल्गुनी

श्रमणोपासको के जीवन की विशेष घटनाए निम्नांकित थी

श्रमणोपासक		विशेष घटना
आनन्द	—	अवधिज्ञान के विस्तार के सम्बन्ध मे गौतम स्वामी का सशय, भगवान् महावीर द्वारा समाधान ।
कामदेव	—	पिशाच आदि के रूप में देवोपसर्ग, श्रमणोपासक की अन्त तक दृढता ।

चुलनीपिता	—	देव द्वारा मातृवध की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
सुरादेव	—	देव द्वारा सोलह भयंकर रोग उत्पन्न कर देने की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
चुल्लशतक	—	देव द्वारा स्वर्ण-मुद्राए आदि सम्पत्ति बिखेर देने की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
कुंडकौलिक	—	देव द्वारा उत्तरीय एव अगूठी उठा कर गोशालक मत की प्रशंसा, कुडकौलिक की दृढता, नियतिवाद का खण्डन, देव का निरुत्तर होना ।
सकडालपुत्र	—	व्रतशील पत्नी अग्निमित्रा द्वारा भग्न-व्रत पति को पुनः धर्मस्थित करना ।
महाशतक	—	व्रत-हीन रेवती का उपसर्ग, कामोद्दीपक व्यवहार, महाशतक की अविचलता ।
नन्दिनीपिता	—	व्रताराधना में कोई उपसर्ग नही हुआ।
सालिहीपिता	—	व्रताराधना में कोई उपसर्ग नही हुआ ।

श्रमणोपासक देह त्याग कर निम्नांकित विमानो में उत्पन्न हुए—

श्रमणोपासक		विमान
आनन्द	—	अरुण
कामदेव	—	अरुणाभ
चुलनीपिता	—	अरुणप्रभ
सुरादेव	—	अरुणाकान्त
चुल्लशतक	—	अरुणश्रेष्ठ
कुडलौलिक	—	अरुणध्वज
सकडालपुत्र	—	अरुणभूत
महाशतक	—	अरुणावतस
नन्दिनीपिता	—	अरुणगव
सालिहीपिता	—	अरुणकील

श्रमणोपासकों के गोधन की संख्या निम्नांकित रूप मे थी—

श्रमणोपासक		गायों की संख्या
आनन्द	—	४० हजार
कामदेव	—	६० ,,
चुलनीपिता	—	८० ,,
सुरादेव	—	६० ,,
चुल्लशतक	—	६० ,,

कुंडकौलिक	—	६० हजार
सकडालपुत्र	—	१० ,,
महाशतक	—	८० ,,
नन्दिनीपिता	—	४० ,,
सालिहीपिता	—	४० ,,

श्रमणोपासकों की सम्पत्ति निम्नांकित स्वर्ण-मुद्राओं में थी—

श्रमणोपासक		स्वर्ण-मुद्राएं
आनन्द	—	१२ करोड़
कामदेव	—	१८ ,,
चुलनीपिता	—	२४ ,,
सुरादेव	—	१८ ,,
चुल्लशतक	—	१८ ,,
कुंडकौलिक	—	१८ ,,
सकडालपुत्र	—	३ ,,
महाशतक	—	कांस्य-परिमित २४ ,,
नन्दिनीपिता	—	१२ ,,
सालिहीपिता	—	१२ ,,

आनन्द आदि श्रमणोपासको ने निम्नाकित २१ बातो मे मर्यादा की थी—

१ शरीर पोछने का तौलिया, २. दतौन, ३. केश एव देह-शुद्धि के लिए फल-प्रयोग, ४. मालिश के तैल, ५ उबटन, ६ स्नान के लिए पानी, ७ पहनने के वस्त्र, ८. विलेपन, ९. पुष्प, १०. आभूषण, ११ धूप, १२. पेय, १३. भक्ष्य-मिठाई, १४. ओदन—चावल, १५. सूप—दाले, १६. घृत, १७. शाक, १८. माधुरक—मधु पेय, १९. व्यजन—दहीबडे, पकोडे आदि, २० पीने का पानी, २१. मुखवास—पान तथा उसमे डाले जाने वाले सुगन्धित मसाले।

इन दस श्रमणोपासको मे आनन्द तथा महाशतक को अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसकी मर्यादा या विस्तार निम्नांकित रूप मे था—

आनन्द —पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा मे लवण समुद्र मे पांच-पाच सौ योजन तक, उत्तर दिशा में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-दिशा में सौधर्म देवलोक तक, अधोदिशा मे प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक स्थान तक।

महाशतक—पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में लवण-समुद्र मे एक-एक हजार योजन तक, उत्तर दिशा में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत तक, अधोदिशा में प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक स्थान तक।[1]

प्रत्येक श्रमणोपासक ने ११-११ प्रतिमाएं स्वीकार की था, जो निम्नांकित हैं—

---

१. महाशतक के अवधिज्ञान के विस्तार का गाथा में उल्लेख नही है।

१. दर्शन-प्रतिमा, २. व्रत-प्रतिमा, ३. सामायिक-प्रतिमा, ४. पोषध-प्रतिमा, ५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा, ६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा, ७. सचित्ताहार-वर्जन-प्रतिमा, ८ स्वयं आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा, ९. भृतक-प्रेष्यारम्भ-वर्जन-प्रतिमा, १०. उद्दिष्ट-भक्त-वर्जन-प्रतिमा, ११. श्रमणभूत-प्रतिमा ।

इन सभी श्रमणोपासको ने २०-२० वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, अन्त में एक महीने की संलेखना तथा अनशन द्वारा देह-त्याग किया, सौधर्म देवलोक मे चार-चार पल्योपम की आयु वाले देवो के रूप मे उत्पन्न हुए । देव-भव के अनन्तर सभी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगे, मोक्ष-लाभ करेंगे ।

।। उपाशकदशा समाप्त ।।

परिशिष्ट १ : शब्दसूची

परिशिष्ट २ : प्रयुक्त-ग्रन्थ-सूची

अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना आदि के सन्दर्भ में व्यवहृत

ग्रन्थों की सूची

अनुयोगद्वारसूत्र

अभिधानराजेन्द्र कोष

अष्ट प्राभृत : श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

अष्टाङ्गहृदयम्, सटीकम्

[ऋषिकल्पश्रीवाग्भटप्रणीतम्, विद्वद्वरश्रीमदरुणदत्तकृता सर्वाङ्गसुन्दराख्या टीका, श्रीमदाचार्यमौद्‌गल्यकृता मौद्‌गल्यटिप्पणी च,
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, सैदमिट्ठा स्ट्रीट, लाहौर, सन् १९३३ ई०]

अगसुत्ताणि ३

[सपादक : मुनि श्री नथमलजी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं
विक्रमाब्द २०३१]

अगुत्तरनिकाय

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
खण्ड १ : इतिहास और परम्परा

[लेखक : मुनि श्री नगराजजी डी० लिट्०
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१
प्रथम संस्करण : सन् १९६९ ई०]

आचारांग-चूर्णि

आवश्यक-निर्युक्ति

THE UTTARADHYAYANA SUTRA

[Translated from Prakrit by Hermann Jacobi
OXFORD, at the CLARENDON PRESS, 1895]

उत्तराध्ययनसूत्रम्, संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्,

[अनुवादक : जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, वि० १९९६]

उपासकदशासूत्रम्
[संपादक : डॉ० ए० एफ० रुडोल्फ हार्नले
प्रकाशक : बगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, प्रथम सस्करण : १८९० ई०]

उपासकदशासूत्र
[संपादक, अनुवादक : बालब्रह्मचारी प० मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज
प्रकाशक : राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद-सिकदराबाद जैन सघ, हैदराबाद (दक्षिण), वीराब्द २४४२-२४४६]

[श्रीमद् उपासकदशागम्, श्रीमद् अभयदेवाचार्यविहितविवरणयुतम्
प्रकाशक : आगमोदय समिति महेसाणा, प्रथम सस्करण १९२९ ई०]

उपासकदशागसूत्रम्
सस्कृत-हिन्दी-गुजराती-टीकासमेतम्
[वृत्तिरचयिता . जैन शास्त्राचार्यपूज्य श्री घासीलालजी महाराज
प्रकाशक . श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सघ, कराची, प्रथम सस्करण . १९३६ ई०]

श्रीउपासकदशागसूत्रम्
सस्कृतच्छाया-शब्दार्थ-भावार्थोपेतम्
हिन्दीभाषाटीकासहित च
[अनुवादक · जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक . आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना
प्रथम सस्करण . १९६४ ई०]

उपासकदशाग
[अनुवादक, सपादक . डॉ० जीवराज घेला भाई दोषी अहमदाबाद
देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा]

श्री उपासकदशागसूत्र
[अनुवादक · वी० घीसूलाल पितलिया
प्रकाशक श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म० प्र०)
प्रथम सस्करण . विक्रम सवत् २०३४]

उववाईसूत्र
[सपादक, अनुवादक . बालब्रह्मचारी प० मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज
प्रकाशक : राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, सिकदराबाद जैन सघ, हैदराबाद (दक्षिण) वीराब्द २४४२-२४४६]

श्री उववाईसूत्र, श्री अभयदेव सूरिकृत टीका तथा श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत बालावबोध सहित
[प्रकाशक : श्रीयुक्त राय धनपतिसिंह बहादुर, जैन बुक सोसायटी, कलकत्ता]

उववाइय सुत्त
[अनुवादक : आत्मार्थी प० मुनि श्री उमेशचन्द्रजी महाराज 'अणु'
प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (मध्य प्रदेश), प्रथम सस्करण : १९६२ ईसवी]

उवासगदसाओ
मूल अने श्री अभयदेवसूरि विरचित टीकाना अनुवाद सहित
[अनुवादक अने प्रकाशक . प० भगवानदास हर्षचन्द्र, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत
प्रथम संस्करण . विक्रम संवत् १९९२]
देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा

कल्प सूत्र

कुमारसभव महाकाव्य
[महाकवि कालिदास विचरित]

चरकसहिता

छान्दोग्योपनिषद्

जयध्वज
[लेखक · गुलाबचन्द नानकचन्द सेठ,
प्रकाशक . श्री जयध्वज प्रकाशन समिति, ९८ मिण्ट स्ट्रीट, मद्रास-१]

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र

जीवाजीवाभिगम सूत्र

जैन आगम
[लेखक · प० श्री दलसुख मालवणिया
प्रकाशक : जैन संस्कृति सशोधन मण्डल, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५]

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
[लेखक . डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, सन् १९६५]

जैन दर्शन
[लेखक · प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य
प्रकाशक : श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी, प्रथम संस्करण . सन् १९५५ ई०]

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, पहला भाग
[लेखक : मुनि श्री नथमलजी
प्रकाशक : मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, १/४ सी, खगेन्द्र चटर्जी रोड, काशीपुर, कलकत्ता-२, प्रथम संस्करण : वि० सं० २०१७]

जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग
[लेखक एवं निर्देशक : आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज,
प्रकाशक . जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान)
प्रथम संस्करण : सन् १९७१ ई०]

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश
[क्षुल्लक जैनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६,
प्रथम संस्करण : १९७०-७३]

तत्त्वार्थसूत्र : विवेचना सहित
[विवेचनकर्ता : पं० सुखलालजी सघवी
प्रकाशक : जैन संस्कृति सशोधन मण्डल,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस-५, द्वितीय संस्करण : १९५२ ई०]

तैत्तिरीयोपनिषद्
दशवैकालिक-वृत्ति
दीघनिकाय
[सुमगलविलासिनी टीका]
धम्मपद
नायाधम्मकहाओ
पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका
पचतन्त्र
प्रज्ञापना सूत्र
प्रमाणनयतत्त्वालोक
प्रवचनसारोद्धार
पाइअसद्दमहण्णवो
पाणिनीय अष्टाध्यायी
पातजल योगसूत्र
प्राकृत-सर्वस्व मार्कण्डेय
प्राकृत साहित्य
(डॉ० हीरालाल जैन)

प्राकृत साहित्य का इतिहास
[लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, सन् १९६१]

ब्रह्मवैवर्तपुराणम् द्वितीयो भाग:
[प्रकाशक : राधाकृष्ण मोर ५, क्लाइव रो, कलकत्ता, सन् १९५५ ई०]

भगवतीसूत्र

भगवती सूत्र : आचार्य अभयदेव सूरिकृत टीका

भावप्रकाश : भाव मिश्र

भाषा-विज्ञान
[लेखक : डॉ० भोलानाथ तिवारी
प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद
तृतीय सस्करण : सन् १९६१ ई०]

मज्झिमनिकाय

मनुस्मृति

महाभारत : प्रथम खण्ड (आदि पर्व, सभा पर्व)
महाभारत : तृतीय खण्ड (उद्योग पर्व, भीष्म पर्व)
महाभारत : पञ्चम खण्ड (शान्ति पर्व)
[अनुवादक . प० रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर

माधवनिदान
रघुवंशमहाकाव्य (महाकवि कालिदास विरचित)
शार्ङ्गधरसंहिता
शृङ्गारशतक : भर्तृहरि
सकडालपुत्र : श्रावक
[व्याख्याता : श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज
प्रकाशक : पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय का श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम, तृतीय सस्करण विक्रम संवत् २००५]

समवायाङ्ग : सानुवाद, सपरिशिष्ट
[संपादक : मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स न० ११४१ दिल्ली-७
प्रथम संस्करण : सन् १९६६ ई०]

संक्षिप्त प्रसार : क्रमदीश्वर

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर
[सपादक : रामचन्द्र वर्मा
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी षष्ठ सस्करण : सन् १९५८ ईसवी]

सयुत्तनिकाय

SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY
[Sir Monier Monier-Williams, M A.; K C I.E., OXFORD, at the CLARENDON PRESS]

SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY
[Vaman Shivram Apte, M. A.]

संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा
[सपादक : मुनि श्री दुलहराजजी, डॉ० छगनलालजी शास्त्री, डॉ० प्रेमसुमन जैन
प्रकाशक : कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति, छापर (राजस्थान), सन् १९७७ ई०]

सस्कृत-हिन्दी कोश
[लेखक : वामन शिवराम आप्टे
प्रकाशक · मोतीलाल बनारसीदास, बगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, सन् १९६६ ई०]

साख्यतत्त्वकौमुदी

सिद्धहेमशब्दानुशासन

सुत्तनिपात

सुश्रुतसहिता
[महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता, श्री डल्हणाचार्यविरचियता निबन्धसग्रहाख्यव्याख्यया, निदानस्थानस्य श्री गयदासाचार्यविरचियता न्यायचन्द्रिकाख्यपञ्जिकाव्याख्यया च समुल्लसिता
प्रकाशक : पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णयसागर मुद्रणालय, २६-२८ कालबा देवी स्ट्रीट, बम्बई-२, शक संवत् १८६०]

सूत्रकृतांगसूत्र

सूत्रकृतांग वृत्ति

□

नोट—व्यवहृत ग्रन्थो मे केवल उन्ही के सपादन, प्रकाशन आदि का विवरण दिया गया है, जो आवश्यक प्रतीत हुआ।

—सम्पादक

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१ श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया, मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एम. सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५. श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचदजी सागरमलजी सचेती, मद्रास
४ श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३ श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेडता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११ श्री थानचदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचदजी बैद, राजनादगाव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४ श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचदजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचदजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६ श्री भंवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडता सिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७ श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६ श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री चोकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री धीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी मादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर

९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम

१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा

१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन

१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास

१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास

१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी

१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास

१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास

१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास

१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा

१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह

११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा

१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव

११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर

११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर

११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी

११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली

११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई

११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर

११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद

११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास

१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा

१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला

१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता

१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया

१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद

१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद

१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैनश्रावक संघ, बगड़ीनगर

१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा

१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास

१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर

१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□